भारतीय आर्थिक प्रशासन

भारतीय आर्थिक प्रशासन

[INDIAN ECONOMIC ADMINISTRATION]

लेखक

डा हरिश्चन्द्र शर्मा

कालिज आफ कामर्स, जयपुर

१९७१



साहित्य भवन, आगरा-३

प्रथम संस्करण : १९७१

मूल्य . आठ रुपया

प्रकाशक साहित्य भवन, हास्पिटल रोड, आगरा-३
मुद्रक कलात्मक मुद्रक, सिटी स्टेशन रोड, आगरा-३

भूमिका

राजस्थान विश्वविद्यालय पहला विश्वविद्यालय है जिसने डिग्री स्तर पर आर्थिक प्रशासन सरीखे नवीन किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय को पाठ्यक्रम मे सम्मिलित किया है। इस विषय पर हिन्दी में यह पहली पुस्तक है जिसमे पाठ्यक्रमानुसार ही विभिन्न समस्याओ का विवेचन करने की चेष्टा की गई है। पुस्तक की भाषा सरल एवं शैली रोचक एव प्रभावशाली रखने का प्रयत्न किया गया है। सभी प्रकार के तथ्य एव आँकडे नवीनतम दिये गये हैं और जटिल समस्याओं को सरल रूप मे प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है। आशा है पुस्तक विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

लेखक

विषय-सूची

१

आर्थिक प्रशासन के मूल तत्त्व

(ELEMENTS OF ECONOMIC ADMINISTRATION)

सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य की आवश्यकताओं में वृद्धि हुई है और आवश्यकताओं में वृद्धि के साथ उसकी समस्याओं में वृद्धि हुई है। प्राचीन काल के मनुष्य की बहुत कम आवश्यकताएँ थीं जिन्हें पूरा करने के लिए न तो बड़े-बड़े कारखानों की आवश्यकता थी, न माल बेचने के लिए बड़ी-बड़ी दुकानों की। यदि किसी व्यक्ति को १०-२० मील जाना होता तो वह पैदल ही चला जाता था या ऊँट, बैलगाड़ी अथवा घोड़े की सवारी का प्रयोग कर लेता था। खाने के लिए अनाज गाँव में उत्पन्न होता था और पहनने के लिए गाँव का जुलाहा वस्त्र बना लेता था। छोटे-छोटे ग्रामों या बस्तियों में लोग मिल-जुल कर रहते थे। यदि कोई झगड़ा होता तो ग्राम पंचायत या राजा से फैसला करवा लिया जाता जिसमें कोई देर नहीं लगती थी। इस प्रकार आर्थिक या राजनीतिक समस्याएँ बहुत साधारण थीं जिनका समाधान या निपटारा करने के लिए कोई खास प्रशासन या प्रबन्ध व्यवस्था करने की आवश्यकता नहीं थी।

ज्यों-ज्यों मनुष्य की आवश्यकताएँ बढ़ती गयीं, उन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए नये-नये कारखाने स्थापित किये गये, सड़कों और रेलों का निर्माण किया गया और बढ़ते हुए व्यापार के लिए मण्डियाँ स्थापित की गयीं तथा भुगतान के लिए बैंकों की स्थापना की गयी। इस प्रकार सरकारी और निजी सम्पत्ति का तेज़ी से निर्माण हुआ। इस सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए पुलिस, न्यायालय आदि अनेक विभागों की स्थापना की गयी। इस प्रकार प्रशासन की आवश्यकता और उसके क्षेत्र में निरन्तर वृद्धि हुई है।

प्रशासन का अर्थ

अब प्रश्न यह उठता है कि प्रशासन का क्या अर्थ है ?

प्रशासन शब्द का प्रायः चार अर्थों में प्रयोग किया जाता है :

(१) शासन सत्ता या शासन काल—यदि यह कहा जाय कि नेहरू प्रशासन ने भारत में आर्थिक नियोजन आरम्भ किया अथवा सुखाड़िया प्रशासन द्वारा राजस्थान में शिक्षा के विकास पर विशेष ध्यान दिया गया तो यहाँ प्रशासन का अर्थ अमुक व्यक्तियों के शासन काल या शासन सत्ता से है। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि अमुक प्राचार्य (Principal) अथवा कुलपति के प्रशासन में अमुक विद्यालय अथवा विश्वविद्यालय की बहुत उन्नति हुई।

(२) अध्ययन क्षेत्र या शाखा—प्रशासन शब्द का दूसरा अर्थ किसी अध्ययन क्षेत्र या शाखा या विभाग से लिया जाता है। आजकल प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में "लोक प्रशासन" (Public Administration) का अध्ययन एक अलग शाखा के रूप में किया जाता है। राजस्थान विश्वविद्यालय में "आर्थिक प्रशासन" का अध्ययन वाणिज्य शास्त्र की एक महत्त्वपूर्ण शाखा के रूप में होता है।

(३) विशेष सेवाएँ—कभी-कभी प्रशासन शब्द का प्रयोग किसी विशेष क्षेत्र की सेवाओं के वास्ते किया जाता है जैसे पुलिस (Police Administration), शिक्षा प्रशासन (Educational Administration), वित्तीय प्रशासन (Financial Administration) आदि जिनका तात्पर्य पुलिस, शिक्षा तथा वित्तीय सेवाओं से होता है।

(४) प्रबन्ध या व्यवस्था—इनसे पहले दिये गये तीनों अर्थों का प्रयोग विशेष कार्यों, विशेष सेवाओं या विशेष समस्याओं के लिए होता है किन्तु प्रशासन का सामान्य अर्थ है "प्रबन्ध" या "व्यवस्था"। किसी भी कार्य या क्षेत्र की व्यवस्था या संचालन को ही प्रशासन कहते हैं। यदि किसी विश्वविद्यालय में शिक्षा का स्तर ऊँचा हो, वहाँ अध्यापक तथा विद्यार्थी संतुष्ट हों और सारा काम नियम से हो रहा हो तो यही कहा जाता है कि उस विश्वविद्यालय का प्रशासन अच्छा है। इस प्रकार परिवार से लेकर सारे राष्ट्र तक की व्यवस्था या कार्य संचालन को ही प्रशासन कहा जाता है।

अतः प्रशासन का शुद्ध एवं सही अर्थ है कार्य संचालन या व्यवस्था जो परिवार, विद्यालय, उद्योग तथा देश सब पर लागू होता है।

आर्थिक प्रशासन क्या है ?

प्रशासन का अर्थ स्पष्ट करने के पश्चात् आर्थिक प्रशासन का अर्थ जानने में कोई कठिनाई नहीं होती। आर्थिक प्रशासन का अर्थ है देश की अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न अंगों का संचालन। प्रत्येक देश में अनेक प्रकार के छोटे बड़े उद्योग होते हैं, खेती की जाती है, माल का आयात-निर्यात किया जाता है, आवागमन तथा परिवहन के साधन (मोटर गाड़ियाँ, रेलें, हवाई जहाज तथा जलयान) होते हैं, अनेक वस्तुओं का क्रय-विक्रय अथवा लेन-देन होता है, बैंकों के माध्यम से रकमों का आदान-प्रदान होता है। इन सभी क्रियाओं के संचालन अथवा व्यवस्था को आर्थिक प्रशासन कहा जाता है।

आर्थिक प्रशासन की परिभाषा

प्रशासन की परिभाषा अनेक विद्वानों द्वारा दी गयी है किन्तु आर्थिक प्रशासन शिक्षा का एक सर्वथा नया क्षेत्र है जिसकी परिभाषा किसी विद्वान ने देने का प्रयत्न नहीं किया। अतः पहले प्रशासन की परिभाषा पर विचार करना उचित होगा और उसी के दृष्टिकोण से आर्थिक प्रशासन की परिभाषा देने में सुविधा होगी।

(१) साइमन स्मिथबर्ग तथा थॉमसन के शब्दों में—

एक सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए सहयोग करने वाले समूहों की क्रियाओं को प्रशासन कहते हैं।[1]

(२) व्हाइट के मतानुसार—

किसी कार्य अथवा उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक व्यक्तियों की क्रियाओं के निर्देशन, समन्वय तथा नियन्त्रण की कला को प्रशासन कहते हैं।[2]

(३) फिफनर का मत है कि—

वांछित उद्देश्य की पूर्ति के लिए मानवी तथा भौतिक साधनों के संगठन तथा निर्देशन को प्रशासन कहा जाता है।[3]

इन तीनों परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि प्रशासन उन क्रियाओं को कहते हैं जो कुछ व्यक्तियों द्वारा मिल-जुल कर किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए की जाती हैं।

इस परिभाषा के आधार पर ही यह कहा जा सकता है कि आर्थिक नीतियों या उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मिल जुल कर व्यवस्थित रूप में जो क्रियाएँ की जाती हैं वह आर्थिक प्रशासन कहलाती हैं। अथवा आर्थिक प्रशासन एक मानव समूह द्वारा की गयी क्रियाओं की वह शृंखला है जो निश्चित आर्थिक नीतियों या उद्देश्यों को पूरा करने के वास्ते की जाती हैं।

आर्थिक प्रशासन का क्षेत्र
[SCOPE OF ECONOMIC ADMINISTRATION]

आर्थिक प्रशासन एक नयी अध्ययन परम्परा है। इसके अध्ययन का क्षेत्र और सीमाएं आर्थिक समस्याओं और नीतियों से निर्धारित होती हैं। अतः आर्थिक प्रशासन क्षेत्र को दो भागों में बांटा जा सकता है :

---

1 'In its broadest sense administration can be defined as the activities of groups co-operating to accomplish common goals.' —Simon, Smith urg and Thompson *Public Administration*

2 "The art of administration is the direction co-ordination and control of many persons to achieve some purpose or objective"—White L. D *Introduction to the Study* of *Public Administration*

3 "The organisation and direction of human and material resources to achieve desired ends."—*Pfiffner J. M. Public Administration,*

(१) समस्याओं का समाधान
(२) नीतियों का पालन
इन दोनों के विषय में अलग-अलग विचार किया जा रहा है।

(१) समस्याओं का समाधान

आर्थिक प्रशासन का मुख्य उद्देश्य आर्थिक समस्याओं का समाधान करना होता है। इसका अर्थ यह है कि आर्थिक क्षेत्र की जितनी समस्याएँ हैं उनकी ठीक प्रकार जानकारी कर उन्हें सुलझाने का प्रयत्न किया जाता है। यह समस्याएँ समय-समय पर जटिल होती रहती हैं और कभी-कभी सरल हो जाती हैं। प्रशासन द्वारा समय तथा परिस्थिति के अनुसार इन समस्याओं से निपटने की चेष्टा की जाती है। इन समस्याओं में मुख्य निम्नलिखित हैं :

(i) उत्पादन—प्रत्येक देश में खेती तथा उद्योगों द्वारा उत्पादन किया जाता है। प्रशासन का काम यह होता है कि वह सारी व्यवस्था इस ढंग से संचालित करे कि कम से कम लागत पर अधिक से अधिक और बढ़िया से बढ़िया वस्तुओं का उत्पादन हो।

इस उद्देश्य की सफलता के लिए जहाँ भी सम्भव हो खर्च कम करने की चेष्टा की जाती है। ताकि जिन वस्तुओं का उत्पादन किया जा रहा है वह सस्ती बेची जा सकें।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रशासन इस बात की व्यवस्था करता है कि अच्छी और आकर्षक वस्तुओं का उत्पादन किया जाय। इसके लिए कच्चा माल, जल, शक्ति, रासायनिक पदार्थ, आदि की उचित व्यवस्था की जाती है, प्रशिक्षित इन्जीनियर, प्रबन्ध विशेषज्ञ अथवा अन्य कर्मचारी नियुक्त किये जाते हैं, कच्चे और निर्मित माल को सुरक्षित रखने के लिए अच्छे गोदामों का प्रबन्ध किया जाता है और माल की किस्म में गिरावट पर उचित रोक लगाने की व्यवस्था की जाती है। यदि प्रशासन व्यवस्था अच्छी है तो उत्पादन की सब क्रियाएँ बिल्कुल ठीक ढंग से चलती रहती हैं और माल का उत्पादन आवश्यकतानुसार होता रहता है।

(ii) उपभोग—आर्थिक प्रशासन के क्षेत्र में उपभोग की समस्याएँ बहुत जटिल हैं क्योंकि इनका सम्बन्ध उपभोक्ताओं से होता है जिनकी संख्या बहुत अधिक होती है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति उपभोक्ता होता है। प्रत्येक व्यक्ति को शुद्ध जल पर्याप्त मात्रा में मिले, अच्छा पौष्टिक भोजन ठीक मूल्य पर मिले, बीमारी के समय दवाइयाँ तथा अन्य उपचार सुलभ हों, इसकी व्यवस्था सरकार को करनी पड़ती है। जल, भोजन, वस्त्र, दवाइयाँ आदि उपभोग की महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ हैं जो प्रत्येक व्यक्ति को अनिवार्य रूप से मिलनी चाहिए। प्रशासन का कर्तव्य है कि इन सब वस्तुओं तथा सुविधाओं की व्यवस्था की जाय।

उपभोग के क्षेत्र में क्या, कैसा, कितना और कब या कहाँ महत्त्वपूर्ण समस्याएँ हैं। उपभोग के वास्ते क्या उचित और क्या अनुचित है ? उपभोग्य वस्तुओं की

किस्म कैसी होनी चाहिए ? कौन सी वस्तु की आवश्यकता कितनी है तथा उसको कब तथा कौन-कौन से स्थानो पर आवश्यकता होगी ? यह सब समस्याएँ आर्थिक प्रशासक द्वारा हल की जानी चाहिए। अनेक बार इन समस्याओ के समाधान में स्वास्थ्य, आपूर्ति तथा अन्य विभागो द्वारा भी सहायता लेनी पड सकती है।

(iii) विनिमय—आधुनिक युग मे जितना माल बनाया जाता है उसकी खपत एक ही स्थान पर नही होती। उस माल को अन्य स्थानो या देशो मे बेच कर उसके बदले दूसरा माल प्राप्त किया जाता है। इस कार्य के लिए परिवहन के श्रेष्ठ साधनो की आवश्यकता होती है और अनेक बार अपना माल बेचने के लिए विज्ञापन का सहारा लेना पडता है। माल बेचने तथा खरीदने के साथ ही भुगतान की महत्त्वपूर्ण समस्या का सामना करना पडता है जिसका समाधान करने के लिए विकसित बैंक व्यवस्था का होना बहुत आवश्यक है। इस प्रकार विनिमय क्षेत्र मे प्रशासक को प्राय पाच प्रकार की समस्याओ का सामना करना पडता है :

(क) मडियों की तलाश—माल की बिक्री लिए मडियो या बाजार की तलाश करनी पडती है कि कहाँ-कहाँ कौन सा माल कितना बिक सकता है। इस जानकारी के लिए समाचार पत्रो, व्यापारियो तथा बदलती हुई रुचि और फैशन के सम्पर्क मे रहना पडता है। अनेक देशो मे बाजार या मडी की खोज तथा जानकारी के लिए अलग विभाग स्थापित किये गये हैं।

(ख) आयात—अपना माल बेचने के साथ-साथ यह भी ध्यान रखना पडता है कि अपने देश मे जिस चीज की कमी है वह कौन से देश मे सस्ती और बढिया मिल सकती है। इस जानकारी से प्रशासक काफी बचत कर सकता है।

(ग) विज्ञापन—माल बचने या बाजार तलाश करने मे आजकल विज्ञापन का सहारा भी लेना पडता है। सरकार अपने दूतावासो के माध्यम से और निजी उद्योगपति समाचार पत्रो तथा अन्य साधनो के माध्यम से अपने द्वारा उत्पादित माल का प्रचार करते हैं। प्रशासक को यह देखना पडता है कि किस स्थान या देश मे कौन सा माल बेचने के लिए कौन से साधन द्वारा कैसा विज्ञापन दिया जाय ? बडी-बडी औद्योगिक इकाइयो द्वारा प्राय. लाखो रुपया प्रति वर्ष विज्ञापन पर खर्च कर दिया जाता है।

(घ) परिवहन—जब किसी माल की माँग हो जाती है तो उसे आवश्यक स्थान पर भेजने की व्यवस्था करनी पडती है। आर्थिक प्रशासक को यह देखना होता है कि माल ट्रक, गाडी या जलयान द्वारा भेजा जायगा अथवा अन्य किसी साधन का सहारा लेना पड़ेगा। इस सम्बन्ध मे निर्णय लेने के वास्ते अनेक परिवहन कम्पनियो से बात-चीत करनी पडेगी ताकि कम से कम खर्चीला और जल्दी से जल्दी माल पहुँचाने वाला साधन अपनाया जा सके।

(ङ) भुगतान—विनिमय क्षेत्र की सबसे महत्त्वपूर्ण तथा जटिल समस्या भुगतान की समस्या है। यदि देश को बैंकिग व्यवस्था विकसित है और वह श्रेष्ठ

सेवाएँ प्रदान कर रही है तो कोई कठिनाई नही होगी अन्यथा प्रशासक को यह देखना पड़ेगा कि भुगतान किस प्रकार किया जायगा ?

इन सभी कार्यों में सरकार का बहुत महत्त्वपूर्ण योग हो सकता है। सडकें, रेलें या जल परिवहन व्यवस्था, बैंकिंग का विकास तथा आयात-निर्यात की उदार नीति प्रशासन की समस्याओ को सरल बना देती है और परिवहन व्यवस्था घटिया होने या बैंकिंग विकास कम होने से विनिमय की समस्याएँ कठिनाइयाँ उत्पन्न करती रहती हैं।

(iv) **वितरण**—आर्थिक प्रशासन क्षेत्र मे वितरण की समस्याओ का स्थान भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। वर्तमान युग मे समाजवाद की सब जगह चर्चा है। समाजवाद मे आर्थिक साधनो का न्यायपूर्ण वितरण होना आवश्यक है। अत भूमि का वितरण ठीक होना चाहिए, ब्याज की दरें उचित रहनी चाहिए, मजदूरो तथा अन्य कर्मचारियो का वेतन या मजदूरी पर्याप्त होनी चाहिए तथा पूँजीपतियो को मिलने वाला लाभ बहुत अधिक नही होना चाहिए। इन सब उद्देश्यो की पूर्ति के लिए सरकार द्वारा उचित नीतियाँ निर्धारित करनी चाहिए और प्रशासन द्वारा इन नीतियो का ठीक ढग से पालन किया जाना चाहिए।

(v) **राजस्व**—आर्थिक प्रशासन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अग राजस्व है। सरकार किन साधनो से आय प्राप्त करती है और उस आय को किस प्रकार खर्च करती है। सरकार को अपनी आमदनी और खर्च के सम्बन्ध मे बजट बनाना पडता है और अलग अलग मदो पर कर की दरें निश्चित करनी पड़ती हैं। इन करो से प्राप्त आमदनी का महत्व के अनुसार अलग-अलग मदा मे विभाजन करना पडता है। बजट के पास हो जाने पर, प्रशासन द्वारा अपने आय और व्यय को निर्धारित सीमाओं म रखना पड़ता है। अनेक बार सरकारी खच को सीमित रखने मे कठिनाई आती है।

राजस्व मे प्रशासन द्वारा निम्नलिखित कार्य किये जाते हैं

(i) निर्धारित दरो पर करों की ठीक समय पर वसूली।

(ii) प्रशासन तथा अन्य क्षेत्रो सम्बन्धी खर्च को निर्धारित रकम तक सीमित रखना।

(iii) अलग-अलग मदो मे निर्धारित रकम ही खर्च करना।

(iv) आवश्यक मात्रा में, सरकारी खाते मे ऋण लेने की व्यवस्था करना।

(v) सरकारी ऋण तथा ब्याज का ठीक समय पर भुगतान करने की व्यवस्था करना।

इन सब कार्यों को ठीक ढङ्ग से पूरा करने का दायित्व आर्थिक प्रशासन का होता है।

(vi) **मूल्य स्तर**—आर्थिक प्रशासन के कार्यक्षेत्र मे मूल्यो को ठीक स्तर पर बनाये रखना भी सम्मिलित है। यदि वस्तुओ के मूल्यो म निरन्तर वृद्धि आती जाती

है तो देश की सारी अर्थ-व्यवस्था बिगड़ने का डर रहता है क्योंकि सभी क्षेत्रों मे लागत और खर्चे बढ जाते हैं। इसी प्रकार यदि मूल्य स्तर मे गिरावट आने लगती है तो भी सारी अर्थ-व्यवस्था मे गडबडी उत्पन्न होने का भय रहता है क्योंकि मंदी के कारण उत्पादन करने वालो तथा व्यापारियो का विश्वास डगमगाने लगता है और एक मूक अशान्ति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जो अर्थ-व्यवस्था के लिए हानिकारक होती है। अत मूल्यो को उचित स्तर पर बनाये रखना प्रशासन का महत्त्वपूर्ण दायित्व होता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आर्थिक प्रशासन का क्षेत्र बहुत व्यापक है। उसमे उत्पादन, उपभोग, विनिमय, वितरण तथा राजस्व की सब समस्याएँ ही नहीं बल्कि मूल्यों को बनाये रखने का गहन दायित्व भी सम्मिलित होता है।

(२) नीतियों का पालन

आर्थिक प्रशासन के क्षेत्र म दूसरी महत्त्वपूर्ण बात आती है नीतियों का पालन। उत्पादन, उपभोग, विनिमय, वितरण तथा राजस्व सम्बन्धी समस्याओ का समाधान अनेक प्रकार से हो सकता है। यदि सरकार स्वतन्त्र आर्थिक नीति अपनाती है तो अर्थतन्त्र के किसी भी क्षेत्र के विकास पर कोई नियन्त्रण नही लगाये जाते। कोई भी व्यक्ति किसी प्रकार के उद्योग की स्थापना कर सकता है और उसके द्वारा चाहे जितना उत्पादन किया जा सकता है। इसी प्रकार उपभोग, विनिमय तथा वितरण पर भी कोई बन्धन या नियन्त्रण नही लगाया जाता। इस प्रकार की पूंजीवादी व्यवस्था मे सब क्षेत्रो मे स्पर्द्धा होती है और आर्थिक प्रशासन अपनी व्यावसायिक इकाई को इस स्पर्द्धा मे जीवित रखने का प्रयत्न करता है। इस व्यवस्था मे आर्थिक प्रशासन का नैतिक या सामाजिक दायित्व बहुत कम होता है।

यदि सरकार की आर्थिक नीति समाजवादी हो तो आर्थिक प्रशासन को अपना काम इस ढङ्ग से करना पड़ता है कि व्यवसाय को हानि भी न हो और सरकारी नीति का पालन भी हो जाय। इस नीति मे प्राय मूल्यो को कुछ कम रखना पडता है, मजदूरी की दरें उचित स्तर पर रखनी पड़ती हैं और अपने लाभ के साथ-साथ समाज के हित का भी ध्यान रखना पडता है। अत समाजवादी नीति मे प्राय आर्थिक प्रशासन का दायित्व बहुत बढ जाता है।

सरकार की समाजवादी नीति का एक पक्ष यह है कि सरकार कभी-कभी सारे उद्योग तथा व्यवसायों को अपने अधिकार मे ले लेती है। इस स्थिति मे सम्पूर्ण आर्थिक प्रशासन का भार सरकारी कर्मचारियो पर आ जाता है। सरकारी कर्मचारियो पर सरकारी नीति के पालन का पूरा भार आ जाता है और उसकी सफलता या असफलता का पूरा उत्तरदायित्व उन पर ही आ जाता है।

इस प्रकार आर्थिक प्रशासन सरकार की आर्थिक नीतियो के अनुसार अपने आप को ढालने का प्रयत्न करता है और सरकारी नीतियो की सीमा मे ही काम करता है।

आर्थिक प्रशासन का स्वभाव (Nature of Economic Administration)

आर्थिक प्रशासन विज्ञान भी है और कला भी।

यह विज्ञान इसलिए है कि इसका अध्ययन वैज्ञानिक ढङ्ग से किया जाता है। आर्थिक समस्याएँ एक दूसरी से जुड़ी हुई हैं। उनका समाधान भी अलग-अलग न कर एक साथ ही करने की आवश्यकता होती है। उदाहरण रूप में यदि किसी देश में अनाज की कमी है तो इस समस्या का समाधान करने के लिए प्रशासन द्वारा एक साथ ही निम्नलिखित दिशाओं में कार्य किये जायेंगे :

(i) अन्न का उत्पादन बढ़ाने की दिशा में प्रयत्न ;

(ii) अन्न की कमी दूर करने के लिए विदेशों से आयात ;

(iii) अन्न की खपत कम करने के लिए अन्य वस्तुओं के उपयोग को प्रोत्साहन ;

(iv) अन्न मूल्यों के नियन्त्रण के लिए प्रयत्न ;

(v) अनाज के मूल्यों को स्थिर रखने सम्बन्धी कार्यवाही, आदि।

यह सभी कार्य एक निश्चित क्रम या निश्चित योजना के अनुसार किये जाते हैं। किसी भी विज्ञान में प्रत्येक कार्य निश्चित योजना के अनुसार होना आवश्यक होता है अतः आर्थिक प्रशासन एक विज्ञान है।

प्रशासन एक कला है क्योंकि किसी कार्य को अच्छे ढङ्ग से करने की रीति को ही कला कहते हैं। प्रशासन को ठीक ढङ्ग से चलाने में पर्याप्त योग्यता, बुद्धि और क्षमता की आवश्यकता होती है। कुछ व्यक्ति कठिन से कठिन समस्याओं को सुलझा लेते हैं, उनके पास समस्याओं को सुलझाने की कला होती है। ऐसे व्यक्ति ही प्रशासक (या श्रेष्ठ प्रशासक) कहलाते हैं।

प्रशासन एक कला है अतः आर्थिक प्रशासन भी कला है। आर्थिक नीतियों का संचालन करने में विशेष कुशलता की आवश्यकता होती है। बढ़ते हुए मूल्यों को नियन्त्रित करना, देश के निर्यातों को बढ़ाना, आयातों में कमी करना, बाजार में आवश्यक मात्रा में ही मुद्रा चलन में डालना अथवा रोजगार के साधनों को बढ़ाना कुछ कार्य हैं जिनमें सफलता प्राप्त करने के लिए उचित मात्रा में योग्यता, कुशलता या कला की आवश्यकता होती है। ऐसे अनेक दूसरे उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। अतः आर्थिक प्रशासन एक कला भी है।

आर्थिक प्रशासन का भार किस पर ? (सरकार या निजी क्षेत्र)

अब प्रश्न यह उठता है कि आर्थिक प्रशासन का उत्तरदायित्व कौन उठाता है ? क्या इसका पूरा दायित्व सरकार पर है ? या इसकी जिम्मेदारी निजी क्षेत्र के पूँजीपतियों को उठानी पड़ती है ?

इस प्रश्न का कोई एक या निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता क्योंकि समाजवादी व्यवस्था में—जहाँ सभी उद्योग तथा व्यवसाय सरकार के अधिकार में हैं—आर्थिक प्रशासन का पूरा भार सरकार पर ही होता है क्योंकि वहाँ उत्पादन

उपभोग, विनिमय तथा वितरण सम्बन्धी सभी कार्य सरकार स्वय करती है। इस व्यवस्था में, सरकार नीति निर्धारण भी करती है और उस नीति का पालन भी। अत आर्थिक प्रशासन की सफलता या असफलता का दायित्व सरकार पर ही रहता है।

पूंजीवादी व्यवस्था मे सरकार प्राय लोक हित की इकाइयो (जलपूर्ति, बिजली, डाक तार आदि) को स्वय चलाती है और उनके प्रशासन का भार सरकार पर ही होता है। इन इकाइयों का उद्देश्य जनता की सेवा करना अधिक और लाभ कमाना कम होता है। अनेक बार इन इकाइयो का प्रशासन बहुत ढीला और अकुशल होता है जिसके कारण इन इकाइयो को प्राय निरन्तर हानि उठानी पडती है।

लोक हित सम्बन्धी कुछ इकाइयां को छोडकर, पूंजीवादी व्यवस्था मे शेष सारी औद्योगिक या व्यावसायिक इकाइयाँ निजी पूंजीपतियो के हाथ मे रहती हैं। इन इकाइयों को लाभ कमाने के दृष्टिकोण से चलाया जाता है अत इनकी प्रशासन व्यवस्था प्राय बहुत कुशल और सुयोग्य हाथो में होती है।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था मे प्राय सरकार और निजी उद्योगपति दोनो को उद्योग तथा व्यवसाय चलाने की अनुमति होती है। कुछ क्षेत्रो मे सरकार तथा निजी व्यवसाय मे स्पर्द्धा होती है। इस स्पर्द्धा के कारण दोनो क्षेत्रो मे प्रशासनिक स्पर्द्धा रहती है क्योकि दोनो क्षेत्र एक दूसरे से अधिक अच्छा काम करने की चेष्टा करते हैं। इस स्थिति मे प्रशासनिक फेर-बदल भी होती रहती है क्योकि सरकारी क्षेत्र से प्रशासक निजी क्षेत्र मे और निजी क्षेत्र से प्रशासक सरकारी क्षेत्र मे आते जाते रहते हैं। इस प्रकार मिश्रित अर्थ-व्यवस्था मे प्रशासन भार सरकार तथा निजी क्षेत्र दोनो पर रहता है। यदि दोनो क्षेत्रो मे अदल-बदल बनी रह तो कुशलता के स्तर म उन्नति होती रहती है किन्तु अनेक बार ऐसा करने मे बहुत सी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिससे दोनो प्रकार के प्रशासनो मे नये खून का सचार नही हो पाता।

आर्थिक प्रशासन की कार्यप्रणाली
TECHNIQUE OF ECONOMIC ADMINISTRATION]

आर्थिक प्रशासन को प्राय: अनेक प्रकार की जटिल समस्याओ का सामना करना पडता है। इन समस्याओ के समाधान के लिए सदा एक ही प्रकार की तकनीक या कार्यप्रणाली नही अपनायी जा सकती क्योंकि अलग-अलग क्षेत्रो की समस्याएं भी भिन्न प्रकार की होती हैं। एक इस्पात बनाने का कारखाना स्थापित करने और एक बैंक स्थापित करने में बहुत अन्तर है। इन दोनो प्रकार के व्यवसायो की आवश्यकताएं तथा समस्याएं भिन्न हैं अत उनके समाधान के लिए अलग तक्नीक काम मे लेने होंगे। किन्तु कुछ आधारभूत बातें ऐसी हैं जो सब प्रकार के व्यवसायो मे समान रूप से लागू होती हैं। इन आधारभूत बातो के बारे में यहाँ बतलाना आवश्यक होगा।

(१) नियोजन (Planning)—सबसे पहले प्रशासन को जिस उद्देश्य की पूर्ति करनी है, उसके लिए एक रूपरेखा तैयार करनी होगी कि उद्देश्य की पूर्ति के लिए क्या क्या कार्य किये जा सकते है, उनमे से कौन-कौन से कार्य वर्तमान परिस्थितियो मे उचित हैं या प्रशासन की सामार्थ्य या क्षमता से बाहर नही है। इसके साथ ही यह निश्चय करना होगा कि उन कार्यों के लिए कौन सी रीति अपनायी जायगी। मान लीजिए सरकार को अपनी आय मे वृद्धि करनी है तो पहले तो यह निश्चित किया जायगा कि आय वृद्धि के लिए कितनी रकम करो से वसूल की जायगी तथा कितनी रकम ऋणो से प्राप्त की जायगी। इसके पश्चात् यह निश्चित करना होगा कि करो से वसूल की जाने वाली रकम के लिए कितने प्रत्यक्ष कर लगाये जायेंगे। इसके बाद यह निश्चित करना होगा कि प्रत्यक्ष कर कौन से मदो पर बढाये जायेंगे तथा अप्रत्यक्ष कर कौन से मदो पर बढाये जायेंगे या किन-किन नये मदो पर कर लगाने की व्यवस्था होगी ? इस काम को ही नियोजन कहा जाता है।

(२) सगठन (Organisation)—जब उद्देश्य की पूर्ति के लिए उचित रूपरेखा तैयार हो जाती है तो उसके लिए साधनो को सगठित करने का काम आरम्भ किया जाता है। भूमि या मकान (या केवल स्थान), पूंजी, कच्चा माल तथा विशेषज्ञो का प्रबन्ध किया जाता है। इस प्रकार काम को पूरा करने के लिए उचित सगठन की स्थापना की जाती है।

(३) कर्मचारियो की व्यवस्था (Staffing)—नियोजन तथा सगठन के पश्चात् सारी योजना को पूरा करने के लिए सभी वर्गों के कर्मचारियो (श्रमिको से लेकर उच्च अधिकारियो तक) की नियुक्ति की जाती है तथा उनके लिए पानी, बिजली तथा काम करने सम्बन्धी अन्य सुविधाओ की व्यवस्था की जाती है। जो कर्मचारी प्रशिक्षित नही है उनके उचित प्रशिक्षण का भी प्रबन्ध किया जाता है।

(४) निदेशन (Direction)—आर्थिक प्रशासन का चौथा काम है उद्देश्य की पूर्ति के लिए विभिन्न व्यक्तियो को अपने-अपने कार्य तथा कार्यप्रणाली के सम्बन्ध मे स्पष्ट एव पर्याप्त आदेश देना। यह आदेश या निर्देश समय-समय पर सूचना, आदेश या मार्गदर्शन के रूप मे सम्बन्धित व्यक्तियो या विभागो के पास भेजे जाने चाहिए तथा सबको यथासमय मिल जायें, ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए।

(५) समन्वय (Co-ordination)—किसी भी योजना की सफलता के लिए उसके सब अगो या विभागो मे उचित तालमेल या समन्वय अलग-अलग विभागो की समय-समय पर मीटिंग बुलाकर सब व्यक्तियो मे आपसी विचार-विमर्श द्वारा किया जा सकता है। समन्वय के बिना व्यवसाय के प्रबन्ध का सतुलन बिगडने का भय रहता है।

(६) रिपोर्ट देना (Reporting)—जो काम चल रहा है उसकी प्रगति की निश्चित जानकारी बहुत आवश्यक है। अत उसकी प्रगति की साप्ताहिक, मासिक या वार्षिक रपट तैयार की जाती है और सगठन के अध्यक्ष को भेजी जाती है।

संगठन का अध्यक्ष अपनी जानकारी के लिए समय-समय पर काम की प्रगति की सूचना मांगता रहता है और योजना को सही स्थिति के सम्पर्क में रहता है। इससे योजना की प्रगति ठीक दिशा में रखने में सहायता मिलती है।

बहुत बड़ी व्यावसायिक इकाइयों में काम (या योजना) की प्रगति की जानकारी देने के लिए अलग आर्थिक एवं सांख्यिकी विभाग (Economic and Statistics Dapartment) स्थापित किये जाते हैं।

(७) बजट बनाना (Budgeting)—इन सब कार्यों के अतिरिक्त योजना पर होने वाले खर्च का हिसाब रखना, नकद प्राप्ति, भुगतान तथा बिक्री का हिसाब रखना तथा व्यवसाय के सारे लेन-देन का लेखा-जोखा रखना बहुत आवश्यक होता है।

प्रत्येक प्रशासक वर्ष के आरम्भ में ही आय-व्यय, बिक्री, खरीद तथा नकदी की प्राप्ति और भुगतान का एक लेखा तैयार करता है जिसे बजट कहते हैं। बजट कभी-कभी त्रैमासिक या मासिक भी तैयार किया जाता है किन्तु वह वार्षिक बजट का एक भाग ही होता है। अनेक बार अलग-अलग विभागों के अलग अलग बजट बनाये जाते हैं। बजट तैयार करने से प्रशासन के सामने अपने व्यवसाय की पूरी तस्वीर रहती है और सब विभागों को अपने-अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान रहता है। इससे प्रत्येक योजना को पूरा करने में सुविधा रहती है।

श्रेष्ठ आर्थिक प्रशासन—आवश्यक तत्व
[GOOD ECONOMIC ADMINISTRATION ESSENTIAL ELEMENTS]

एक अच्छे आर्थिक प्रशासन में निम्नलिखित बातें होनी आवश्यक हैं

(१) शीघ्र निर्णय (Quick Decision)—आर्थिक समस्याएँ प्राय ऐसी होती हैं जिनके उचित समाधान के लिए निर्णय लेने में देर नहीं होनी चाहिए। अत प्रशासन का सारा संगठन ऐसा होना चाहिए कि समस्या के उत्पन्न होते ही उसके समाधान के बारे में निर्णय लिया जा सके। बड़ी बड़ी व्यावसायिक इकाइयों में आर्थिक तथा सांख्यिकी विभाग प्राय सारी घटनाओं के सम्पर्क में रहते हैं और उच्चतम अधिकारी को सब बातों की जानकारी देते रहते हैं। अनेक बार, कोई समस्या उत्पन्न होते ही उसका उपचार कर लिया जाता है। "सयाना व्यक्ति वही है जो रोग के चिह्न प्रकट होते ही उसका उपचार कर ले"।

(२) कुशल संगठन (Efficient Organization)—श्रेष्ठ आर्थिक प्रशासन के लिए यह भी आवश्यक है कि उसका संगठन कुशल हो। कुशल संगठन का अर्थ यह है कि जो निर्णय लिए जायें उनका पालन करने में देर या ढिलाई नहीं होनी चाहिए। अनेक बार अच्छी से अच्छी योजनाएँ पालन की शिथिलता के कारण असफल हो जाती हैं। अत प्रशासन के उत्तरदायी व्यक्तियों को सब विभागों की

कुशलता के सम्पर्क म रहना चाहिए और जहाँ भी शिथिलता हो उसे तत्काल ठीक करना चाहिए ।

(३) उचित वातावरण (Proper Atmosphere)—एक कहावत के अनुसार "श्रेष्ठतम प्रशासक वह है जो कम से कम प्रशासन करे"। इसका अर्थ यह है कि प्रशासनिक इकाई मे ऐसा वातावरण होना चाहिए कि व्यवसाय के किसी काम मे रुकावट या ढिलाई आने ही नही पाये। इसके लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं —

(i) अपनत्व— सभी काम करने वाले व्यक्तियो के हृदय मे संस्था के प्रति ममत्व या लगाव होना चाहिए । उनके मन मे ऐसी भावना होनी चाहिए कि यदि व्यवसाय को हानि हुई तो उनकी प्रतिष्ठा को धक्का लगेगा ।

(ii) सबका सहयोग—व्यावसायिक इकाई के प्रति सभी कर्मचारियो का ममत्व तभी हो सकता है जबकि प्रत्येक निर्णय मे उनका योगदान हो। अत प्रशासन को इस प्रकार की परम्परा स्थापित करनी चाहिए कि सभी महत्त्वपूर्ण निर्णयो मे अधिक से अधिक व्यक्तियो के सुझाव या सलाह ली जा सके ।

यह कार्य सब वर्गों के कर्मचारियो को विभिन्न समितियो मे प्रतिनिधित्व देकर किया जा सकता है ।

(iii) पर्याप्त प्रोत्साहन—प्रत्येक कर्मचारी की श्रद्धा या ममता जीतने के लिए यह भी आवश्यक है कि उनकी सुख सुविधाओ, वेतन मान तथा पदोन्नति का उचित ध्यान रखा जाय । संस्था मे एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना की जानी चाहिए कि जहाँ तक सम्भव हो प्रत्येक व्यक्ति को उच्चतम पद पर पहुँचने का अवसर मिल सके । इससे प्रत्येक व्यक्ति का अपनी व्यावसायिक इकाई के प्रति आदर तथा ममत्व बना रहता है और वह अच्छा काम करने के लिए प्रेरित होता रहता है ।

वास्तव म, जिस व्यावसायिक इकाई मे मानवी तत्त्व को उचित आदर तथा प्रत्येक तत्त्व को उचित प्रोत्साहन मिलता है। उस इकाई की सभी योजनाएँ सफल होती हैं। प्रशासन के प्रति ममत्व तथा स्नेह उत्पन्न किये बिना किसी भी कार्य मे सफलता सम्भव नही है । अत प्रत्येक व्यक्ति को यह आभास होना चाहिए कि उसके सगठन मे उसका उचित महत्त्व है और वह जहाँ काम कर रहा है वह उसकी अपनी संस्था है ।

(४) व्यापक सम्पर्क (Adequate Touch)—आर्थिक प्रशासन की सफलता इस बात पर भी निर्भर करती है कि उसमे विभिन्न विभागो का आपसी सम्पर्क कैसा है। सब विभागो म तालमेल है और सब काम आपस म विचार विमर्श के पश्चात् किये जाते हैं तो कभी भी किसी स्तर पर कोई बाधा या अड़चन उत्पन्न नहीं होगी और सब काम ठीक प्रकार चलता रहेगा। किन्तु सम्पर्क के अभाव म कहीं न कहीं गड़बड़ उत्पन्न होने का भय रहता है ।

व्यावसायिक इकाई के अन्दर के सब विभागों में आपसी सम्पर्क के अतिरिक्त बाहर की व्यावसायिक इकाइयों से भी सम्पर्क रहना आवश्यक है। यदि प्रशासन को यह जानकारी नहीं है कि उसके प्रतिस्पर्धी कौन-कौन हैं, उनके माल की कितनी खपत है और वह अपने व्यवसाय का किस सीमा तक विस्तार कर रहे हैं तो वह अन्य इकाइयों से पिछड़ जायेगा और उसकी व्यावसायिक इकाई प्रतिस्पर्द्धा में पिट जायेगी। अतः प्रशासक को आन्तरिक तथा बाहरी दोनों क्षेत्रों में सभी घटनाओं और परिस्थितियों के सम्पर्क में रहना चाहिए।

(५) राष्ट्रीय नीति (National Policy)—आधुनिक प्रशासन व्यक्तिवादी नहीं समष्टिवादी होना चाहिए। यदि कोई व्यवसायी या संस्था केवल व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से काम करती है तो वह अधिक दिन तक नहीं चल सकेगी क्योंकि अन्य इकाइयाँ उनसे आगे निकल जायेंगी। जो इकाई राष्ट्रीय नीति को ध्यान में रखकर काम करती है उसे सरकार तथा जनता का समर्थन, सहयोग तथा संरक्षण मिलेगा और केवल व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से काम करने वाले व्यवसायी के मार्ग में अनेक प्रकार की व्यावहारिक अड़चनें आयेंगी और उसे अपनी नीति तथा व्यवहार में परिवर्तन करना पड़ेगा अन्यथा वह बंद हो जायगी।

आर्थिक प्रशासन द्वारा राष्ट्रीय नीति को आधार मानना इसलिए भी आवश्यक है कि राष्ट्रीय नीति सारे देश के हित में बनायी जाती है और उसमें जो प्राथमिकताएँ निर्धारित की जाती हैं वह सबके हित में होती हैं। इसलिए आर्थिक प्रशासन को देश की आर्थिक नीति के अनुसार ही अपने विचार तथा कार्यक्रमों को ढालना चाहिए।

(६) नीति निर्धारण में सहायता (Assistance in Policy Formulation)—आर्थिक प्रशासक को प्रत्येक नीति के पालन का अनुभव होता है। अतः वह मालिकों या सरकार को अपने अनुभव के आधार पर सही सलाह दे सकता है जिसके आधार पर भविष्य की नीतियाँ अधिक श्रेष्ठ और सही हो सकती हैं। अच्छा प्रशासक शासकों की "आँख और कान का काम देता है"। यह तभी सम्भव है जबकि वह सरकार से भी निरन्तर सम्पर्क बनाये रखे। वास्तव में सभी, अच्छे प्रशासक सरकार से उचित सम्पर्क बनाये रखने में विश्वास करते हैं क्योंकि यह उनके अपने हित में भी है। अनेक बार वह अपनी बात सरकार से मनवा लेते हैं जिससे उन्हें भी लाभ होता है और सरकार को भी सही नीति निर्धारित करने में मदद मिलती है।

(७) प्रशिक्षण (Training)—वर्तमान युग में उत्पादन तथा प्रबन्ध की कार्य-प्रणाली और तकनीकों में बहुत तेजी से परिवर्तन हो रहा है और अच्छे प्रशासक तथा प्रबन्धक को नवीनतम तकनीकों की जानकारी रहनी चाहिए ताकि वह अपने प्रशासन के अधीन इकाई को कुशलतम बनाये रख सके। अतः प्रशासन का दायित्व उठाने वाले प्रत्येक व्यक्ति को समय-समय पर अपनी जानकारी को नया करने का

अवसर दिया जाना चाहिए। इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति के उचित प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए।

वर्तमान युग में प्राय सभी देशों में व्यवसायी प्रबन्धकों के लिए ४, ६, ८ या १० सप्ताह के अभिनव पाठ्यक्रम (refresher courses) आयोजित किये जाते हैं जिनमें प्रशासन की नयी प्रणालियों तथा तकनीकों की जानकारी दी जाती है। भारत में भी अहमदाबाद, कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली और हैदराबाद के प्रबन्ध-संस्थान समय-समय पर इस प्रकार के पाठ्यक्रम आयोजित करते रहते हैं।

अभ्यास प्रश्न

१. आर्थिक प्रशासन से क्या तात्पर्य है? आर्थिक प्रशासन की परिभाषा दीजिये और उसका क्षेत्र बतलाइये।

२. आर्थिक प्रशासन किन समस्याओं से सम्बन्ध रखता है? उन पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

(संकेत—आर्थिक प्रशासन के क्षेत्र में जो बातें लिखी गयी हैं वही समस्याएँ हैं जिनसे आर्थिक प्रशासन का सम्बन्ध है)

३. आर्थिक प्रशासन की कार्यप्रणाली पर एक विवेचनात्मक नोट लिखिए।

४. आर्थिक प्रशासन की सफलता के लिए कौन सी बातें आवश्यक हैं।

या

श्रेष्ठ आर्थिक प्रशासन के मूल तत्त्वों का विवेचन कीजिए।

या

एक अच्छे आर्थिक प्रशासन की विशेषताओं की व्याख्या कीजिए।

(संकेत—तीनों प्रश्नों के उत्तर में "श्रेष्ठ आर्थिक प्रशासन—आवश्यक तत्त्व" के अन्तर्गत दी गयी बातें लिखनी चाहिएँ।)

२ भारतीय संविधान के आर्थिक पक्ष

(ECONOMIC ASPECTS OF INDIAN CONSTITUTION)

१५ अगस्त, १९४७ को जब भारत स्वतन्त्र हुआ तो यह विचार किया गया कि देश की शासन व्यवस्था को ठीक ढंग से चलाने के लिए एक संविधान की रचना भी की जानी चाहिए। इस दृष्टि से डॉ० भीमराव अम्बेडकर तथा बेनेगल नरसिंह राव सरीखे कानून विशेषज्ञो की एक समिति बनायी गयी जिसने ससार के सभी देशों के संविधानों का अध्ययन कर भारत के लिए एक संविधान तैयार किया। इस संविधान पर भारत की संविधान निर्मात्री सभा द्वारा विस्तृत विचार किया गया और भारत के लिए एक संविधान तैयार हो गया। २६ जनवरी, १९५० से यह संविधान भारत में लागू किया गया।

आधारभूत तत्त्व

भारतीय संविधान की प्रस्तावना मे उन चार बातो का उल्लेख किया गया है जो भारत के प्रत्येक नागरिक को अन्य स्वतन्त्र देशों के नागरिक के समान गौरव और प्रतिष्ठा प्रदान करेंगी। यह चार बातें निम्नलिखित हैं[1]

(१) न्याय—भारत के प्रत्येक नागरिक को सामाजिक, आर्थिक, तथा राजनीतिक न्याय देने की गारण्टी की गयी है।

(२) स्वतन्त्रता—भारतीय संविधान मे प्रत्येक नागरिक को विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, निष्ठा तथा पूजा की स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है।

(३) समानता—प्रत्येक नागरिक को समान दर्जा तथा अवसर प्रदान करने की घोषणा की गयी है। इन भावनाओ को सब नागरिको में बढ़ावा देने का सकल्प लिया गया है।

---

1 *Justice*, social economic and political,
Liberty of thought, expression belief, faith and worship,
Equality of status and of opportunity,
and to promote them all
Fraternity assuring the dignity of the individual and the unity of the nation

(४) भाई चारा—समाज के प्रत्येक नागरिक के सम्मान की रक्षा तथा राष्ट्र की एकता का व्रत लिया गया है।

आर्थिक महत्त्व

भारतीय संविधान की प्रस्तावना मे प्रत्येक नागरिक को न्याय, स्वतन्त्रता, समानता तथा सम्मान देने का जो संकल्प लिया गया है वह आर्थिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि—

(१) आर्थिक न्याय के बिना सामाजिक तथा राजनैतिक न्याय सम्भव नहीं है। जिन व्यक्तियो की आर्थिक स्थिति बहुत खराब होती है उन्हें प्राय सामाजिक तथा राजनैतिक न्याय नही मिल पाता क्योंकि न्यायालयो मे जाने के लिए धन की आवश्यकता होती है। गरीब व्यक्ति प्राय अदालत मे नही जा सकते क्योंकि उनके पास न तो अदालत की फीस देने के लिए पैसा होता है, न वह अपना केस लड़ने के लिए अच्छा वकील कर सकते हैं।

इसके विपरीत धनिक व्यक्ति पैसे के बल पर बढ़िया से बढ़िया वकील कर लेते हैं और उच्चतम न्यायालय तक जाकर अपनी बात मनवाने मे सफल हो जाते हैं, अत आर्थिक न्याय के बिना कोई भी नागरिक न तो सम्मानपूर्वक जीवित रह सकता है न अपनी मान मर्यादा की रक्षा कर सकता है।

आर्थिक न्याय मे निम्नलिखित बातें सम्मिलित होती हैं

(क) रोजगार—प्रत्येक व्यक्ति को योग्यतानुसार रोजगार मिलना चाहिए। उसे रोजगार की खोज मे दर दर भटकने की आवश्यता नही होनी चाहिए।

(ख) वेतन—प्रत्येक व्यक्ति को उसके काम के अनुसार वेतन दिया जाना चाहिए और किसी भी व्यक्ति के काम को घटिया नही समझना चाहिए।

प्रत्येक नागरिक की वेतन या आय कम से कम इतनी होनी चाहिए जिससे वह सम्मान से जीवन बिता सके।

(ग) विषमता—समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता का अन्त होना चाहिए। गरीबी और अमीरी के अन्तर मे कमी लानी चाहिए तभी आर्थिक न्याय हो सकता है और समाजवाद की स्थापना हो सकती है।

(२) संविधान मे प्रस्तावित स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं है जब तक कि नागरिक आर्थिक रूप मे स्वतन्त्र नही हो। चुनाव के समय प्राय देखा जाता है कि गरीब लोगो को कुछ रकम का लालच देकर मत खरीद लिए जाते हैं। यह प्रजातन्त्र का मखौल मात्र है क्योंकि जनता आर्थिक कठिनाइयो के कारण पैसे के बदले वोट बेच देती है अत वह स्वतन्त्रतापूर्वक मतदान नही करती। जब तक प्रत्येक व्यक्ति की आय जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त नही हो, तब तक स्वतन्त्रता एक मधुर कल्पना है, प्रवञ्चना है, धोखा है।

(३) जहाँ तक समानता का प्रश्न है, वह भी केवल घोषणा से नहीं मिल सकती। समानता लाने के लिए आर्थिक शोषण समाप्त करना आवश्यक है, आर्थिक

विषमता कम करना आवश्यक है तथा आर्थिक साधनो का केन्द्रण समाप्त करना अनिवार्य है। वास्तव मे आर्थिक असमानता रहते हुए अन्य किसी भी प्रकार की समानता की बात सोचना बुद्धिहीनता की परिचायक है।

(४) संविधान में भाईचारा स्थापित करने तथा राष्ट्रीय एकता उत्पन्न करने का सकल्प भी अत्यन्त श्रेष्ठ है किन्तु भाईचारा तो समान व्यक्तियो में होना है। ऊँच-नीच की भावना समाप्त हुए बिना सही अर्थो मे भाईचारा स्थापित नहीं हो सकता। अत भाईचारा और राष्ट्रीय एकता भी आर्थिक समानता लाये बिना सम्भव नहीं है।

भारतीय संविधान, मे नागरिको के लिए जिन श्रेष्ठ सिद्धान्तो को अपनाने का सकल्प लिया गया है वह सब सिद्धान्त आर्थिक न्याय, आर्थिक समानता तथा आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना अर्थहीन हैं क्योकि मनुष्य की खाने-पीने, पहनने तथा अन्य अनिवार्य आवश्यकताओ की पूर्ति होने के पश्चात् ही वह सही दिशाओ मे सोचने लायक होता है। एक अधभूखे, अधनगे व्यक्ति के लिए राजनीति या समाजशास्त्र के ऊँचे ऊचे सिद्धान्त बेकार हैं।

मौलिक अधिकार
[FUNDAMENTAL RIGHTS]

भारतीय संविधान मे, भारत के प्रत्येक नागरिक को कुछ मौलिक अधिकार दिये गये हैं। इन अधिकारों का उद्देश्य नागरिको के लिए आर्थिक न्याय, समानता, स्वतन्त्रता की व्यवस्था करना है तथा प्रत्येक नागरिक की स्वतन्त्रता की रक्षा करना, उसे न्याय दिलाना तथा उसके सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक हितो की सुरक्षा की गारण्टी करना है। भारत सरकार या कोई भी राज्य सरकार मौलिक अधिकारो के विरुद्ध कोई कानून नहीं बना सकती। यदि कोई कानून या उसकी कोई धारा किसी भी मौलिक अधिकार की अवहेलना करती हो तो वह कानून या वह धारा जनता पर लागू नहीं की जा सकती।

आर्थिक पक्ष—संविधान द्वारा भारतीय नागरिको को जो मौलिक अधिकार दिये गये हैं, यहाँ उन अधिकारों के केवल आर्थिक पक्ष पर ही विचार किया जायेगा। यह अधिकार निम्नलिखित हैं :

(१) समानता का अधिकार (Right to Equality)

इस अधिकार के अनुसार भारत के प्रत्येक नागरिक को समान दर्जा देने का प्रयत्न किया गया है। किसी व्यक्ति के साथ धर्म, जाति, नस्ल, लिंग अथवा प्रदेश के आधार पर पक्षपात नही किया जा सकता। इस अधिकार का आर्थिक पक्ष यह है कि सरकारी क्षेत्र में रोजगार देने की दृष्टि से किसी भी व्यक्ति से भेदभाव नहीं किया जा सकता। इसके अनुसार, सरकारी सेवाओं मे पूरी तरह निष्पक्षता की गारटी की गयी है। यह अधिकार देश के प्रत्येक नागरिक को योग्यता के आधार पर रोजगार देने की व्यवस्था करना है। यह मान्यता समाजवादी धारणा के सर्वथा अनुकूल है।

सरकारी क्षेत्र मे रोजगार देने में भेदभाव तो नही रखा जायगा किन्तु उसके साथ ही यह व्यवस्था भी की गयी है कि पिछडी जातियो तथा पिछड़े वर्गो के लोगो का सरकारी नौकरियों मे विशेष ध्यान रखा जायगा। इसी के अनुसार, सरकारी नौकरियो मे अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित जन-जातियो के लिए स्थान सुरक्षित रखे जाते हैं।

इस अधिकार का दुरुपयोग—कुछ व्यक्तियो का मत है कि अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित जन-जातियो के लिए सरकारी सेवाओ मे स्थान सुरक्षित रखना बहुत उचित एव श्रेष्ठ है किन्तु अनेक बार ऐसा देखा जाता है कि कुछ राज्य मेडीकल कालिजो, इजीनियरी कालिजो तथा अन्य तकनीकी क्षेत्रो तथा सेवाओ मे भी इन जातियो के लिए सीटें सुरक्षित रखते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि बहुत कम अक पाने वाले तथा बहुत कम योग्यता वाले व्यक्तियो को मेडीकल, इजीनियरी तथा तकनीकी कालिजो मे दाखला मिल जाता है और उनसे बहुत अधिक योग्यता वाले व्यक्ति रह जाते हैं। इससे मेडीकल, इजीनियरी तथा तकनीकी शिक्षा के स्तर मे गिरावट का भय उत्पन्न हो गया है।

दूसरी ओर, बहुत कम योग्यता वाले व्यक्तियों को (अनुसूचित या जन-जाति के आधार पर) सभी सरकारी सेवाओ मे प्राथमिकता देने से मेडीकल, इजीनियरी तथा अन्य सेवाओ के स्तर म बहुत गिरावट आयी है। अत सरकार इन पिछड़े हुए वर्गों को सरकारी सेवाओ मे नियोजित करने मे प्राथमिकता अवश्य दे किन्तु ऐसा करते समय यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि जिन व्यक्तियो को लाभ दिया जा रहा है उनका कम से कम एक न्यूनतम स्तर तो होना चाहिए और इससे अन्य वर्गों के बहुत योग्य व्यक्तियो की अवहेलना नही होनी चाहिए।

इस सम्बन्ध मे दो सुझाव दिये जा सकते हैं

(i) प्रथम, अनुसूचित तथा पिछडी जाति के सभी योग्य व्यक्तियों को उच्च शिक्षा के लिए पर्याप्त छात्रवृत्ति दी जाय किन्तु नौकरियो मे उनके लिए सीटें सुरक्षित नही रखी जानी चाहिए।

(ii) अन्य बातें समान रहने पर, सरकारी सेवाओ में अनुसूचित एव जन-जाति के व्यक्तियों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

इन दोनो सिद्धान्तो को मान लेने पर, पिछड़े वर्गों के सभी होनहार बालक उच्च शिक्षा ग्रहण कर सकेंगे और इन बालको को सरकारी सेवाओं मे भी प्राथमिकता मिलेगी किन्तु अयोग्य तथा कम कुशलता वाले व्यक्ति पृष्ठ द्वार से सरकारी सेवाओं मे प्रवेश नही पा सकेंगे।

(२) स्वतन्त्रता का अधिकार (Right to Freedom)

दूसरा मौलिक अधिकार नागरिक स्वतन्त्रता का है। भारत के प्रत्येक नागरिक

को विचार, भाषण तथा सम्पत्ति आदि रखने का अधिकार है। आर्थिक अधिकार निम्नलिखित हैं :

(i) संघ या संगठन बनाना—भारत के प्रत्येक नागरिक को संगठन या संघ बनाने तथा उनमें सम्मिलित होने का अधिकार है। इस अधिकार के अन्तर्गत सरकारी कर्मचारी श्रमिक संघों अथवा अन्य संगठनों के सदस्य बन सकते हैं। इस प्रकार भारत के प्रत्येक नागरिक को संघ या संगठन बना कर अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने का अधिकार दिया गया है।

संघ या संगठन बनाने के बारे में यह बात ध्यान रखने योग्य है कि राष्ट्रीय हित में सरकार किसी संघ या संगठन पर प्रतिबन्ध लगा सकती है या उसे गैर कानूनी घोषित कर सकती है। किन्तु सरकार को यह सिद्ध करना पड़ेगा कि अमुक संघ या संगठन राष्ट्रीय एकता के विरुद्ध है या जनहित की अवहेलना करता है अथवा नैतिकता के प्रतिकूल है। वास्तव में, इस प्रकार की व्यवस्था करना बहुत आवश्यक है क्योंकि राष्ट्र विरोधी तत्वों के प्रभाव से जन-जीवन को मुक्त रखना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

(ii) सम्पत्ति—नागरिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत ही भारत के प्रत्येक नागरिक को सम्पत्ति खरीदने, सम्पत्ति बेचने तथा सम्पत्ति रखने का अधिकार दिया गया है। यह अधिकार मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति की रक्षा करता है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति कुछ सम्पत्ति (भूमि, मकान या मूल्यवान वस्तु) का स्वामी बनना चाहता है।

सम्पत्ति रखने के अधिकार के साथ ही यह व्यवस्था की गयी है कि यदि किसी व्यक्ति के कोई सम्पत्ति रखने से लोकहित का नुकसान पहुँचता हो तो सरकार इस अधिकार पर नियन्त्रण या रोक लगा सकती है। वास्तव में यदि एक व्यक्ति के अधिकार से अन्य व्यक्तियों के अधिकार का हनन होता हो तो इस प्रकार के अधिकार को मान्यता देना उचित नहीं है। इस दृष्टि से संविधान में सम्पत्ति सम्बन्धी जो अधिकार दिया गया है वह सर्वथा उचित एवं उपयुक्त है।

(iii) व्यवसाय की स्वतन्त्रता—इस वर्ग का तीसरा अधिकार भारत के प्रत्येक नागरिक को कोई व्यवसाय, व्यापार अथवा वाणिज्य करने की स्वतन्त्रता प्रदान करता है। इस अधिकार के अनुसार भारत का प्रत्येक नागरिक अपने लिए कोई भी पेशा या व्यवसाय चुनने के लिए स्वतन्त्र है, सरकार या अन्य कोई व्यक्ति उसे व्यवसाय चुनने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। सरकार किसी व्यक्ति पर कोई व्यवसाय चुनने पर रोक नहीं लगा सकती और उसमें बाधा नहीं डाल सकती।

इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग किये जाने का भय था अतः संविधान में यह व्यवस्था की गयी है कि यदि कोई कार्य, पेशा या व्यवसाय जनहित के विरुद्ध हो तो सरकार उस पर उचित नियन्त्रण लगा सकती है।

व्यवसाय की स्वतन्त्रता के बारे मे सविधान मे दो और बातो की व्यवस्था है जो निम्नलिखित हैं

(क) योग्यता निर्धारण—सरकार कोई व्यवसाय करने के लिए कुछ योग्यता निर्धारित कर सकती है और वह योग्यता प्राप्त किये बिना उस व्यवसाय को करने की छूट नही दी जा सकती। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति बिना पढ़े-लिखे या डाक्टरी की परीक्षा पास किये बिना डाक्टरी का पेशा अपनाना चाहता है तो सरकार उसे ऐसा करने की अनुमति नही देगी क्योंकि गलत व्यक्ति को डाक्टरी का अधिकार देने से जनता का स्वास्थ्य खतरे मे पडने का भय रहता है।

(ख) सरकार द्वारा व्यवसाय—यदि सरकार चाहे तो वह स्वय कोई व्यवसाय कर सकती है और देश के अन्य नागरिको को वह व्यवसाय करने की मनाही कर सकती है। उदाहरण रूप मे, भारत मे हवाई जहाज बनाने तथा कुछ वस्तुओ का आयात-निर्यात करने का अधिकार भारत सरकार के अपने हाथ मे है, निजी उद्योगपति तथा अन्य व्यापारी वह काम नही कर सकते।

वास्तव मे, इस धारा से नागरिको की व्यवसाय स्वतन्त्रता पर कुछ रोक लगती है किन्तु जनहित मे बहुत से काम सरकार के अधिकार में रहना ही अच्छा है। हवाई जहाज, हथियार आदि बनाना सरकार के हाथ मे रहना उचित है। भारत मे अधिकतर बैंक सरकारी अधिकार मे है जबकि कुछ बैंको को निजी तौर पर काम करने की अनुमति है। बैंको का देश के आर्थिक विकास मे महत्वपूर्ण योगदान हो सकता है, इसीलिए बडे बडे बैंको का राष्ट्रीयकरण किया गया है।

इन तथ्यो से स्पष्ट है कि भारत के नागरिको को व्यवसाय करने, सम्पत्ति रखने तथा अपने हितो की रक्षा के लिए व्यावसायिक सगठन बनाने की पर्याप्त छूट दी गई है।

(३) शोषण के विरुद्ध अधिकार (*Right against Exploitation*)

भारत मे समाजवाद लाने का प्रयत्न किया जा रहा है। समाजवाद में एक शोषण विहीन समाज की स्थापना करने की कल्पना की जाती है। भारतीय सविधान में यह व्यवस्था की गयी है कि देश के किसी भी नागरिक का शोषण नहीं किया जा सकेगा। इस सम्बन्ध में मुख्य रूप से दो व्यवस्थाएँ की गयी हैं.

(i) बेगार का अन्त—भारत में राजाओं तथा जागीरदारो द्वारा बेगार लेने की परम्परा रही है। बेगार का अर्थ है किसी व्यक्ति को बिना मजदूरी दिये काम लेना। इससे व्यक्ति का आर्थिक तथा मानसिक शोषण होता है। व्यक्ति का आत्म सम्मान बनाये रखने के लिए उसका शोषण समाप्त करना आवश्यक है। भारतीय सविधान मे बेगार लेना या किसी व्यक्ति को कोई काम करने के लिए मजबूर करना दण्डनीय अपराध घोषित किया गया है।

इस व्यवस्था का एक अपवाद यह है कि लोकहित मे सरकार द्वारा लोगों को काम करने के लिए बाध्य किया जा सकता है। यह व्यवस्था किसी भी दृष्टि से अनुचित नहीं कही जा सकती।

(ii) बालकों से काम लेना—भारतीय संविधान में बालकों के शोषण का भी अन्त करने का प्रयत्न किया गया है। इसमें यह व्यवस्था की गयी है कि किसी फैक्टरी या खान में १४ वर्ष से कम उम्र के बालक से काम नहीं लिया जायेगा।

उपरोक्त दोनों व्यवस्थाएँ शोषण की समाप्ति के लिये की गयी हैं।

(४) सम्पत्ति पर अधिकार (*Right to Property*)

भारतीय संविधान की सबसे विवादग्रस्त धारा ३१ रही है जिसमें भारतीय नागरिकों को सम्पत्ति रखने का अधिकार दिया गया है। समाजवाद के समर्थकों ने समय समय पर इस धारा को समाप्त करने या इसमें संशोधन करने की माँग की है।

इस धारा में भारत के नागरिक को सम्पत्ति पर अधिकार रखने की छूट दी है। लोकहित मे सरकार किसी व्यक्ति की सम्पत्ति अपने अधिकार मे ले सकती है किन्तु उस सम्पत्ति के बदले में उचित क्षति-पूर्ति या मुआवजा देना आवश्यक है।

भारत में जब जागीरदारी तथा जमींदारी उन्मूलन किया गया तब अनेक राज्यों के जमींदारी उन्मूलन कानून संविधान की इस धारा के विरुद्ध घोषित किये गये। इसलिये इस धारा मे संशोधन किये गये और भूमि सुधार को कानूनी बनाने की व्यवस्था की गयी। इसके अतिरिक्त राज्यों द्वारा पास किये गये जमींदारी उन्मूलन कानूनों को भी संवैधानिक सीमाओं के भीतर लाने के उपाय किये गये।

सम्पत्ति पर अधिकार देना मनुष्य की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति को मान्यता देना है किन्तु जब सम्पत्ति पर अधिकार से सामाजिक हित की हानि होती है तब व्यक्ति के अधिकार को सीमित करना बहुत आवश्यक होता है। इस दृष्टि से भारतीय संविधान की यह व्यवस्था सर्वथा उचित एवं स्वाभाविक है।

मौलिक अधिकारों की विशेषताएँ—समाजवाद के अनुकूल,

भारतीय संविधान मे जो मौलिक अधिकार देने की व्यवस्था की गयी है उनकी मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित मानी जा सकती हैं :

(१) इसमें प्रत्येक नागरिक को समान अधिकार दिया गया है जिससे नागरिक के गौरव में वृद्धि होती है और उसकी प्रतिष्ठा की रक्षा होती है।

(२) नागरिक को व्यवसाय करने तथा अपने हितों की रक्षा करने के लिए स्वतन्त्रता दी गयी है। इससे नागरिक के अधिकारों की रक्षा होती है और उसे न्याय मिलने की सम्भावना में वृद्धि होती है।

(३) नागरिक को शोषण से मुक्त रखने की व्यवस्था की गयी है क्योंकि उससे बेगार नहीं ली जा सकती और छोटे बच्चों को भी फैक्टरी के कठिन कार्य में नियोजित नहीं किया जा सकता।

(४) सम्पत्ति पर अधिकार देकर भी भारतीय सविधान द्वारा नागरिक की एक स्वाभाविक भावना का आदर किया गया है।

उपरोक्त सभी व्यवस्थाएँ समाजवाद के सिद्धान्तो के सर्वथा अनुकूल हैं।

निदेशक सिद्धान्त
[DIRECTIVE PRINCIPLES]

भारतीय सविधान द्वारा दिये गये मौलिक अधिकारो की विशेषता यह है कि देश का प्रत्येक नागरिक उन अधिकारो को कानूनी रूप मे माँग सकता है और उसे उनका प्रयोग करने का वैधानिक अधिकार है। इन अधिकारो की अवहेलना होने पर न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप किया जा सकता है। किन्तु सरकार को नीति सम्बन्धी मार्गदर्शन देने के लिए सविधान मे कुछ निदेशक सिद्धान्त घोषित किये गये हैं। यह सिद्धान्त सरकार का केवल मार्ग-दर्शन करने के लिए हैं। इनके आधार पर कोई व्यक्ति सरकार पर दावा नहीं कर सकता। सरकार इन निदेशक सिद्धान्तो पर चलने का प्रयत्न करती है। यह सिद्धान्त सरकार की दीर्घकालीन नीति के लिए निश्चित किये गये हैं।

विशेषताएँ

सक्षेप मे, निदेशक सिद्धान्तो की निम्नलिखित विशेषताएँ है

(१) यह केवल मार्ग-दर्शक है। इनके आधार पर सरकार पर दावा नही किया जा सकता।

(२) सरकार की आर्थिक तथा सामाजिक नीति इन सिद्धान्तो पर आधारित होनी चाहिए।

(३) यह सिद्धान्त भी समाजवादी दर्शन पर आधारित हैं।

आर्थिक सिद्धान्त

निदेशक सिद्धान्तो मे अधिकाश ऐसे हैं जो भारत सरकार की आर्थिक नीतियो को प्रभावित करते हैं। इनमे मुख्य सिद्धान्तो का विवेचन आगे किया जा रहा है

(१) **जीवन निर्वाह की पर्याप्त व्यवस्था**—भारत मे लगभग आधी जन सख्या ऐसी है जिसे दोनो समय भर पेट भोजन नही मिलता। जिन लोगो को पर्याप्त भोजन मिल जाता है उनमे से भी अधिकतर को रूखा सूखा भोजन मिलता है जिसमे पौष्टिक तत्त्वों की कमी होती है। पहले निदेशक सिद्धान्त मे यह माना गया है कि भारत के प्रत्येक नागरिक (पुरुष और स्त्री) को जीवन निर्वाह के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार है। इसका तात्पर्य यह है कि भारत के सविधान मे यह स्वीकार किया गया है कि सरकार को ऐसी आर्थिक नीति अपनानी चाहिए जिसके द्वारा प्रत्येक नागरिक को उचित भोजन, कपडा, रहने का स्थान तथा सामान्य शिक्षा की सुविधाएँ प्राप्त करने मे कठिनाई न हो।

(२) भौतिक साधनों का उचित वितरण—दूसरे निदेशक सिद्धान्त मे यह कहा गया है कि देश के भौतिक साधनो (भूमि तथा अन्य उत्पादक सम्पत्ति) का सारे समाज में इस ढङ्ग से वितरण होना चाहिए कि जिससे सभी को लाभ हो।

इस सिद्धान्त में यह स्वीकार किया गया है कि उत्पादन के साधनो का स्वामित्व तथा नियन्त्रण इस ढग से किया जाना चाहिए कि उनका फल समाज के सभी वर्गों को समान रूप से मिल सके। यह तभी सम्भव है जबकि उत्पादन के मुख्य साधनो पर सरकार द्वारा अधिकार कर लिया जाय क्योंकि निजी पूँजीपतियो के नियन्त्रण मे रहने से उत्पादन के स्रोतो का लाभ कुछ व्यक्तियो को ही मिल सकता है और इन कुछ व्यक्तियों मे भी सबको समान लाभ मिलने की सम्भावना नहीं है।

(३) आर्थिक सत्ता का सकेन्द्रण नहीं—तीसरे निदेशक सिद्धान्त का सम्बन्ध बहुत कुछ दूसरे सिद्धान्त मे कहा गया है कि देश के भौतिक साधनो का स्वामित्व तथा नियन्त्रण सम्पूर्ण समाज के हित मे होना चाहिए। यदि ऐसा होता है तो आर्थिक साधन और सम्पत्ति सारे समाज मे बटती रहती है उसका कुछ व्यक्तियों के हाथो मे सकेन्द्रण होना सम्भव ही नहीं है। तीसरा निदेशक सिद्धान्त सरकार से यह आशा करता है कि सरकार इस बारे म सजग रहगी कि देश की आर्थिक सत्ता या उत्पादन के साधन इने गिने व्यक्तियो के हाथों मे सकेन्द्रित न हो सकें।

आर्थिक सत्ता (धन तथा सम्पत्ति) थोड़े से व्यक्तियो के हाथ मे सकेन्द्रित होने से समाज मे आर्थिक विषमता को बढ़ावा मिलता है, सामाजिक भेद भाव मे भी वृद्धि होती है और अत मे देश का राजनीतिक स्वरूप भी बिगड़ने लगता है। इस दृष्टि से आर्थिक सत्ता का सकेन्द्रण रोकना सही अर्थों मे समाजवादी धारणा है और प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए आवश्यक है।

(४) समान काम के लिए समान वेतन—सविधान द्वारा निर्धारित चतुर्थ निदेशक सिद्धान्त मे व्यवस्था की गयी है कि 'समान काम के लिए समान वेतन दिया जाना चाहिए।' यह सिद्धान्त सामाजिक एव आर्थिक समानता की धारणा को स्वीकार करता है और प्रत्येक व्यक्ति द्वारा किये गये श्रम को समान महत्त्व देता है। यह सिद्धान्त भी पूरी तरह समाजवाद की मान्यताओं पर आधारित है।

(५) आर्थिक शोषण की मनाही—इस सिद्धान्त मे यह मत प्रकट किया गया है कि देश में ऐसे वातावरण का निर्माण किया जाना चाहिए जिससे आर्थिक कठिनाइयों के कारण मजदूरों या अन्य व्यक्तियो को अपनी शक्ति अथवा योग्यता से अधिक या क्षमता से अधिक कठोर काम न करना पड़े। यह स्थिति तभी आ सकती है जबकि प्रत्येक सक्षम व्यक्ति को उचित रोजगार मिल जाये और प्रत्येक व्यक्ति को जीवन निर्वाह के लिए उचित वेतन देने की व्यवस्था की जा सके।

(६) श्रमिकों के लिए निर्वाह मजदूरी—सविधान में सरकार को यह आदेश दिया गया है कि वह कानून द्वारा या सगठन मे परिवर्तन द्वारा ऐसी स्थिति का निर्माण करने की चेष्टा करेगी कि प्रत्येक व्यक्ति को पर्याप्त रोजगार मिलेगा और

जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त वेतन या मजदूरी दी जायेगी। यह सिद्धान्त बहुत कुछ सख्या (५) से मिलता जुलता है।

इस सिद्धान्त मे भारत ने प्रत्येक नागरिक के लिए एक "सुन्दर" (decent) जीवन स्तर की कल्पना की गयी है। इस प्रकार का जीवन स्तर देने के लिए भारतीय ग्रामो मे कुटीर उद्योग तथा सहकारी समितियो के विकास पर बल दिया गया है।

(७) कृषि तथा पशुपालन की उन्नति—भारतीय अर्थ व्यवस्था मे कृषि तथा पशु धन का विकास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। यदि किसान को नियमित रूप मे अच्छी फसल मिल सके और उसके पशुओं की किस्म बहुत बढ़िया हो तो देश के ग्रामो का कायाकल्प होने मे देर नहीं लगेगी।

इसी बात को आधार मानकर सविधान म यह व्यवस्था की गयी है कि सरकार कृषि को नवीनतम प्रणालियो को प्रोत्साहन देकर देश की कृषि को उन्नत करने के लिए विशेष प्रयत्न करेगी तथा दूध देने वाले तथा खेती मे काम आने वाले अन्य पशुओं की नस्ल सुधारने के लिए अधिकतम प्रयत्न करेगी। इसके लिए दूध देने वाले पशुओं का वध करने की भी मनाही की गयी है।

(८) काम करने का अधिकार तथा आर्थिक सहायता—सविधान के एक निदेशक सिद्धान्त में सरकार से यह माँग की गयी है कि वह प्रत्येक नागरिक के 'काम करने के अधिकार' की व्यवस्था करेगी अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपयुक्त रोजगार का प्रबन्ध किया जायेगा।

इसके साथ ही यह व्यवस्था भी की गयी है कि बेरोजगार व्यक्तियो, वृद्धों, बीमारो तथा अपगो को जीवन निर्वाह के लिए आर्थिक सहायता दी जायेगी। यह सिद्धान्त भी मनुष्य के आत्म गौरव तथा प्रतिष्ठा को उचित स्थान देता है।

क्या यह सिद्धान्त समाजवाद के अनुकूल हैं ?

भारतीय सविधान मे जो निदेशक सिद्धान्त दिये गये हैं वह समाजवाद की धारणा के सर्वथा अनुकूल हैं। निम्नलिखित तथ्यो से यह बात स्पष्ट हो जायेगी :

(१) समानता—समाजवाद आर्थिक विषमता को दूर कर गरीब और अमीर के भेद को समाप्त करने की माँग करता है। भारतीय सविधान के निदेशक सिद्धान्तो मे (i) उत्पादन के साधनो का उचित वितरण, (ii) आर्थिक सत्ता के सकेन्द्रण का अन्त, तथा (iii) समान काम के लिए समान वेतन का दृष्टिकोण रखा गया है। यह तीनो सिद्धान्त समाजवाद के समानता के आधार की पुष्टि करते हैं।

(२) रोजगार—समाजवादी व्यवस्था मे कोई भी व्यक्ति बेरोजगार नही रह सकता। निदेशक सिद्धान्तो मे प्रत्येक नागरिक को रोजगार प्राप्त करने का अधिकार दिया गया है और सरकार को यह आदेश दिया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपयुक्त काम की व्यवस्था की जाय।

(३) मजदूरी की दर—समाजवादी व्यवस्था म प्रत्येक व्यक्ति को जीवन

निर्वाह के लिए पर्याप्त वेतन या मजदूरी दी जाती है। निदेशक सिद्धान्तो मे नागरिक के दो अधिकारो को स्वीकार किया गया है :

(i) निर्वाह मजदूरी (ii) जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त साधन

इन दोनो सिद्धान्तो मे नागरिक के अच्छे जीवन स्तर के अधिकार को स्वीकार किया गया है और उसकी पूर्ति के लिए सरकार से आशा की गयी है। यह सर्वथा समाजवादी विचारधारा के अनुकूल है।

(४) सामाजिक सुरक्षा—समाजवाद मे प्राय प्रत्येक नागरिक को जन्म से लेकर मृत्यु तक सुरक्षा की गारटी दी जाती है। वहाँ वृद्धावस्था मे पेंशन तथा बीमारी मे तथा अपग होने पर आर्थिक सहायता देने की व्यवस्था की जाती है। भारतीय सविधान में भी बेरोजगारी, बीमारी, बुढ़ापा तथा अपंग होने पर आर्थिक सहायता देने का सुझाव दिया गया है। अत यह समाजवाद के अनुकूल है।

निदेशक सिद्धान्तों का पालन कहाँ तक हुआ है ?

यह सत्य है कि भारतीय संविधान मे दिये गये निदेशक सिद्धान्त बहुत श्रेष्ठ हैं। वह समाजवाद की धारणा के भी सर्वथा अनुकूल हैं। किन्तु अच्छे सिद्धान्त बनाना एक बात है, उनका पालन करना दूसरी बात है। अच्छे से अच्छे सिद्धान्तो का जब तक पालन नही किया जाय तब तक वह व्यर्थ हैं। अतः सिद्धान्तो को श्रेष्ठ मान कर सन्तोष नहीं किया जा सकता। जब तक उन सिद्धान्तो का पालन नही किया जाता, जनता को कोई लाभ नहीं हो सकता। इसलिए यह देखना आवश्यक है कि निदेशक सिद्धान्तो का कहाँ तक पालन किया गया है।

यदि गम्भीरता से देखा जाय तो पता लगेगा कि भारतीय सविधान के निदेशक सिद्धान्त सरकार की अलमारी मे बन्द पवित्र सिद्धान्त मात्र हैं, उनका भारतीय जनता पर लेशमात्र भी प्रभाव नहीं है। इसका अनुमान अलग-अलग सिद्धान्तो का विश्लेषण करने से हो सकता है।

(१) जीवन निर्वाह—पहले निदेशक सिद्धान्त मे भारतीय नागरिको को एक अच्छे जीवन स्तर के लिए साधन दिलवाने की बात कही गयी है। किन्तु आजादी के २५ वर्ष बाद आर्थिक नियोजन के २० वर्ष बाद भी भारतीय नागरिक का औसत जीवन स्तर बहुत नीचा है। भारत की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय केवल ४३ रुपये मासिक है जो निश्चय ही बहुत कम है। देश की कम से कम आधी जनता ऐसी है जो एक समय भूखी सो जाती है, देश के अधिकाश नागरिक ऐसे हैं जिन्हें पौष्टिक भोजन नहीं मिलता और लाखों व्यक्ति गर्मी, सर्दी, वर्षा सड़कों की पटरियो पर बिता देते हैं। इस स्थिति को किसी भी दृष्टि से सन्तोषजनक नही कहा जा सकता।

(२) आर्थिक साधन और सत्ता—भारतीय आजादी के बाद सरकार द्वारा जितनी समितियाँ और आयोग नियुक्त किये गये हैं उनमें से अधिकाश ने यह मत व्यक्त किया है कि भारत मे आर्थिक साधन कुछ व्यक्तियों के ही अधिकार में हैं और आर्थिक सत्ता का सकेन्द्रण कम होने के स्थान पर निरन्तर बढ़ता ही गया है। इससे

सरकार की आर्थिक नीति और उसके पालन करने की क्षमता का दिवालियापन ही सिद्ध होता है।

यह एक दुखद सत्य है कि देश की जनता को समाजवाद के नारो से गुमराह करने का ही प्रयत्न किया गया है। यह एक मान्य तथ्य है कि सरकार द्वारा इने-गिने पूँजीपतियो को ही उद्योग स्थापित करने के लाइसेंस दिये गये हैं। इसी प्रकार सरकारी नीति काला धन जमा करने वालों को परोक्ष रूप मे सरक्षण देती रही है।

आर्थिक सत्ता का सकेन्द्रण पूँजीपतियो तथा मन्त्रियो में अधिक हुआ है। दुर्भाग्य की बात है कि समाजवाद की निरन्तर घोषणा करने वाले मन्त्रियो के घर मे ब्याह शादियो पर लाखो रुपया पानी की तरह बहाया जाता है। क्या इतनी बडी रकमे मन्त्रियो के वेतन की कमाई से जमा की जा सकती हैं ?

तीसरी बात यह है कि भारत मे खेती योग्य सारी भूमि अभी भी किसान को नही मिल सकी है। भूमि पर नेताओं तथा नौकरशाही का अधिकार बढता जा रहा है। यह प्रवृत्ति भारतीय सविधान की धारणा के सर्वथा प्रतिकूल है।

(३) वेतन मान—भारत मे आर्थिक नियोजन के बीस वर्षों मे बहुत तेजी से मुद्रा स्फीति हुई है और मध्यवर्ग तथा नौकरी पेशा लोगो की आर्थिक स्थिति मे निरन्तर गिरावट आयी है। देश के विभिन्न उद्योगो तथा व्यवसायो मे काम करने वाले व्यक्तियो के वेतनो मे बहुत अधिक विषमता है। यहाँ तक कि केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार, बैंको आदि मे एक सरीखा काम करने वाले व्यक्तियो को ही बहुत भिन्न वतन मिलते हैं। इस स्थिति से समाज मे बहुत असन्तोष उत्पन्न हुआ है और हडतालो की सख्या मे वृद्धि हुई है।

वेतन मान के सिलसिले म जीवन निर्वाह मजदूरी (Living wage) तो अभी बहुत दूर है, सब वर्गों के मजदूरो को अभी न्यूनतम मजदूरी भी मिलनी आरम्भ नही हुई है। *महगाई के कारण सामान्य कर्मचारियो को वास्तविक मजदूरी (या वेतन)* निरन्तर गिरती जाती है जिससे उन्हे बहुत कष्ट होता है।

(४) बेरोजगारी मे वृद्धि—भारत की आर्थिक नीति मे समाजवाद की धारणा के सबसे विपरीत जो काम हो रहा है वह बढती हुई बेरोजगारी है। 'काम करने का अधिकार" अनेक नवयुवको के लिए सुनहला स्वप्न मात्र है। रोजगार देने वाले प्राय सभी क्षेत्रों मे जातिवाद, प्रदेशवाद, भाई भतीजा-वाद तथा भ्रष्टाचार व्याप्त है। इससे देश की युवा पीढी के मानस म क्रान्ति और नक्सलवादी धारणाएँ जोर पकडती जा रही हैं जो देश के सुखद भविष्य के लिए बहुत बडा खतरा है।

उपरोक्त सभी तथ्यो से स्पष्ट है कि *भारतीय सविधान के निदेशक सिद्धान्त* बहुत ही अच्छे और समाजवादी होने पर भी उनका सही अर्थो मे पालन नही किया गया है। वास्तव म भारत जैसे देश के लिए जहाँ गरीबी, अन्ध विश्वास और सामाजिक एव धार्मिक रूढियाँ प्रगति के रथ को सदा पीछे खीचती हैं, साधारण

उपचारों से काम चलने वाला नहीं है। इसके लिए अत्यन्त सशक्त एवं क्रान्तिकारी कदम उठाने होंगे जिसके लिए क्रान्तिकारी नेतृत्व की अत्यधिक आवश्यकता है।

अभ्यास प्रश्न

१. भारतीय संविधान की प्रस्तावना में वर्णित चार तत्त्वों के आर्थिक महत्त्व का विवेचन कीजिए।

२. भारतीय संविधान में नागरिकों को आर्थिक दृष्टि से कौन से मौलिक अधिकार दिये गये हैं ? उनकी विशेषताएँ लिखिए।

३ भारतीय संविधान में वर्णित निदेशक सिद्धान्तों का आर्थिक पक्ष प्रस्तुत कीजिए। क्या यह सिद्धान्त समाजवाद के अनुकूल हैं ?

४. भारतीय संविधान में वर्णित निदेशक सिद्धान्तों का सरकार द्वारा कहाँ तक पालन किया गया है ? उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।

३ केन्द्र तथा राज्यो के वित्तीय सम्बन्ध

(CENTRE STATE FINANCIAL RELATIONS)

भारत मे सघीय वित्त व्यवस्था

ससार के कुछ देश ऐसे हैं जिसमे एकछत्र शासन है। इसका अर्थ यह है कि उन देशों में केवल केन्द्र मे एक सरकार होती है और देश के सभी भागो की शासन व्यवस्था का पूरा उत्तरदायित्व इस पर होता है। इस प्रकार की शासन व्यवस्था ऐकिक (Unitary) कहलाती है। ऐसी शासन व्यवस्था मे आर्थिक अथवा वित्तीय नीतियाँ एक केन्द्र मे निर्धारित होती हैं और इन नीतियो का पालन करने मे कोई कठिनाई नही होती। इगलैंड मे इसी प्रकार की शासन व्यवस्था है।

दूसरी प्रकार की शासन व्यवस्था सघीय (Federal) होती है जिसमे अनेक राज्य होते हैं। यह राज्य स्वतन्त्र इकाइयाँ होती हैं किन्तु इनकी सुरक्षा (Defence) तथा मुद्रा (Currency) आदि की व्यवस्था केन्द्र से होती है। यह राज्य आन्तरिक प्रशासन, व्यवस्था तथा आर्थिक विकास के अनेक मामलो मे स्वतन्त्र नीति अपना सकते हैं। सयुक्त राज्य अमरीका तथा भारत सघीय प्रणाली के उदाहरण हैं।

सघीय प्रणाली और वित्त

सघीय शासन प्रणाली मे केन्द्र को अपना खर्च चलाने के लिए आय प्राप्त करनी होती है तथा राज्यों को अपनी योजनाएँ पूरी करने और शासन व्यवस्था ठीक रखने के लिए रकम की आवश्यकता होती है। दोनो मे आपसी मतभेद से बचने के लिए प्राय सविधान मे यह स्पष्ट व्यवस्था कर दी जाती है कि केन्द्र द्वारा कौन से कर लगाये जा सकते हैं और राज्यों को आय प्राप्त करने के लिए कौन से कर लगाने का अधिकार है। दोनो ही शासन व्यवस्थाएँ सविधान के अनुसार अपनी सीमा में कर लगाती हैं और आमदनी प्राप्त करती हैं।

अनेक बार ऐसा होता है कि सविधान मे ऐसी व्यवस्था की जाती है कि अमुक कर केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाये जायेंगे किन्तु इनमे राज्य सरकारो को

अमुक भाग मिल सकेगा। इस प्रकार राज्य सरकारों को केन्द्र की कुल वसूली में से कुछ भाग मिलता है।

संघीय शासन व्यवस्था की तीसरी विशेषता यह है कि अनेक बार कुछ विकास योजनाएँ केन्द्रीय सरकार द्वारा बनायी जाती हैं। इन योजनाओं का खर्च सम्पूर्ण रूप में या आंशिक रूप में केन्द्रीय सरकार वहन करती है। कभी-कभी राज्यों को अपने बजट में घाटा रहता है और केन्द्रीय सरकार उसे पूरा करने लिए अनुदान देती है इस प्रकार राज्यों तथा केन्द्र के वित्तीय सम्बन्धों की मुख्य बातें तीन हैं :

(१) कर के निश्चित क्षेत्र—केन्द्र तथा राज्य अपने लिए निर्धारित मदों या क्षेत्रों में ही कर लगा कर आय प्राप्त करते हैं।

(२) करों में हिस्सा—अनेक बार केन्द्र द्वारा वसूल किये गये कुछ करों में राज्य सरकारों का कुछ हिस्सा होता है। यह भाग संविधान द्वारा निर्धारित होता है या किसी आयोग की सिफारिशों के अनुसार निर्धारित किया जाता है।

(३) अनुदान—विकासशील अर्थ-व्यवस्था में केन्द्र द्वारा प्राय: राज्य सरकारों को वार्षिक अनुदान दिये जाते हैं जिनमें राज्य सरकारों को अपने वित्तीय घाटे की पूर्ति करने में सहायता मिलती है।

भारत में केन्द्र तथा राज्यों के वित्तीय सम्बन्ध—विशेषताएँ :

भारतीय संविधान की धारा २४५ से ३०० तक में यह व्यवस्था की गयी कि केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों में किस प्रकार के सम्बन्ध होंगे। वित्तीय सम्बन्धों का वर्णन २६४ से ३०० तक की धाराओं में किया गया है। इन सम्बन्धों की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

(१) कर (Taxes)

केन्द्र तथा राज्य सरकारों को विभिन्न मदों पर कर लगाने के अधिकार दिये गये हैं। यह अधिकार निम्नलिखित भागों में वर्गीकृत किये जा सकते हैं :

(क) कर जो केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाये जाते हैं किन्तु जिनकी वसूली राज्य सरकारें करती हैं तथा जिनसे प्राप्त आय भी राज्य सरकारों को ही मिलती है :

इस प्रकार के करों की व्यवस्था भारतीय संविधान की धारा २६८ में की गयी है। इस वर्ग में निम्नलिखित कर सम्मिलित हैं :

औषधियों या शृंगार प्रसाधनों पर ऐसे मुद्रांक कर (*Stamp duty*) तथा उत्पादन कर (*Excise duty*) जिनका वर्णन संघीय सूची में किया गया है। इन करों से प्राप्त पूरी रकम राज्य सरकारों को ही मिलती है।

(ख) कर जो केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाये जाते हैं और जिनकी वसूली भी केन्द्रीय सरकार ही करती है किन्तु जिनकी पूरी आय राज्य सरकारों को दे दी जाती है :

(i) कृषि भूमि के अतिरिक्त, उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति पर कर।

(ii) कृषि भूमि के अतिरिक्त सम्पदा कर।

(iii) रेल, समुद्र या हवाई मार्ग से ले जाये गये यात्रियो तथा माल पर लगाये गये सीमा कर (चुंगी आदि)।

(iv) रेल किराये तथा भाड़े पर कर।

(v) स्कन्ध विनिमयों (*Stock Exchanges*) मे किये गये सौदो तथा वायदे के सौदों पर कर (मुद्राक कर को छोडकर)।

(vi) समाचार पत्रो की खरीद तथा बिक्री पर कर तथा उनमे प्रकाशित विज्ञापनो पर कर।

(vii) समाचार पत्रो के अतिरिक्त अन्य वस्तुओ के एक राज्य से दूसरे राज्य में खरीद या बिक्री पर कर।

इन सब करो की दरें केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्धारित की जाती हैं किन्तु इनकी वसूली राज्य सरकारें करती हैं और अपने-अपने क्षेत्र मे की गयी वसूली उन राज्यों की ही आय होती है।

एक राज्य से दूसरे राज्य मे होने वाले आपसी व्यापार के बारे मे भारतीय लोक सभा को कानून बनाने का अधिकार दिया गया है।

(ग) कर जो केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाये जाते हैं, केन्द्रीय सरकार ही जिनको वसूली करती है किन्तु जिनकी आय का वितरण केन्द्र तथा राज्यों में होता है :

भारतीय संविधान की धारा २७० मे उन करो का ब्योरा दिया गया है जिनकी वसूली केन्द्रीय सरकार द्वारा की जाती है तथा जिनकी दरें भी केन्द्रीय सरकार ही निश्चित करती है किन्तु इन करों से प्राप्त रकम का बंटवारा केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकार दोनो में होता है। यह बटवारा किस आधार पर होगा इसका निर्धारण करने के लिए हर पांचवें वर्ष एक वित्त आयोग (*Finance Commission*) नियुक्त करने की व्यवस्था की गयी है, वित्त आयोग यह सुझाव देता है कि ऐसे करो से प्राप्त आय का बटवारा किस अनुपात से किया जाना चाहिए।

इस श्रेणी मे केवल आय कर सम्मिलित है। केन्द्र तथा राज्यों मे बटने वाला इस कर का अनुपात प्राय: बदलता रहा है।

केन्द्र के लिए अधिभार—भारतीय संविधान की धारा २६६ तथा २७० में जो व्यवस्थाएँ (ऊपर ख तथा ग के अनुसार) की गयी हैं उनके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार इन दोनो वर्गों में लगाये गये करो पर अधिभार लगा सकती है या उसमे वृद्धि कर सकती है। इस अधिभार की पूरी आमदनी केन्द्रीय सरकार के प्रयोग के लिए काम मे ली जा सकती है।

(घ) कर जो केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाये जाते हैं, केन्द्रीय सरकार द्वारा ही वसूल किये जाते हैं तथा जिनका वितरण केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों मे किया जा सकता है :

इस वर्ग मे केवल सघीय आबकारी कर (Union Excise Duty) सम्मिलित है। यदि केन्द्रीय सरकार चाहे तो इस कर का एक भाग राज्य सरकारों को दे सकती है। पिछले वर्षों मे इस कर का एक भाग राज्यो को देने की परम्परा बन गयी है। अत अब यह कर राज्यो की आय का एक नियमित भाग बन गया है।

वह कर जो केन्द्रीय सरकार लगा सकती है ·

भारतीय सविधान की अनुसूची ७ मे केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारो के अधिकार क्षेत्रो का स्पष्टीकरण किया गया है। इसके अनुसार केन्द्रीय सरकार द्वारा निम्नलिखित कर लगाये जा सकते हैं

(i) आय कर (कृषि से प्राप्त आय को छोड़कर)।

(ii) कस्टम या चु गी (आयात तथा निर्यात पर)।

(iii) शराब, अफीम तथा कुछ अन्य नशे वाली औषधियों को छोड़कर तम्बाकू तथा अन्य वस्तुओ पर उत्पादन कर (Excise Duty)।

(iv) निगम कर (Corporation Tax)।

(v) व्यक्तियो तथा कम्पनियो की पूँजी पर कर।

(vi) कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्तियो पर सम्पदा कर।

(vii) जल तथा स्थल मार्ग (विशेषकर रेल मार्ग) द्वारा ढोये गये माल और यात्रियो पर कर और उनके किराये तथा भाड़े पर शुल्क।

(viii) बेचान साध्य विलेखो (Negotiable Instruments), साख पत्रो, बीमा पालिसियो, अशो के हस्तान्तरण विलेखो तथा ऋण पत्रो आदि पर लगाया गया मुद्राक कर।

(ix) स्कन्ध विनिमय बाजार मे किये गये सौदो तथा वायदे के सौदो पर मुद्राक कर के अतिरिक्त लगाये गये कर।

(x) समाचार पत्रो के क्रय-विक्रय तथा उनमे छपे विज्ञापनो पर कर।

(xi) अन्तरराष्ट्रीय क्रय विक्रय पर कर।

वह कर जो राज्य सरकारें लगा सकती हैं

सविधान की अनुसूची, के अनुसार राज्य सरकारें जो कर लगा सकती हैं उनमे मुख्य निम्नलिखित हैं

(i) भूमि पर लगान।

(ii) कृषि आय पर कर।

(iii) कृषि भूमि के उत्तराधिकार पर कर।

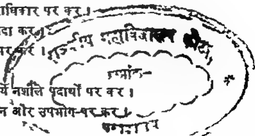
(iv) कृषि भूमि पर सम्पदा कर।

(v) भूमि तथा मकानो पर कर।

(vi) खनिजो पर कर।

(vii) राज्यो मे बनाये गये नशीले पदार्थों पर कर।

(viii) बिजली के उत्पादन और उपभोग पर कर।



(ix) माल की खरीद और बिक्री पर कर।
(x) समाचार पत्रो के अतिरिक्त विज्ञापनो पर कर।
(xi) अतिरिक्त जल तथा स्थल मार्गों से यात्रियो तथा माल पर कर।
(xii) विभिन्न प्रकार की गाडियों पर कर।
(xiii) पशुओ तथा नावो पर कर।
(xiv) व्यवसाय पर कर।
(xv) मनोरजन, शर्त तथा जुये पर कर।
(xvi) मुद्राक कर (Stamp Duty)।

(२) समेकित निधि (Consolidated Fund)

भारतीय सविधान मे राज्यो तथा केन्द्रीय सरकार के बीच करो की आय के वितरण के अतिरिक्त दूसरी व्यवस्था समेकित निधि के बारे मे की गयी है। इस व्यवस्था के अनुसार केन्द्रीय सरकार द्वारा करो से प्राप्त आय (जो सविधान के अनुसार केन्द्रीय सरकार के हिस्से की है) का सम्पूर्ण भाग एक समेकित निधि में डाल दिया जाता है। केन्द्रीय सरकार जो ऋण आदि प्राप्त करती है वह रकमें भी समेकित निधि में डाली जाती है सरकार के सब खर्च इस निधि में से ही चलाये जाते हैं।

केन्द्रीय समेकित निधि की भाँति ही प्रत्येक राज्य में भी एक समेकित निधि है। सविधान में व्यवस्था की गयी है कि राज्य सरकारो की आय तथा प्राप्त ऋणो की सब रकमे इस निधि में डाली जाती हैं।

केन्द्रीय समेकित निधि मे से कोई भी रकम लोकसभा की अनुमति के बिना खर्च नही की जा सकती। इसी प्रकार राज्य समेकित निधि मे से रकम खर्च करने के लिए विधान सभा की अनुमति आवश्यक है। यह अनुमति प्रति वर्ष बजट रूप में प्राप्त की जाती है। यदि सरकार को निर्धारित रकम से अधिक राशि खर्च होने की आशका हो तो लोकसभा या विधान सभा में पूरक माँगें (Supplementary demands) पास करवानी पडती हैं।

(३) सहायता अनुदान (Grants-in-Aid)

भारतीय राज्यों मे से अधिकाश की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है। योजनाओं के कारण प्राय सभी राज्यों को बडी-बडी रकमे खर्च करनी पडती हैं। प्रजातन्त्र की सम्भवत सबसे बडी कमजोरी यह है कि जनता पर बहुत अधिक कर लगाना सम्भव नहीं है। अत राज्य सरकारो के कर के साधन बहुत सीमित रह गये हैं।

इन कारणों से प्राय सभी राज्यों को कुछ नियमित खर्च चलाने के लिए भी केन्द्र का मुँह ताकना पडता है। भारतीय सविधान की धारा २७५ के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गयी है कि महत्त्वपूर्ण योजनाओं की पूर्ति के लिए केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को अनुदान दे सकती है। यह अनुदान परिस्थितियो तथा आवश्यकताओं के

अनुसार बदल सकते हैं। यह अनुदान पूँजीगत व्यय अथवा नियमित खर्च की पूर्ति के लिए हो सकते हैं और इनकी राशि आवश्यकतानुसार निर्धारित की जा सकती है।

विशेष अनुदान—भारतीय संविधान की धारा २७३ में असम, बिहार, उड़ीसा तथा पश्चिमी बंगाल की राज्य सरकारों को पटसन तथा पटसन के सामान के निर्यात पर लगाये गये निर्यात कर के बदले में सहायता देने की व्यवस्था की गयी थी। यह व्यवस्था पहले दस वर्ष (१९५१ से) के वास्ते की गयी थी अतः इसे समाप्त कर दिया गया है।

(४) ऋण (Borrowings)

भारतीय संविधान की धारा २९२ के अनुसार भारत सरकार को ऋण लेने की अनुमति दी गयी है। यह ऋण देश के नागरिकों अथवा विदेशों से लिए जा सकते हैं। इन ऋणों की सीमा भारतीय लोकसभा द्वारा निर्धारित की जाती है और सरकार इन सीमाओं के भीतर ही ऋण ले सकती है, अधिक नहीं।

भारत सरकार की भाँति ही राज्य सरकारों को भी ऋण लेने की अनुमति दी गयी है, संविधान की धारा २९३ में यह व्यवस्था की गयी है कि राज्य सरकारें अपने देश में ही ऋण ले सकती हैं (विदेशों में नहीं)। इन ऋणों की सीमा राज्यों की विधान सभा द्वारा निश्चित की जाती है तथा ऋण राज्य सरकार की गारन्टी पर ही लिए जाते हैं।

केन्द्र से ऋण—राज्य सरकारें जनता के अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार से भी ऋण ले सकती हैं। भारतीय संविधान केन्द्रीय सरकार द्वारा इस प्रकार के ऋण देने की अनुमति प्रदान करता है।

(५) विविध (Miscellaneous Relations) सम्बन्ध

केन्द्र तथा राज्य सरकारों में कुछ अन्य वित्तीय सम्बन्ध भी हैं जिन्हें विविध की श्रेणी में रखा जा सकता है। यह सम्बन्ध निम्नलिखित हैं :

(i) **कर मुक्ति**—राज्यों के क्षेत्र में स्थित केन्द्रीय सरकार की सम्पत्ति पर राज्य, नगरपालिका अथवा पंचायत द्वारा कोई कर नहीं लगाया जा सकता।

(ii) **बिजली**—केन्द्रीय सरकार जितनी बिजली का उपभोग करती है उस पर राज्य सरकार द्वारा कोई कर वसूल नहीं किया जा सकता।

(iii) **घाटी योजनाएँ**—केन्द्रीय सरकार द्वारा किसी भी राज्य के क्षेत्र के अन्तर्गत नदी घाटी योजनाओं से उत्पन्न बिजली या पानी पर राज्य सरकार द्वारा कोई कर नहीं लगाया जा सकता।

(iv) **राज्य सरकार**—राज्य सरकारों की सम्पूर्ण सम्पत्ति तथा आमदनी पर केन्द्रीय सरकार कोई कर वसूल नहीं कर सकती।

इस प्रकार केन्द्रीय सरकार राज्य सरकार से तथा राज्य सरकारें केन्द्रीय सरकार से कर के रूप में कोई रकमे वसूल नहीं कर सकतीं। यह व्यवस्था सुविधा की दृष्टि से बहुत अच्छी है।

(६) वित्त आयोग (Finance Commissions)

भारतीय संविधान की धारा २८० में यह व्यवस्था की गयी है कि भारत के राष्ट्रपति द्वारा पाँचवें वर्ष एक वित्त आयोग की नियुक्ति की जायेगी। यह नियुक्ति पाँच वर्ष से पहले भी की जा सकती है। वित्त आयोग में एक अध्यक्ष तथा चार अन्य सदस्य हो सकते हैं कि जिनकी नियुक्ति भी राष्ट्रपति द्वारा की जाती है।

वित्त आयोग के सदस्यों की योग्यता तथा उनकी नियुक्ति की विधि भारतीय लोकसभा द्वारा निश्चित की जा सकती है किन्तु अब तक की परम्परा यह रही है कि वित्त आयोग मे प्राय राजनयिक, अर्थशास्त्री, प्रशासक तथा न्यायशास्त्रियों को सदस्य बनाया जाता रहा है।

कार्य- वित्त आयोग के निम्नलिखित कार्य निर्धारित किये गये हैं :

(१) कर की रकम का विभाजन—वित्त आयोग अपनी रिपोर्ट मे यह सलाह देता है कि केन्द्र तथा राज्यों के बीच बाँटी जाने वाली करों की रकम कितनी होनी चाहिए तथा वह किस अनुपात मे बाँटी जानी चाहिए।

(२) अनुदान—वित्त आयोग का दूसरा काम इस बारे में सलाह देना है कि केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्यों को सहायता अनुदान किन सिद्धान्तों के अनुसार दिये जाने चाहिए।

(३) अन्य—यदि राष्ट्रपति किसी अन्य वित्तीय समस्या के बारे मे सलाह चाहें तो देश की श्रेष्ठ वित्तीय व्यवस्था के हित में उचित सलाह देना।

वित्त आयोग को अपने काम की पूर्ति के बारे में व्यापक अधिकार होते हैं। वह विभिन्न क्षेत्रों की राय ले सकता है तथा राज्यों मे प्रशासकों, अर्थशास्त्रियो तथा व्यवसायियो आदि से विचार-विमर्श करने के पश्चात् अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करता है।

वित्त आयोग की रिपोर्ट भारत के राष्ट्रपति को प्रस्तुत की जाती है और राष्ट्रपति उसे भारतीय संसद के सामने प्रस्तुत कर देते हैं। भारत सरकार प्राय रिपोर्ट के साथ-साथ अपने विचार भी संसद के सामने रख देती है।

भारत मे वित्त आयोग तथा उनकी सिफारिशें
[FINANCE COMMISSIONS AND THEIR RECOMMENDATIONS IN INDIA]

भारतीय संविधान की धारा २८० के अनुसार पहले वित्त आयोग की नियुक्ति संविधान लागू होने के दो वर्ष के भीतर होनी थी। अतः पहला वित्त आयोग १९५१ में नियुक्त किया गया जिसके अध्यक्ष श्री क्षितीशचन्द्र नियोगी (K C. Neyogi) थे। दूसरे वित्त आयोग की नियुक्ति १९५७ मे हुई और श्री के० सथानम् उसके अध्यक्ष थे तथा तीसरा वित्त आयोग १९६१ में ए० के० चन्दा की अध्यक्षता में

नियुक्त किया गया। चौथा वित्त आयोग १९६४ में नियुक्त किया गया और इसकी अध्यक्षता न्यायमूर्ति पी० वी० राजमन्नार द्वारा की गयी। पाँचवाँ वित्त आयोग २९ फरवरी १९६८ को श्री महावीर त्यागी की अध्यक्षता में नियुक्त किया गया। इसकी नियुक्ति कुछ पहले की गयी ताकि १९६९ में आरम्भ होने वाली चौथी पंचवर्षीय योजना में इसके सुझावों को कार्यान्वित किया जा सके।

भारत के पाँचों वित्त आयोगों द्वारा विभिन्न पहलुओं पर सुझाव दिये गये हैं जिन्हें प्रायः भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया है। उन आयोगों द्वारा महत्व-पूर्ण करों के वितरण के बारे में जो सिफारिशें की गयीं उनका ब्यौरा आगे दिया जा रहा है :

(१) आय कर का वितरण

भारत में आय कर की दरें प्रति वर्ष बजट में भारत सरकार द्वारा निर्धारित की जाती हैं। आय कर से जितनी रकम वसूल होती है उसका एक भाग राज्य सरकारों को दे दिया जाता है।

आय कर की रकम के वितरण के बारे में वित्त आयोग को तीन बातें निश्चित करनी होती हैं

(i) केन्द्र शासित प्रदेशों को आय कर से प्राप्त शुद्ध आय का कौन सा भाग मिलना चाहिए।

(ii) राज्य सरकारों को आयकर की शुद्ध आमदनी में से कितना हिस्सा दिया जाना चाहिए।

(iii) राज्यों तथा केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों को दिये जाने वाले भाग के बाँटने का क्या आधार होना चाहिए।

आगे इन तीनों समस्याओं के सम्बन्ध में वित्त आयोगों के सुझाव पर प्रकाश डाला जा रहा है :

(१) केन्द्र शासित प्रदेशों का भाग—पहले वित्त आयोग द्वारा आय कर की शुद्ध आय में केन्द्र शासित प्रदेशों का भाग २·७५ प्रतिशत निश्चित किया था। इससे पहले भारत में A, B, C श्रेणी के राज्य थे। C श्रेणी के राज्यों को आय कर की कुल प्राप्ति का १ प्रतिशत भाग दिया जाता था। प्रथम वित्त आयोग ने C श्रेणी के राज्यों को आय कर की शुद्ध आय का २·७५ प्रतिशत देने का सुझाव दिया। तीसरे आयोग ने इसकी राशि २.५० प्रतिशत करने की सिफारिश की तथा पाँचवें वित्त आयोग ने इस राशि को २.६० प्रतिशत कर देने का सुझाव दिया है जिसको भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार अब आय कर की कुल प्राप्ति का २.६० प्रतिशत भाग केन्द्र शासित प्रदेशों को दे दिया जाता है।

(२) राज्यों का भाग—प्रथम वित्त आयोग की नियुक्ति से पहले C श्रेणी के राज्यों को छोड़कर (जो केन्द्र प्रशासित थे) अन्य राज्यों को आयकर की शुद्ध आय का ५० प्रतिशत भाग दिया जाता था। प्रथम वित्त आयोग ने यह भाग ५५

प्रतिशत तथा दूसरे आयोग ने इसे ६० प्रतिशत करने का सुझाव दिया। तीसरे वित्त आयोग ने राज्यो का अश ६६⅔ करने की सिफारिश की तथा चौथे आयोग ने यह भाग ७५ प्रतिशत कर देने का सुझाव दिया। पांचवें वित्त आयोग ने भी राज्यो का हिस्सा ७५ प्रतिशत ही बनाये रखने की सिफारिश की। भारत सरकार ने सभी वित्त आयोगो की सिफारिशों को बिना कोई परिवर्तन किये स्वीकार किया है।

(३) वितरण का आधार —राज्यों को आय कर का अश वितरित करने में प्राय दो आधार रहे हैं पहला आधार जन सख्या और दूसरा आधार कर वसूली की कुल रकम। यह बात स्पष्ट है कि आर्थिक दृष्टि से पिछडे हुए राज्यो में प्राय बहुत कम रकम आय कर के रूप मे वसूल होती है जबकि महाराष्ट्र, बगाल तथा तमिलनाडु जैसे राज्यो मे आय कर की अधिकाश रकम वसूल होती है। अत कर वसूली को आधार मानने पर आय कर की अधिकतर रकम वापस उन्ही राज्यो को मिल जाती जो पहले ही काफी सम्पन्न और उन्नत हैं। अत सभी वित्त आयोगो ने आय कर का अश बाँटने मे जन सख्या को अधिक और कर वसूली की रकम को कम महत्त्व दिया है।

पहले वित्त आयोग ने आय कर की बाँटी जाने वाली रकम का ८० प्रतिशत भाग जन सख्या के आधार पर तथा २० प्रतिशत कर वसूली के आधार पर बाँटने का सुझाव दिया था। दूसरे आयोग ने ९० प्रतिशत रकम जन सख्या के आधार पर बाँटने की सिफारिश की किन्तु तीसरे तथा चौथे आयोगो ने ८० प्रतिशत रकम को जन सख्या के आधार पर बाँटने का सुझाव दिया है। पांचवें वित्त आयोग ने दूसरे वित्त आयोग के मत से सहमति प्रकट की है और बाँटी जाने वाली रकम का ९० प्रतिशत भाग जन सख्या के आधार पर तथा १० प्रतिशत भाग कर वसूली के आधार पर बाँटने का सुझाव दिया है।

इस प्रकार सभी वित्त आयोगो ने जन सख्या को अधिक महत्त्व दिया है ताकि कम विकसित राज्यो को पर्याप्त सहायता मिल सके। इस दृष्टि से पाँचवें वित्त आयोग की सिफारिश समाजवादी धारणाओ के अधिक अनुकूल है।

(२) सघीय आबकारी कर (Union Excise Duty)

भारतीय सविधान म आय कर का एक भाग तो राज्य सरकारो को देना अनिवार्य है किन्तु धारा २७२ में यह व्यवस्था की गयी है कि यदि सरकार चाहे तो ससद द्वारा कानून पास करवा कर केन्द्रीय उत्पादन कर का कुछ भाग भी राज्य सरकारो को बाँटा जा सकता है। अत केन्द्रीय आबकारी कर की आय मे से कोई भाग राज्यों को बाँटना अनिवार्य नहीं है।

भारतीय सविधान मे उत्पादन कर का एक भाग राज्यों मे बाँटना अनिवार्य नही है। प्रथम वित्त आयोग की नियुक्ति से पहले भारत सरकार द्वारा इस मद की आय में से राज्यो को कोई रकम नही दी जाती थी। पहले वित्त आयोग ने तम्बाकू (सिग्रेट तथा सिगार सहित), दियासलाई तथा वनस्पति पदार्थों पर लगाये गये उत्पादन

कर का ४० प्रतिशत भाग राज्यों में वितरित करने का सुझाव दिया। यह वितरण राज्यों की जन संख्या के आधार पर करने की सिफारिश की गयी। दूसरे वित्त आयोग ने भी जन संख्या के आधार पर वितरण को उचित ठहराया।

तीसरे वित्त आयोग ने ३५ वस्तुओं पर लगाये गये उत्पादन कर का २० प्रतिशत भाग राज्यों में बाँटने का सुझाव दिया। इस आयोग ने जन संख्या के अतिरिक्त विभिन्न राज्यों के आर्थिक विकास या आर्थिक दुर्बलता को भी महत्त्व दिया है और सब बातों को ध्यान में रखकर विभिन्न राज्यों में वितरण की प्रतिशतें निश्चित कर दीं।

चौथे वित्त आयोग ने भी संघीय उत्पादन कर का २० प्रतिशत भाग राज्यों को देने का सुझाव दिया। इस आयोग ने वितरण का ८० प्रतिशत आधार जन संख्या और २० प्रतिशत आर्थिक पिछड़ापन बतलाया। आयोग ने इसी आधार पर अलग-अलग राज्यों को दिये जाने वाले भाग का अनुमान लगा कर प्रतिशत निर्धारित कर दी। पाँचवें वित्त आयोग ने भी इसी आधार को स्वीकार किया है।

करों में से राज्यों को स्थानान्तरित रकम

ऊपर दिये गये विवरण से स्पष्ट है कि केन्द्रीय सरकार द्वारा आय कर तथा संघीय उत्पादन कर की आय में से नियमित रूप में कुछ रकम राज्यों को स्थानान्तरित की जाती रही है। इस रकम की राशि में नियमित रूप में वृद्धि हुई है जिसका अनुमान निम्नलिखित तथ्यों से लगता है :

केन्द्र से राज्यों को कर-भाग स्थानान्तरण

(करोड़ रुपयों में)

	कुल रकम	वार्षिक आय
प्रथम योजना काल	३५३	७०
द्वितीय योजना काल	७१०	१४२
तृतीय योजना काल	११९६	२३९
१९६६-६७ से १९६८-६९	१२७९	४२६
१९६९-७० से १९७१-७२	२२२७	७४२

इस तालिका से स्पष्ट है कि राज्यों को केन्द्र से करों के अंश से मिलने वाली रकम में निरन्तर वृद्धि हो रही है। इस वृद्धि के दो कारण हैं :

(i) अधिक आय—पहला कारण यह है कि करों की रकम में निरन्तर वृद्धि हो रही है क्योंकि सरकार द्वारा करों की दर में नियमित वृद्धि की जा रही है। प्रायः सभी वस्तुओं पर उत्पादन कर में वृद्धि हुई है तथा आय कर की दरें भी बढ़ती ही गयीं हैं। इस बढ़ती हुई आय में से स्वाभाविक रूप में राज्यों का हिस्सा भी बढ़ा है।

(ii) बढ़ता हुआ भाग—प्रत्येक वित्त आयोग ने राज्यों का हिस्सा भी बढ़ाने की सिफारिश की है। पहले वित्त आयोग से पहले राज्यों को आय कर की कुल

आय मे से केवल ५० प्रतिशत भाग मिलता है जो बढकर अब ७५ प्रतिशत हो गया है। इससे भी राज्यो को पहले से अधिक रकम मिलती रही है।

अनुदान (Grants in-aid)

वित्त आयोगो द्वारा राज्यो को दिये जाने वाले अनुदानो के बारे मे भी सिफारिश करनी होती है। यह अनुदान प्राय योजनाओ के घाटे को पूरा करने के वास्ते दिये जाते हैं या कुछ विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए देने की व्यवस्था की जाती है। वित्त आयोग प्राय आर्थिक दृष्टि से पिछडे हुए राज्यो को अधिक अनुदान देने का सुझाव देते रहे हैं।

पाँचवें वित्त आयोग ने चौथी पचवर्षीय योजना काल मे राज्यो को कुल ६३८ करोड रुपये के अनुदान देने का सुझाव दिया है जिसमे से सबसे अधिक रकम उडीसा तथा असम जैसे बहुत पिछडे राज्यो को तथा शेष रकम सात राज्यो को देने की सिफारिश की गयी है।

योजना काल मे (१९५१-५२ से १९७१-७२) भारत सरकार द्वारा राज्यो को कुल ५४६० करोड रुपये की रकम अनुदान मे दी गयी है—ऐसा अनुमान लगाया गया है। इस प्रकार अनुदान का वार्षिक औसत लगभग २४३ करोड रुपया है। पिछले तीन वर्षों में अनुदान की वार्षिक औसत ६०० करोड रुपये से अधिक रही है अत स्पष्ट है कि राज्यो की केन्द्रीय सरकार पर निर्भरता निरन्तर बढती जा रही है। यह स्थिति निश्चय ही सतोषजनक नही कही जा सकती।

ऋण (Loans)

राज्यो की दुर्बल आर्थिक स्थिति का अनुमान इस बात से भी लगता है कि योजना काल मे राज्य सरकारें केन्द्र से नियमित ऋण लेती रही हैं और इस ऋण की वार्षिक रकम मे तेजी से वृद्धि हो रही है। प्रथम योजना काल मे राज्य सरकारो द्वारा केन्द्रीय सरकार से लिए गये ऋणो की रकम लगभग ६३८ करोड रुपये थी जो द्वितीय योजना काल मे १०३८ करोड रुपये हो गयी। तृतीय योजना काल मे केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्यो को लगभग २१२१ करोड रुपये के ऋण दिये गये। पिछले तीन वर्षों में (१९६९-७० से १९७१-७२) भी केन्द्र द्वारा राज्यो को १००० करोड से अधिक रकम के ऋण दिये जाने का अनुमान है इस प्रकार राज्यो की आर्थिक दुर्बलता के कारण उन पर ऋण भार भी बढता चला जा रहा है।

कमियाँ और सुझाव

केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो के वित्तीय सम्बन्धो की गहराई से अध्ययन करने से निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं जिन्हें रोकना बहुत आवश्यक है :

(१) राज्यों की बढती हुई निर्भरता— ऊपर दिये गये अको से स्पष्ट है कि भारत के राज्यो की केन्द्र पर निर्भरता निरन्तर बढ़ रही है। इसका प्रमाण यह है कि एक ओर तो राज्य केन्द्र से अधिक अनुदान ले रहे हैं, दूसरे वह केन्द्र से अधिक रकमे उधार भी प्राप्त कर रहे हैं, इससे राज्यो पर ऋण भार भी निरन्तर बढता

चला जा रहा है। इस स्थिति में सुधार करने के लिए राज्यों को अपने व्यय में कमी करने का प्रयत्न करना चाहिए तथा करों की आय में वृद्धि करने की चेष्टा करनी चाहिए।

यदि राज्य अपनी कर वसूल करने की प्रक्रिया में सुधार करलें तो भी उनकी आय में वृद्धि हो सकती है।

(२) नीति में सहयोग—पिछले कुछ वर्षों में केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों की नीतियों में मतभेद उत्पन्न हो गये हैं। यदि आर्थिक नीतियों का निर्माण पारस्परिक विचार विमर्श के द्वारा किया जाय तो आपसी लेन-देन की समस्याओं का समाधान सरलता से हो सकता है और ऋण तथा ब्याज के भुगतान की कठिनाई दूर हो सकती है।

(३) समाजवादी समाज—भारत में "गरीबी हटाओ" का जो नया नारा लगाया गया है वह समाजवाद लाने की इच्छा का प्रतीक है किन्तु इसमें सफलता प्राप्त करने के लिए देश की कर नीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने होंगे। यह परिवर्तन केन्द्र तथा राज्य दोनों स्तरों पर होंगे। एक ओर तो भारत के मन्त्रियों तथा बड़े-बड़े अधिकारियों को अपने राजसी ठाठ में कुछ कमी करनी होगी, दूसरी ओर समाज के पिछड़े वर्ग की आय में कुछ वृद्धि करना आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जबकि देश का पूरा कर सम्बन्धी ढाँचा बदला जाय, राज्यों को अपने पैरों पर खड़ा होने के लिए बाध्य किया जाय तथा प्रशासन के प्रत्येक स्तर पर खर्च में कमी की जाय। यह तभी सम्भव है जबकि समाजवाद का उद्घोष करने वाले शासक अपने दुर्जुवा तथा नौकरशाही तरीकों का त्याग कर सही अर्थों में देश की सेवा का व्रत लें। यह कठिन तो है किन्तु असम्भव नहीं है।

अभ्यास प्रश्न

१. भारतीय संविधान में कर लगाने के सम्बन्ध में केन्द्र तथा राज्यों के लिए जो व्यवस्था की गयी है उसका विवेचन कीजिए।
२. वित्त आयोगों पर एक निबन्ध लिखिए तथा उनकी मुख्य सिफारिशों पर प्रकाश डालिए।
३ भारत में केन्द्र तथा राज्यों में कौन से करों का विभाजन होता है। इस विभाजन के आधार की विवेचना कीजिए।
४. "भारतीय राज्यों की केन्द्र पर निर्भरता बढ़ती जा रही है" इस कथन की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

४ भारत मे वित्तीय प्रशासन

(FINANCIAL ADMINISTRATION IN INDIA)

एक पुरानी कहावत के अनुसार ससार मे अधिकाश विवाद ''जर, जमीन और जन' अर्थात् धन, धरती और स्त्री के कारण उत्पन्न होते हैं। वास्तव मे, यह तीनों ही तत्व मानव के सामाजिक जीवन के अत्यन्त महत्वपूर्ण अग हैं। इनमे जर अर्थात् वित्त सबसे अधिक चलनशील और आकर्षक होता है क्योंकि वित्त के द्वारा ससार की अधिकतर श्रेष्ठ वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती हैं। वित्त का महत्व आधुनिक शासन व्यवस्था के लिए विशेष है क्योकि आधुनिक प्रशासन का व्यय भार निरन्तर बढ रहा है जिसकी पूर्ति जनता द्वारा दिये गये करो से होती है। सरकार का स्वरूप प्रजातान्त्रिक होने के कारण उसे जनता की गाढे पसीने की कमाई का दुरुपयोग करने का अधिकार नही दिया जा सकता है। अत करो से प्राप्त आय पर्याप्त तो होनी ही चाहिए, परन्तु इसका उपयोग भी जनहित मे किया जाना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सम्पूर्ण सरकारी आय, व्यय तथा ऋणो का समुचित लेखा-जोखा तथा सम्पूर्ण रकम के श्रेष्ठतम उपयोग पर यथोचित नियन्त्रण होना आवश्यक है।

वित्तीय प्रशासन का अर्थ—जिस प्रकार देश की सुरक्षा एव शान्ति के लिए नागरिक प्रशासन (सेना, पुलिस तथा अनेक प्रशासनिक विभागो) की व्यवस्था करनी आवश्यक होती है उसी प्रकार देश के आर्थिक साधनों की यथोचित देख-रेख करना भी आवश्यक होता है। यही वित्तीय प्रशासन है। यदि सामान्य दृष्टि से देखा जाय तो किसी देश, सस्था अथवा व्यक्ति की आय, व्यय तथा ऋणो का सामान्य प्रबन्ध ही वित्तीय प्रशासन कहलाता है।

क्षेत्र—वित्तीय प्रशासन का क्षेत्र स्वभावत किसी राज्य अथवा सस्था का सम्पूर्ण लेन-देन होता है। इसमे मुख्यतया निम्नलिखित क्रियाएँ सम्मिलित की जा सकती हैं

(१) आय की प्राप्ति,
(२) आय तथा व्यय का यथोचित समन्वय,
(३) लोक ऋण की व्यवस्था, तथा
(४) वित्तीय क्रियाओं का सामान्य नियन्त्रण।

आधुनिक प्रशासन व्यवस्था में इन चारों क्रियाओं का उचित प्रबन्ध करना आवश्यक होता है। इन क्रियाओं की उचित व्यवस्था के लिए विशेष विभाग स्थापित किये जाते हैं जिनमें इनका लेखा-जोखा रखने तथा पूरी व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए अधिकारी एवं अन्य कर्मचारी नियुक्त किये जाते हैं। वास्तव में, आय प्राप्ति की योजना बनाने से लेकर उसके खर्च करने तक की क्रियाओं की पर्याप्त व्यवस्था ही वित्तीय प्रशासन का क्षेत्र है।

वित्तीय प्रशासन के सिद्धान्त (Canons of Financial Administration)—सामान्य रूप में वित्तीय प्रशासन की कुशलता अधिकारियों की व्यक्तिगत सूझ-बूझ, योग्यता तथा तत्परता पर निर्भर करती है अतः उसके लिए कोई निश्चित सिद्धान्त निर्धारित करना विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। परन्तु वित्तीय प्रशासन अधिकारियों के मार्ग दर्शन के लिए सामान्य अनुभव द्वारा कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं जिनके पालन से आय का संयोजन कुशलतापूर्वक किया जा सकता है। उक्त सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :

(१) संगठन की एकता (Canon of Unity of Organisation)—इस सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि वित्तीय प्रशासन केन्द्रित होना चाहिए तथा कार्य विशेष के लिए निश्चित व्यक्ति अपने-अपने कार्य की कुशलता के लिए उत्तरदायी होने चाहिएं। इसका तात्पर्य यह है कि दायित्व विकेन्द्रित होते हैं परन्तु सत्ता एक जगह केन्द्रित होती है जहां सभी वित्तीय निर्णय तथा नीतियां निर्धारित की जाती हैं।

(२) विधान सभा की इच्छानुसार संचालन (Canon of Compliance with the will of the Legislature)—इसका तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण आय, व्यय और ऋण की व्यवस्था जनता द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों के आदेशानुसार ही होनी चाहिए। विधान सभा के निर्णयानुसार आय, व्यय और ऋण की व्यवस्था प्रजातान्त्रिक दृष्टिकोण से सर्वथा उचित एवं युक्तिसंगत है। आधुनिक समय में बजट बनाकर उसे विधान सभा से अनुमोदित करवाना इसी सिद्धान्त की पूर्ति का परिचायक है।

(३) सरलता एवं नियमितता (Canon of Simplicity and Regularity)—किसी भी देश की प्रशासन प्रणाली सरल होनी चाहिए ताकि वह न केवल प्रशासकों के लिए आरामदायक हो बल्कि सामान्य जनता के भी आसानी से समझ में आ सके। इसके अतिरिक्त आय तथा व्यय की क्रिया सम्पूर्ण वर्ष में नियमित रूप से बंटी हो तो प्रशासन के लिए सुविधा रहती है। इससे न तो आकस्मिक ऋण

लेने की आवश्यकता होती है, न ही अपव्यय होने का भय रहता है। नियमितता के लिए प्रशासनिक कुशलता अत्यन्त आवश्यक है।

(४) प्रभावशाली नियन्त्रण (Canon of Effective Control)—वित्तीय प्रशासन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि वह पर्याप्त लचकदार होना चाहिए अर्थात् उसमे अनावश्यक बन्धन नही होने चाहिए। किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि सरकारी धन खर्च करने में किसी नियम का पालन ही न हो। यदि ऐसा हुआ तो सरकारी रकम का दुरुपयोग होने की बहुत आशका रहेगी। अत रकम के खर्च पर कुशल एव प्रभावपूर्ण नियन्त्रण होना आवश्यक है। यह नियन्त्रण विधान सभा, या लोक सभा, अकेक्षण अधिकारियो तथा लोक-लेखा समितियो का हो सकता है।

आय व्यय या बजट (Budget)—बजट एक ऐसा ब्यौरा होता है जिसमे आगामी वर्ष के आय और व्यय के अनुमान प्रस्तुत किये जाते हैं। इन अनुमानो के साथ प्राय पिछले वर्ष के बजट तथा सशोधित अनुमान और उससे भी पूर्व की वास्तविक आय और व्यय सम्बन्धी अक दिये जाते हैं। उदाहरणस्वरूप, १६७०-७१ के बजट मे १६६८-६६ की आय और व्यय के वास्तविक अक तथा १६६६-७० की, आय और व्यय के बजट तथा सशोधित अनुमान प्रस्तुत किये जाते है। इस दृष्टि से बजट प्राय तीन वर्षों के तुलनात्मक अको का ब्यौरा होता है।

आगम तथा पूँजीगत बजट (Revenue and Capital Budget)—बजट को प्राय दो भागो मे प्रस्तुत किया जाता है। पहले भाग मे आगम (Revenue) बजट होता है जिसमे करो से प्राप्त कुल आय अथवा सामान्य व्यवसाय के अन्तर्गत प्राप्त आय तथा सामान्य कार्यों की पूर्ति के हेतु किये गये व्यय सम्मिलित होते हैं। सरकार द्वारा व्यावसायिक कार्यों म जो पूँजी विनियोजित की जाती है अथवा ऋण दिये जाते हैं तथा जो ऋण आदि प्राप्त किये जाते हैं वह पूँजीगत बजट मे दिखलाये जाते है।

बजट की प्रक्रिया—(१) तैयारी—केन्द्र तथा राज्य सरकार के वित्त मन्त्रालय मे एक बजट विभाग होता है जो विभिन्न मन्त्रालयो के आधीन विभागों की आय तथा व्यय सम्बन्धी आँकडे सग्रह करता रहता है। आगामी वर्ष के लिए विभिन्न मन्त्रालयो द्वारा जो योजनाएँ स्वीकृति की जाती हैं उनका सम्पूर्ण ब्यौरा भी बजट विभाग एकत्रित करता है और आगामी वर्ष के अनुमान तैयार करता है। इस प्रकार बजट विभाग द्वारा गत दो वर्षों के वास्तविक अथवा सशोधित अक तथा आगामी वर्ष के अनुमानित आय-व्यय के अक तैयार कर लिए जाते हैं, यही बजट है।

(२) कर आदि के प्रस्ताव—इधर बजट विभाग बजट तैयार करता रहता है, उधर वित्त मन्त्री व्यापार, उद्योग तथा विविध व्यवसायो के प्रतिनिधियो से वार्ता द्वारा तथा देश की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था की गति ध्यान मे रखकर यह निर्णय कर लेता है कि अमुक क्षेत्रो मे करा से छूट देनी है तथा अमुक-अमुक क्षेत्रो मे करो मे

वृद्धि करती है। इन निर्णयों की पुष्टि बजट विभाग द्वारा तैयार किये आँकड़ो के आधार पर कर ली जाती है।

(३) प्रस्तुतीकरण—बजट से सम्बन्धित सभी बातों पर विचार करने के पश्चात् निश्चित तिथि प्राय. फरवरी के अन्तिम दिन बजट लोक सभा मे प्रस्तुत किया जाता है। बजट प्रस्तुत करने से पूर्व वित्त मन्त्री द्वारा देश का आर्थिक सर्वेक्षण (Economic Survery) प्रस्तुत किया जाता है जिसमे देश की आर्थिक स्थिति का विस्तृत ब्यौरा होता है तथा भविष्य की सम्भावनाओं का अनुमान होता है। वास्तव मे यह सर्वेक्षण ही बजट की पृष्ठभूमि का कार्य करता है।

(४) विवाद—वित्त मन्त्री द्वारा बजट लोक सभा या विधान सभा मे प्रस्तुत करने के पश्चात् उस पर विवाद आरम्भ होता है। वित्त मन्त्री द्वारा रखे गये कर प्रस्तावों की आलोचना प्रत्यालोचना होती है और अन्त मे वित्त मन्त्री द्वारा सभी आलोचनाओं के उत्तर दिये जाते हैं। कभी-कभी वित्त मन्त्री कुछ करों मे कमी या सुधार के प्रस्ताव स्वीकार कर लेते हैं।

बजट की मांगों पर विचार प्राय अलग-अलग विभागानुसार होता है और प्रत्येक विभाग से सम्बन्धित मन्त्री उन मांगो के औचित्य के पक्ष मे तर्क प्रस्तुत करते हैं। कभी कभी विपक्षी सदस्यों द्वारा किसी मांग पर कटौती प्रस्तुत कर दी जाती है। यदि कटौती का प्रस्ताव बहुमत से पास हो जाय तो इसे मन्त्रिमण्डल पर अविश्वास की सज्ञा दी जाती है और मन्त्रिमण्डल को त्यागपत्र देना पड़ता है।

(५) स्वीकृति—बजट की स्वीकृति के पश्चात् इस पर राष्ट्रपति या राज्यपाल के हस्ताक्षर हो जाते हैं और यह अधिकृत मान लिया जाता है। इसकी प्रतियाँ सब विभागो को भेज दी जाती हैं और सब विभाग इसको आधार मानकर कार्य करते हैं।

(६) पूरक बजट—कभी-कभी सरकार के कुछ विभागो का बजट मे स्वीकृत रकम से काम नहीं चलता। ऐसी स्थिति मे पूरक बजट प्रस्तुत किया जाता है और अतिरिक्त मांगों की लोक सभा या विधान सभा से स्वीकृति ले ली जाती है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि लोक सभा या विधान सभा की स्वीकृति बिना सरकार का कोई विभाग कोई रकम खर्च नहीं कर सकता।

(७) अंकेक्षण—सरकारी रकमों की प्राप्ति तथा व्यय एव ऋण आदि के सम्बन्ध मे निश्चित नियम तथा परम्पराएँ बनी है जिनका पालन करना आवश्यक है। इसकी देख-रेख का दायित्व महा लेखापाल (Auditor and Comptroller General of India) पर है जिनके द्वारा सरकार के सब विभागो के आय-व्यय का नियमित अंकेक्षण करवाया जाता है। आय प्राप्ति, व्यय तथा ऋण आदि से सम्बन्धित सभी अनियमितताओं की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया जाता है। महा लेखापाल की रिपोर्ट भारतीय ससद या विधान सभा मे प्रस्तुत की जाती है जिसमे वर्णित अनियमितताओं का सरकारी अधिकारियों या मन्त्रियों

द्वारा जवाब दिया जाता है। इस प्रकार अकेक्षण द्वारा सरकारी धन के उचित प्रयोग का ध्यान रखा जाता है। अकेक्षण रिपोर्ट भविष्य मे होने वाली अनियमितताओ को रोकने मे सहायक होती है।

(८) लोक लेखा समिति (Public Accounts Committee)—भारतीय ससद तथा राज्य विधान सभाएँ सरकारी आय-व्यय की उच्चस्तरीय जाँच के लिए लोक लेखा समिति की नियुक्ति करती है। इस समिति मे प्राय सभी दलो के सदस्य होते हैं और अनेक बार विरोधी पक्ष का कोई महत्त्वपूर्ण विधायक इस समिति का अध्यक्ष नियुक्त किया जाता है। यह समिति सरकार के सभी विभागो मे व्यय की नियमितता सम्बन्धी जाँच करती है तथा अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करती है जिसके आधार पर सरकारी विभागो की भविष्य की वित्तीय नीतियाँ निर्धारित होती हैं।

नियमित कार्य सचालन—देश अथवा किसी राज्य की वित्तीय क्रियाओ का सचालन वित्त सचिवालय के अधीन होता है। वित्त सचिवालय के प्राय कई भाग, विभाग होते हैं

(१) बजट विभाग—जो बजट सम्बन्धी अक सग्रह कर उसे अन्तिम रूप म तैयार करता है।

(२) व्यावसायिक विभाग—राज्य के व्यावसायिक प्रतिष्ठानो के लेन देन का सम्पूर्ण ब्यौरा रखता है तथा उससे सम्बन्धित रिपोर्ट तैयार करता है।

भारत सरकार ने सन् १९६७ से लोक उद्यम सस्थान (Bureau of Public Enterprises) की अलग से स्थापना कर दी है।

(६) अर्थोपाय विभाग (Ways and Means Section)—इसके द्वारा सरकार जितने ऋण लेती है, उनकी योजना बनायी जाती है तथा उनके सम्पूर्ण लेन देन का ब्यौरा रखा जाता है।

सरकार को कर वसूली से अधिकाश आय वर्ष के अन्तिम चार पाँच महीनो मे प्राप्त होती है अत नियमित कार्य सचालन के लिए उसे समय-समय पर आकस्मिक ऋण लेन पडते हैं। यह ऋण रिजर्व बैक से लिए जाते हैं अथवा रिजर्व बैक के माध्यम से जनता या व्यावसायिक बैंको से प्राप्त किये जाते हैं। ज्यो-ज्यो करो की रकम जमा होती जाती है, इन ऋणो का भुगतान कर दिया जाता है। विदेशों से प्राप्त ऋर्णों की व्यवस्था भी रिजर्व बैंक द्वारा ही होती है।

सरकार जितनी रकम करो से प्राप्त करती है वह सम्पूर्ण रिजर्व बैंक (अथवा उसके प्रतिनिधि बैंकों) द्वारा जमा की जाती है और उस रकम में से सम्पूर्ण सरकारी भुगतान भी रिजर्व बैंक द्वारा किये जाते हैं

वित्तीय नियन्त्रण के सकाय—भारत में केन्द्रीय तथा राज्यों के वित्त प्रशासन का नियन्त्रण निम्नलिखित सकायों अथवा एजेन्सियों के माध्यम से होता है

(१) महा लेखापाल (Auditor and Comptroller General)—सरकार के विभिन्न विभागो के व्यय बजट के अनुसार हैं या नही तथा उनका हिसाब समुचित

ढग से रखने की व्यवस्था की गयी है या नहीं, आदि सभी तथ्यों तथा क्रियाओं का अंकेक्षण महा लेखापाल द्वारा करवाया जाता है। यह कार्यालय सरकार के किसी प्रकार के दबाव में नहीं होता अत. जाँच की सही और निष्पक्ष रिपोर्ट प्रस्तुत करता है। वास्तव में अंकेक्षण के भय से ही सरकारी आय-व्यय के खाते नियमित रूप में रखे जाते हैं तथा सरकारी धन ठीक प्रकार से खर्च करने की व्यवस्था का ध्यान रखा जाता है।

(२) विभागीय नियन्त्रण—सरकार के प्रत्येक विभाग में भी प्राय प्रशिक्षित लेखाकर (accountants) होते हैं और सभी व्यय उनकी सहमति से किया जाता है। प्राय. प्रत्येक रकम का व्यय करने से पूर्व लेखाकर की राय लेना आवश्यक होता है। बहुत से विभागों मे अंकेक्षण भी होता है जिससे अनियमितताओं का भय बहुत कम हो गया है।

(३) अनुमान समिति (Estimates Committee)—यह समिति ससद द्वारा नियुक्त की जाती है। इसका कार्य राज्य के विभिन्न मदों पर होने वाले व्यय मे मितव्ययता सम्बन्धी सुझाव देना है। अत यह विभिन्न क्षेत्रो में मितव्ययता की सिफारिश करती है और खर्च मे परिवर्तन सम्बन्धी सुझाव देती है।

(४) कार्यकारिणी समिति—देश के विभिन्न मदों पर व्यय का निर्धारण प्राय मन्त्रिमण्डल की एक समिति द्वारा होता है। आर्थिक समिति से (जिसमे वित्त मन्त्री तथा ५ अन्य मन्त्री होते हैं) विभिन्न प्रस्तावों से सम्बन्धित सुझाव माँग लिए जाते हैं और उसके सुझावों के आधार पर अन्तिम निर्णय कार्यकारिणी समिति या केबिनेट द्वारा लिया जाता है। वास्तव मे, यह समिति विविध खर्चों के लिए प्राथमिकता के आधार पर रकमें निर्धारित करती है जिससे वित्तीय आयोजन अधिक युक्तिसगत हो सकता है।

(५) लोक लेखा समिति (Public Accounts Committee)—यह समिति ससद सदस्यों या विधान सभा के सदस्यों की उच्चस्तरीय समिति होती है जिसका कार्य सम्पूर्ण आय-व्यय की राशि तथा क्षेत्रीय औचित्य की जाँच करना और तत्सम्बन्धी रिपोर्ट प्रस्तुत करना है। इस समिति की रिपोर्ट ससद मे प्रस्तुत की जाती है अत. इससे सभी विभागाध्यक्षों को बहुत भय रहता है।

उपर्युक्त सभी सकाय देश की वित्त प्रशासन व्यवस्था को सुव्यवस्थित एव सुसचालित रखने में सहायक होते हैं।

अभ्यास प्रश्न

१. वित्तीय प्रशासन से क्या तात्पर्य है ? प्रजातन्त्रीय शासन व्यवस्था मे वित्तीय प्रशासन का महत्त्व स्पष्ट कीजिए।
२. भारत में बजट किस प्रकार बनाया जाता है। भारतीय बजट की विशेषताएँ बताइए।
३. भारत में वित्तीय प्रशासन का नियन्त्रण करने की रीतियों का विवेचन कीजिए।

५

आर्थिक नियोजन–आवश्यकता एवं महत्त्व

(ECONOMIC PLANNING—NEED AND IMPORTANCE)

वर्तमान युग समाजवाद का युग है। प्रत्येक विकासशील देश में समाजवादी व्यवस्था की चर्चा है जिसका अर्थ यह है कि वहाँ आर्थिक विषमताओ को कम करके एक ऐसे समाज की स्थापना करना है जिसमे गरीब और अमीर का अन्तर बहुत कम हो जाय और आर्थिक साधनो पर इने गिने व्यक्तियो का अधिकार नही रह जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही आर्थिक नियोजन का सहारा लिया जाता है। वर्तमान युग मे 'समाजवाद' की तरह 'नियोजन' का भी बहुत प्रचार हो गया है। अत नियोजन का अर्थ समझना बहुत आवश्यक है।

अर्थ (Meaning)

आर्थर ल्यूइस के अनुसार नियोजन के ▮ प्रचलित अर्थ हैं

(१) भौगोलिक वितरण—पहले अर्थ के अनुसार नियोजन से तात्पर्य फैक्टरियो, रहने के मकानो तथा सिनेमा घर आदि का भौगोलिक वितरण करना मात्र है। इसका अर्थ यह है कि कारखाने, मकान तथा सिनेमा घर कहाँ कहाँ स्थापित किये जायें तथा किन किन दिशाओ मे और कितने कितने क्षेत्र मे बनाये जायें, यह निश्चित करना ही नियोजन कहलाता है।

इस अर्थ से स्पष्ट है कि वह केवल नगर नियोजन (Town Planning) की ओर सकेत करता है। नियोजन का अर्थ केवल नगर नियोजन नही हो सकता, उसमे नगर के विकास के कार्यक्रम भी सम्मिलित करने आवश्यक होते हैं।

(२) सरकारी व्यय—कुछ व्यक्तियो का मत है कि सरकार आने वाले चार पाँच वर्ष मे किन किन मदो पर कितनी कितनी रकम खर्च करेगी इस सम्बन्ध मे निर्णय करना ही नियोजन है। इस दृष्टि से सरकारी खर्च के बारे मे निश्चय करना ही नियोजन कहलाता है।

नियोजन का यह अर्थ भी बहुत सीमित है क्योकि सरकार किस मद पर कितनी रकम खर्च करेगी, यह नियोजन का केवल एक भाग है। नियोजन मे अन्य

बहुत सी बातें सम्मिलित हैं जैसे कौन से क्षेत्रों का विकास पहले करना है, उनके विकास के लिए किन साधनों की आवश्यकता होगी, वह साधन कहाँ से और कैसे प्राप्त किये जायेंगे तथा सरकारी और निजी क्षेत्र में किन-किन उद्योगों तथा व्यवसायों का किस-किस सीमा तक विकास किया जायगा आदि, आदि।

(३) *उत्पादन निर्धारण*—नियोजन का एक तीसरे अर्थ में भी प्रयोग किया जाता है। इसके अनुसार उत्पादन करने वाली प्रत्येक इकाई के लिए माल तथा मालकी तत्त्वों की मात्रा निश्चित कर दी जाती है। उसे इन तत्त्वों के प्रयोग से ही उत्पादन करना पड़ता है यह भी निश्चित कर दिया जाता है कि उस इकाई द्वारा अपना माल कहाँ बेचा जायेगा। इस स्थिति में प्रबन्धक को माल खरीदने, बेचने तथा उत्पादन करने की कोई स्वतन्त्रता नहीं होती। यह सब कार्य केन्द्रीय सरकार के आदेशानुसार किये जाते हैं। इस प्रकार उत्पादन तथा बिक्री के निर्धारण को नियोजन कहा जाता है।

नियोजन का यह अर्थ भी सीमित ही है क्योंकि केवल उत्पादन, खरीद और बिक्री के निर्धारण से नियोजन के उद्देश्यों की पूर्ति नहीं होती। नियोजन में उत्पादन, क्रय विक्रय के अतिरिक्त उपभोग, वित्त तथा विभिन्न क्षेत्रों में प्राथमिकताओं के निर्धारण का कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। यह बात अवश्य कही जा सकती है कि यह अर्थ अन्य अर्थों से अधिक व्यापक है।

(४) *उत्पादन लक्ष्यों का निर्धारण*—नियोजन के एक अन्य अर्थ के अनुसार सरकार द्वारा लोक और निजी क्षेत्र के उद्योगों के लिए उत्पादन के लक्ष्य निर्धारित कर दिये जाते हैं। यह अर्थ भी बहुत सीमित है क्योंकि इसमें केवल उद्योगों के विकास और विस्तार का नियन्त्रण करने को ही नियोजन माना गया है जो वास्तव में नियोजन का एक भाग मात्र है।

(५) *अर्थ-व्यवस्था के लिए लक्ष्य निर्धारण*—कुछ व्यक्तियों की मान्यता है कि यदि देश के सभी आर्थिक क्षेत्रों के लिए उत्पादन के लक्ष्य निर्धारित कर दिये जायें और उत्पादन के सभी क्षेत्रों में श्रम, कच्चा माल, विदेशी विनिमय और अन्य वस्तुओं का बटवारा कर दिया जाय तो इसे नियोजन कहा जायेगा। यह अर्थ भी सत्यता के बहुत निकट है क्योंकि नियोजन में प्राथमिकताएँ निर्धारित करनी आवश्यक होती हैं। इन प्राथमिकताओं के आधार पर ही सब साधनों का बटवारा किया जाता है और उत्पादन, उपभोग तथा बिक्री की व्यवस्था की जाती है।

(६) *निजी क्षेत्र का नियमन*—नियोजन का अन्तिम अर्थ यह है कि सरकार अपने द्वारा निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति निजी क्षेत्र से करवाने के लिए जो भी उपाय करती है वह नियोजन है। इस अर्थ में यह मान लिया गया है कि उत्पादन के लक्ष्य केवल निजी क्षेत्र के लिए निर्धारित किये जाते हैं और सरकार केवल उनकी पूर्ति के लिए प्रयत्न करती है। वास्तविक स्थिति यह है कि नियोजन में सरकार तथा

निजी क्षेत्र दोनों में उत्पादन होता है, दोनों के लिए लक्ष्य निश्चित किये जाते हैं और उनकी पूर्ति के लिए प्रयास किया जाता है।

उचित अर्थ या परिभाषा

इन सब तथ्यों तथा मान्यताओं को ध्यान में रखकर नियोजन की परिभाषा निम्न प्रकार दी जा सकती है :

जब किसी देश में उत्पादन, उपभोग, वितरण तथा विनियोग की क्रियाओं का सरकार द्वारा निर्धारित नीतियों के अनुसार नियन्त्रण तथा सञ्चालन होता है तो इस व्यवस्था को नियोजन कहा जाता है। नियोजन का प्रयोग जब किसी देश के लिए किया जाता है तो वह उसका अर्थ प्रायः आर्थिक नियोजन ही होता है क्योंकि सरकार द्वारा उत्पादन, उपभोग, विनियोग तथा वितरण आदि की क्रियाओं का नियन्त्रण एवं निर्देशन किया जाता है। यह क्रियाएँ आर्थिक क्रियाएँ हैं और इनका सम्बन्ध देश की अर्थ-व्यवस्था से होता है।

आर्थिक नियोजन की विशेषताएँ

आर्थिक नियोजन की आवश्यकता उन देशों में पड़ती है जो आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं, जिनमे लोगों की प्रति व्यक्ति आय बहुत कम और जीवन स्तर बहुत नीचा है, जहाँ गरीबी और अमीरी में भयानक अन्तर है, जहाँ आर्थिक साधन कुछ व्यक्तियों के हाथों में सकेन्द्रित हैं और बेरोजगारी फैली हुई है। इन देशों को अपने सीमित साधनों के श्रेष्ठतम उपयोग द्वारा अपनी जनता का जीवन स्तर ऊँचा उठाना होता है और गरीब और अमीर के भेद को कम करना होता है। अतः उत्पादन, उपभोग, विनिमय, वितरण तथा मूल्यों पर अनेक प्रकार के नियन्त्रण लगाना आवश्यक होता है। वास्तव में, नियोजित अर्थ-व्यवस्था एक नियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था होती है जिसमे किसी का शोषण नहीं होता, सब व्यक्तियों की उन्नति के समान अवसर मिलते हैं तथा आर्थिक सत्ता कुछ हाथों में सकेन्द्रित नहीं रहती।

इन सब बातों को ध्यान में रख कर आर्थिक नियोजन की निम्नलिखित विशेषताएँ कही जा सकती हैं :

(१) प्राथमिक क्षेत्रों का निर्धारण—आर्थिक नियोजन का मुख्य उद्देश्य अभावों से मुक्ति पाना होता है। जिन देशों के पास सीमित साधन (पूँजी, तकनीक, कच्चा माल आदि) होते हैं वह ऐसी योजना बनाते हैं जिसमे सीमित साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग हो सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही कुछ क्षेत्रों को चुन लिया जाता है जिनमे इन साधनों का प्रयोग किया जाता है। यह क्षेत्र ही प्राथमिक क्षेत्र कहलाते हैं (जैसे कृषि, लघु उद्योग आदि)। यह क्षेत्र प्रायः ऐसे होते हैं जिनमें कम पूँजी तथा हल्के तकनीकों द्वारा ही अधिक उत्पादन हो सकता है।

(२) लोक तथा निजी क्षेत्र में सहयोग—आर्थिक नियोजन में प्रायः लोक तथा निजी क्षेत्र बने रहते हैं (सोवियत रूस तथा चीन आदि साम्यवादी देशों में सब उद्योग सरकारी क्षेत्र में ले लिए गये हैं अतः वहाँ निजी क्षेत्र नहीं है) और उद्योग

तथा व्यवसाय का विकास इन दोनों क्षेत्रों द्वारा किया जाता है। सरकार प्राय यह निश्चित कर लेती है कि किन उद्योगों का विकास केवल लोक (या सरकारी) क्षेत्र मे किया जायेगा, किन उद्योगों को निजी क्षेत्र के लिए सुरक्षित रखा जायगा तथा कौन से उद्योग सरकारी तथा निजी दोनों क्षेत्रों द्वारा विकसित किये जायेंगे। यह एक नीति सम्बन्धी प्रश्न है जिसके विषय में उचित निर्णय लेना आवश्यक होता है।

(३) लक्ष्यों का निर्धारण—आर्थिक नियोजन की तीसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि सरकार द्वारा प्रत्येक क्षेत्र (कृषि, लघु उद्योग, बड़े उद्योग, खनिज, परिवहन, व्यापार आदि) के विकास के लिए लक्ष्य निर्धारित कर दिये जाते हैं और उन क्षेत्रों के लिए लक्ष्यों की प्राप्ति सम्बन्धी सुविधाएँ दी जाती हैं। लक्ष्यों का निर्धारण देश के साधन तथा आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर किया जाता है और उनकी पूर्ति के लिए प्रयत्न किये जाते हैं।

(४) नियन्त्रण—नियोजित अर्थ-व्यवस्था मूल रूप में एक नियन्त्रित व्यवस्था होती है। अत सरकार द्वारा प्राय निम्नलिखित नियन्त्रण लगाये जाते हैं.

(i) विनियोग—देश मे नये या पुराने उद्योगों या व्यवसायों मे सरकार की अनुमति से ही पूँजी लगायी जा सकती है। इस व्यवस्था से पूँजी (जिसकी मात्रा सीमित है) का विनियोग अधिक महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों मे ही किया जा सकता है।

(ii) लाइसेन्स—नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे प्राय नये उद्योग स्थापित करने अथवा उनका विस्तार करने के लिए भी लाइसेन्स की आवश्यकता पड़ती है। सरकार केवल उन्हीं उद्योगों को स्थापना के लिए लाइसेन्स देती है जो सरकार की प्राथमिकता सूची में आते हैं। इससे भी देश के लिए आवश्यक उद्योगों की ही स्थापना और विकास होता है।

(iii) व्यापार—नियोजित अर्थ व्यवस्था वाले देशों के लिए विदेशी व्यापार का बहुत अधिक महत्त्व होता है। अत वस्तुओं के आयात निर्यात व्यापार पर प्राय कड़े नियन्त्रण लगाये जाते हैं और सरकार की अनुमति बिना आयात या निर्यात नहीं किये जा सकते। इससे देश का व्यापार सन्तुलन ठीक रखने मे मदद मिलती है।

(iv) विदेशी विनिमय—नियोजित अर्थ-व्यवस्था तभी सफल हो सकती है यदि विदेशी विनिमय के भण्डार सुरक्षित रखे जायें और विदेशी विनिमय की कमाई का अनिवार्य कार्मों के लिए ही प्रयोग किया जाय। इसी दृष्टि से इन देशों में प्राय विदेशी विनिमय के प्रयोग पर कड़े नियन्त्रण लगाये जाते हैं।

(v) उपभोग—नियोजित अर्थ-व्यवस्था वाले देशों में प्राय कुछ वस्तुओं का अभाव होता है अत सरकार इन वस्तुओं के उपभोग को सीमित रखने के लिए इनका राशन कर देती है और यह वस्तुएँ प्रत्येक व्यक्ति को निश्चित मात्रा में ही मिल सकती हैं, अधिक नहीं।

(vi) मूल्य—नियोजित अर्थ-व्यवस्थाओं मे प्राय वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होने का भय रहता है अत सरकार अनेक प्रकार से वस्तुओं के मूल्यों को बढ़ने से

रोकने का प्रयत्न करती है ताकि साधारण जनता को कठिनाई का सामना नहीं करना पड़े।

इन सब रोकों तथा क्रियाओं पर नियन्त्रण रखने का मुख्य उद्देश्य जनता को कठिनाइयों से बचाना, मूल्यों को स्थिर रखना, आर्थिक विकास में तेजी लाना तथा देश के सीमित साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग करना होता है।

(५) नियमित एवं निरन्तर प्रक्रिया—आर्थिक नियोजन की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि नियोजन चार छह वर्ष या दो वर्ष का काम नहीं होता। यह एक लम्बी प्रक्रिया होती है। प्रायः पाँच वर्ष के लिए एक योजना बनायी जाती है और अगले पाँच वर्ष के लिए फिर दूसरी योजना लागू कर दी जाती है। इस प्रकार एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी योजना लागू की जाती है और योजना का क्रम चलता रहता है। वास्तव में विकास का काम ही दीर्घकालीन होता है जिसमें कुछ परियोजनाएँ (भाखरा नांगल या बोकारो इस्पात कारखाना) कई-कई वर्षों में पूरी होती हैं। निरन्तरता बनाये रखने के लिए योजना का क्रम चालू रखना आवश्यक होता है।

आर्थिक नियोजन क्यों आवश्यक है?

इससे पूर्व यह लिखा जा चुका है कि आर्थिक नियोजन में उत्पादन तथा उपभोग के सभी अंगों पर अनेक नियन्त्रण लागू कर दिये जाते हैं। इन नियन्त्रणों के फलस्वरूप देश की अर्थ-व्यवस्था का विकास उचित दिशाओं में होता रहता है और आर्थिक शोषण और विषमता में कमी आती जाती है।

यदि आर्थिक नियन्त्रण नहीं लगाये जायें तो अर्थ तन्त्र स्वतन्त्र रूप में चलता रहता है। शक्तिशाली पूँजीपति आर्थिक साधनों पर कब्जा करते चले जाते हैं, गरीब पहले से अधिक गरीब और अमीर पहले से अधिक अमीर होते चले जाते हैं। इस व्यवस्था को मुक्त बाजार व्यवस्था (Free Market Economy) कहते हैं। इसके दोषों के कारण ही आर्थिक नियोजन अपनाना पड़ता है। यह दोष निम्नांकित हैं:

(१) *आय का न्यायपूर्ण वितरण—मुक्त अर्थ-व्यवस्था में धनी* पूँजीपतियों द्वारा ऐसी वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है जिनसे उन्हें अधिक से अधिक लाभ होता है। वह समाज की पूँजी विलासितापूर्ण वस्तुओं की उत्पत्ति में लगाते रहते हैं। इससे एक ओर तो विलासिता का साम्राज्य बढ़ता जाता है, दूसरी ओर सामान्य जनता के काम में आने वाली अनिवार्य वस्तुओं की पूर्ति कम रहती है। नियोजित अर्थ-व्यवस्था में सरकार पूँजीपतियों को ऐसे क्षेत्रों में पूँजी लगाने के लिए बाध्य करती है जो साधारण जनता के लिए अधिक उपयोगी हों। अतः राष्ट्रीय सम्पत्ति के न्यायपूर्ण वितरण और श्रेष्ठतम उपयोग के लिए आर्थिक नियोजन आवश्यक है।

(२) श्रमिकों की मजदूरी—*पूँजीवादी व्यवस्था अथवा मुक्त बाजार व्यवस्था में मजदूरों की मजदूरी प्रायः बहुत कम होती है क्योंकि कम मजदूरी देकर* पूँजीपति अधिक लाभ कमा सकते हैं। इस व्यवस्था में कम मजदूरी के अतिरिक्त

श्रमिकों को बहुत गन्दी परिस्थितियों में काम करना पड़ता है, उनके रहन-सहन की हालत बहुत घटिया होती है क्योंकि पूँजीपतियों को उनकी हालत सुधारने में कोई रुचि नहीं होती।

वर्तमान युग में मजदूरों में पहले से बहुत अधिक जागृति उत्पन्न हो गयी है अतः वह अधिक मजदूरी और अन्य सुविधाओं के लिए संघर्ष करने लगे हैं। इन संघर्षों से उत्पादन का स्तर गिरने से रोकने के लिए अतः नियोजित अर्थ-व्यवस्था अपनाना अच्छा है क्योंकि उसमें मजदूरों को उचित मजदूरी देने की व्यवस्था की जाती है और उनकी सामान्य सुविधाओं का अधिक से अधिक ध्यान रखा जाता है। अतः मजदूरों तथा मालिकों में अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने में भी आर्थिक नियोजन आवश्यक है।

(३) मुद्रा स्फीति, बेरोजगारी तथा मूल्यों में उतार-चढ़ाव—मुक्त अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन, उपभोग अथवा मूल्यों पर कोई नियन्त्रण नहीं होता। इससे मुद्रा स्फीति बढ़ती जाती है, मूल्यों में निरन्तर उतार-चढ़ाव होते रहते हैं और समाज में बेरोजगारी बढ़ने का सदा भय रहता है। इन सब क्रियाओं से समाज में निरन्तर असंतोष बढ़ता रहता है और समाज में एक अजीब बेचैनी बनी रहती है। इस बेचैनी को दूर करने के लिए नियोजित अर्थ-व्यवस्था का सहारा लिया जाता है।

(४) विदेशी व्यापार—मुक्त अर्थ-व्यवस्था में प्रायः देश का व्यापार सन्तुलन सदा विपक्ष में रहने का भय रहता है। विकासशील देशों को प्रायः विदेशों से बहुत सामान आयात करना पड़ता है और उनके पास निर्यात के लिए बहुत कम सामान होता है। इसके अतिरिक्त मुक्त अर्थ-व्यवस्था में प्रायः विलासितापूर्ण वस्तुओं के आयात का भय बहुत होता है जिससे समाज अनेक बुराइयों से ग्रस्त हो जाता है। इस स्थिति को रोकने के लिए नियोजित अर्थ-व्यवस्था अपनायी जाती है जिसमें व्यापार पर उचित नियन्त्रण लगा दिये जाते हैं।

(५) जड़ता—मुक्त अर्थ-व्यवस्था में प्रायः शिथिलता और जड़ता होती है। उसमें परम्परा तथा पुरानी रीतियों का प्रभुत्व होता है। कम विकसित देशों को गरीबी से मुक्त करने के लिए क्रान्तिकारी कदम उठाने की आवश्यकता होती है जो प्रायः पूँजीवादी मुक्त व्यवस्था में उठाना कठिन होता है। अतः नियोजित अर्थ-व्यवस्था का सहारा लेना पड़ता है।

(६) बर्बादी—पूँजीवादी अथवा मुक्त अर्थ-व्यवस्था में प्रायः आपस में स्पर्द्धा होती है। यह सत्य है कि स्पर्द्धा के कारण उत्पादक अपने तकनीकों में तेजी से सुधार करते हैं जिससे माल अच्छा और सस्ता बनता है किन्तु स्पर्द्धा के कारण लाखों करोड़ों रुपये विज्ञापन पर खर्च किये जाते हैं। इसी प्रकार कुछ इने-गिने उत्पादन क्षेत्रों में पूँजी लगती रहती है जबकि बहुत से महत्वपूर्ण क्षेत्रों में पूँजी लगायी ही नहीं जाती। इस बर्बादी और पूँजी के हल्के उपयोग को नियोजित अर्थ-व्यवस्था द्वारा रोका जा सकता है।

(७) एकाधिकार—मुक्त अर्थ-व्यवस्था में प्रायः पूँजीपति आपस में मिलकर एकाधिकार स्थापित कर लेते हैं और मनमानी वस्तुएँ बनाकर मनमाने भाव पर बेचते रहते हैं। इस प्रकार के एकाधिकार से अनुचित लाभ उठा कर वह आर्थिक सत्ता को अपने हाथों में केन्द्रित कर लेते हैं। इन एकाधिकारों को रोकने के लिए राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक है और राज्य के हस्तक्षेप की एक रीति नियोजित अर्थ-व्यवस्था है।

आर्थिक नियोजन के स्वरूप

(Forms or Types of Planning)

कुछ व्यक्तियों का मत है कि आर्थिक नियोजन केवल समाजवादी व्यवस्था में ही हो सकता है, पूँजीवादी व्यवस्था में आर्थिक नियोजन की बात करना सर्वथा असंगत एवं व्यर्थ है। लुडविग वॉन माइसिस के अनुसार "नियोजन तथा पूँजीवाद सर्वथा विरोधी व्यवस्थाएँ हैं। नियोजन मूल्य यन्त्र के विरुद्ध है, इसमें व्यक्तिगत प्रोत्साहन, उत्पादन के तत्वों का निजी स्वामित्व, बाजार व्यवस्था तथा मूल्य प्रणाली का कोई महत्व नहीं है।" किन्तु एक अन्य अर्थशास्त्री लॅंडावर का मत है कि पूँजीवादी व्यवस्था के ढाँचे में भी आर्थिक नियोजन सम्भव है।

पिछले कुछ वर्षों में समाजवादी अर्थशास्त्रियों तथा समाजवाद के समर्थकों के विचारों में भी बहुत परिवर्तन हुए हैं। आधुनिक समय में समाजवादी भी यह मानने लगे हैं कि पूँजीवादी ढाँचे में आमूल-चूल परिवर्तन किये बिना भी आर्थिक नियोजन हो सकता है। वास्तव में वह इस प्रकार के आर्थिक नियोजन को अधिक श्रेष्ठ मानने लगे हैं। अतः आर्थिक नियोजन का अब एक स्वरूप नहीं रह गया है। इसके महत्वपूर्ण स्वरूपों पर विचार करना उचित होगा।

(१) निर्देशित नियोजन तथा प्रेरित नियोजन

(Planning by Direction and Planning by Inducement)

वर्तमान युग में आर्थिक नियोजन के सिद्धान्त को तो सब स्वीकार करते हैं परन्तु अनेक व्यक्ति ऐसे हैं जो यह पसन्द नहीं करते कि सरकार द्वारा उत्पादन, उपभोग, वितरण व्यापार आदि के सम्बन्ध में सब आदेश ऊपर से दिये जायें और नागरिक को खाने पीने, पहनने या व्यापार करने की तनिक भी स्वतन्त्रता न हो। उनकी मान्यता यह है कि सरकार केवल सामान्य नीतियों का निर्धारण करती रहे। इन नीतियों के अन्तर्गत ही जनता को उत्पादन, उपभोग, व्यापार आदि की स्वतन्त्रता रहे। इसमें पहली व्यवस्था को निर्देशित नियोजन तथा दूसरी व्यवस्था को प्रेरित नियोजन कहा जाता है।

निर्देशित नियोजन के अन्तर्गत सरकार या एक केन्द्रीय अधिकारी (योजना आयोग) द्वारा न केवल नीति सम्बन्धी निर्देश दिये जाते हैं बल्कि उनका पालन करने की आशा भी होती है। वास्तव में, इस व्यवस्था में सरकार स्वयं सब उत्पादक एवं

आर्थिक कार्य करती है, जनता या व्यवसायियों को कोई उत्पादन या वितरण करने की छूट नहीं होती। सरकारी कर्मचारी मशीनों की तरह अधिकारियों के आदेशों का पालन करते हैं

निर्देशित नियोजन स्पष्ट तथा अधिक प्रभावशाली होता है क्योंकि इसमें उत्पादकों को इधर उधर जाने की स्वतन्त्रता नहीं होती। उन्हें अपनी बुद्धि, शक्ति या कुशलता का प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं है। अतः इस व्यवस्था में जो सामान बनता है वह प्रायः घटिया होता है।

प्रेरित नियोजन में केवल नीति निर्धारण करने का काम सरकार का होता है। नीति निर्धारण में भी सरकार उत्पादन करने वालो, व्यापारियों तथा अन्य वर्गों से सलाह ले लेती है। अतः उन व्यक्तियों का नीति निर्धारण में भी योगदान होता है। नीति निर्धारण के पश्चात् उसका पालन करने का काम उद्योगपतियों तथा अन्य वर्गों पर छोड़ दिया जाता है। सरकार समय-समय पर इन वर्गों से सम्पर्क स्थापित करती रहती है जिससे इन वर्गों को अपने उत्तरदायित्व का आभास होता रहता है।

प्रेरित नियोजन में जनता को अपनी बुद्धि, कौशल तथा योग्यता का प्रयोग करने की पर्याप्त स्वतन्त्रता रहती है जिससे नियोजन की सफलता की सम्भावनाएँ अधिक रहती हैं।

निर्देशित नियोजन को केन्द्रित (centralised) नियोजन भी कहा जाता है।

(२) कार्यात्मक नियोजन तथा संरचनात्मक नियोजन

(Functional Planning and Structural Planning)

कार्यात्मक नियोजन का अर्थ यह है कि देश की अर्थ व्यवस्था का मौलिक ढाँचा जैसा है उसी को आधार मानकर उसमें कार्यों को नीति के अनुसार बदल देना चाहिए। इस व्यवस्था में समाज का ढाँचा पूँजीवादी बना रहता है और सरकार की नीतियों के अनुसार उत्पादन, उपभोग तथा वितरण आदि के कार्यों में कुछ परिवर्तन आ जाता है। इस प्रकार के नियोजन में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं लाये जा सकते।

इसके विपरीत संरचनात्मक नियोजन की यह मान्यता है कि समाज के मौलिक ढाँचे में ही परिवर्तन लाया जाना चाहिए। यदि पूँजीवादी व्यवस्था प्रचलित है तो इसके स्थान पर समाजवादी ढाँचा स्थापित होना चाहिए ताकि सरकार द्वारा निर्धारित नीतियों के पालन में किसी प्रकार की कठिनाई उत्पन्न होने का भय न रहे। वास्तव में, संरचनात्मक नियोजन द्वारा ही आर्थिक स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाये जा सकते हैं। अतः समाजवादियों का यह मत है कि आर्थिक नियोजन को सार्थक बनाने के लिए संरचनात्मक स्वरूप ही अपनाया जाना चाहिए।

(३) केन्द्रित नियोजन तथा विकेन्द्रित नियोजन

(Centralised and Decentralised Planning)

इससे पूर्व यह स्पष्ट किया जा चुका है कि केन्द्रित नियोजन में योजना

बनाने, उसे कार्यान्वित करने तथा उसकी सफलता की देख-रेख एव मूल्यांकन करने के लिए एक केन्द्रित अधिकारी या माध्यम होना है। इस प्रकार केन्द्रित नियोजन ऊपर से आदेश की तरह होता है जिसके पालन का दायित्व केन्द्रीय सरकार पर होता है। इस प्रकार के नियोजन में जनता का विश्वास और योगदान प्राय नहीं मिल पाता।

विकेन्द्रित नियोजन के अन्तर्गत स्थानीय तथा प्रादेशिक संस्थाएँ (या शासन व्यवस्थाएं) योजना बनाती हैं और इसको कार्यान्वित करती हैं। इस प्रकार की योजना में केन्द्र की केवल सहमति ले ली जाती है क्योंकि केन्द्र द्वारा प्राय विभिन्न प्रदेशों की योजनाओं में समन्वय तथा तालमेल बैठानी पड़ती है।

केन्द्रित तथा विकेन्द्रित नियोजन का मध्यम मार्ग सुविधापूर्वक अपनाया जा सकता है। इसमें केन्द्रीय अधिकारी स्थानीय तथा प्रादेशिक संस्थाओं से योजना की माँग करते हैं। आपस में विचार-विमर्श के पश्चात् ही इन योजनाओं को अन्तिम रूप दिया जाता है। इससे सारी योजनाओं का एक समन्वित रूप तैयार हो सकता है और प्रत्येक क्षेत्र को अपनी योजना पूरी करने का उत्साह रहता है।

(४) व्यापक नियोजन तथा आंशिक नियोजन

(Comprehensive Planning and Partial Planning)

व्यापक नियोजन में देश की पूरी अर्थ-व्यवस्था के सारे क्षेत्रों के विकास के बारे में योजना बनायी जाती है। इसमें कृषि, उद्योग, व्यापार, वित्त आदि सब क्षेत्रों की समस्याओं का अध्ययन कर उनके समाधान के उपाय किये जाते हैं तथा इन क्षेत्रों के सतुलित विकास के उपाय निकाले जाते हैं। व्यापक नियोजन देश के सम्पूर्ण अर्थ तन्त्र की उन्नति का दृष्टिकोण लेकर अपनाया जाता है।

आंशिक नियोजन के अन्तर्गत देश की अर्थ-व्यवस्था के कुछ चुने हुए क्षेत्रों (खेती, उद्योग आदि) को ले लिया जाता है और इनके विकास के लिए योजना बनायी जाती है। इस प्रकार का योजना अर्थ-व्यवस्था के कुछ हिस्सों से ही सम्बन्धित होती है और वह सारी अर्थ-व्यवस्था को केवल अप्रत्यक्ष रूप में ही प्रभावित करती है। भारत में यदि खेती के विकास के लिए योजना बनायी जाय तो वह सारी अर्थ-व्यवस्था को प्रभावित तो करेगी किन्तु उसका प्रभाव सीमित और अप्रत्यक्ष ही होगा।

लार्ड रॉबिन्स जैसे प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों का मत है कि किसी देश के आर्थिक जीवन में आंशिक नियोजन का कोई महत्त्व नहीं है। यदि नियोजन किया जाय तो व्यापक ही होना चाहिए नहीं तो मुक्त अर्थ-व्यवस्था ही ठीक है।

(५) स्थायी नियोजन तथा आपात नियोजन

(Permanent Planning and Emergency Planning)

जब सरकार आर्थिक नियोजन को आर्थिक विकास का आधार मान लेती है तो प्राय दीर्घकाल के लिए नियोजन किया जाता है और एक योजना के पश्चात्

दूसरी तथा दूसरी के बाद तीसरी योजना के कार्यक्रम चलते रहते हैं। इस प्रकार का नियोजन देश की आर्थिक स्थिति में स्थायी सुधार लाने के वास्ते किया जाता है और नियोजन का कार्य दीर्घकाल तक चलता रहता है।

आपात नियोजन किसी आर्थिक या राजनीतिक संकट से मुक्त होने के लिए अपनाया जाता है। इसकी सारी योजना कुछ समय के लिए होती है और संकट समाप्त हो जाने पर खत्म हो जाती है। युद्धकाल में प्रायः उद्योगों के स्वरूप में परिवर्तन कर दिया जाता है। और माल की पूर्ति का क्रम भी बदल दिया जाता है ताकि युद्धकालीन आवश्यकताओं को आसानी से पूरा किया जा सके। युद्ध की समाप्ति के पश्चात् उद्योगों के ढाँचे में फिर से परिवर्तन कर लिया जाता है। वास्तव में संकटकालीन या आपात नियोजन को नियोजन नहीं कहना चाहिए। यह तो संकटकालीन व्यवस्था मात्र होती है जो परिस्थितियों के अनुकूल स्थापित की जाती है।

(६) प्रजातान्त्रिक नियोजन तथा तानाशाही नियोजन
(Democratic Planning and Dictatorial Planning)

कुछ व्यक्तियों की यह मान्यता रही है कि प्रजातन्त्र एवं पूँजीवाद व्यवस्था है जिसमें आर्थिक नियोजन सफल नहीं हो सकता। उनकी मान्यता यह रही है कि आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए तानाशाही शासन ही सर्वथा उपयुक्त है क्योंकि तानाशाही शासन में जो भी आदेश दिया जायेगा उसका भय के कारण पालन होगा, जबकि प्रजातन्त्र में अनेक निर्णयों को कार्यान्वित करना ही कठिन होता है।

वर्तमान युग में इस धारणा में परिवर्तन हो गया है। अब यह माना जाता है कि योजना बनाते समय सभी क्षेत्रों के विशेषज्ञों तथा प्रशासकों से सलाह ली जानी चाहिए तथा सभी क्षेत्रों के प्रतिनिधियों के मत को उचित महत्त्व दिया जाना चाहिए, इस प्रकार अनेक व्यक्तियों को नियोजन सम्बन्धी निर्णयों में शामिल करने से योजना को कार्यान्वित करना बहुत सरल हो जायगा। इसके साथ ही, साहसियों तथा प्रशासकों को अपने क्षेत्र की योजना को सफल बनाने का उत्साह भी रहेगा।

तानाशाही नियोजन—में ऊपर से आदेश दिये जाते हैं जिनमें पालन करने वालों का विश्वास नहीं होता। अतः वह केवल मशीन की भाँति उन आदेशों का पालन करते हैं, उनसे लगाव या अपनत्व अनुभव नहीं करते। इस प्रकार के नियोजन में उत्तरदायित्व तथा लगाव की कमी रहती है और जनता की बुद्धि तथा क्रियात्मक शक्ति नष्ट हो जाती है क्योंकि उन्हें अपनी क्रियात्मक शक्ति का प्रयोग करने का अवसर ही नहीं मिलता।

अल्प विकसित देशों में आर्थिक नियोजन
(ECONOMIC PLANNING IN UNDERDEVELOPED COUNTRIES)

कठिनाइयाँ—अल्प या कम विकसित देशों में आर्थिक नियोजन में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं

(१) घटिया प्रशासन—आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए मजबूत, सुयोग्य तथा ईमानदार प्रशासन (strong, competent and incorrupt administration) की आवश्यकता होती है। यह प्रशासन ऐसा होना चाहिए जो अपनी नीतियों को कार्यान्वित करने मे समर्थ हो। अल्प विकसित देशो में प्राय करो की वसूली करनी कठिन होती है। यदि वस्तुओ के मूल्यो पर नियन्त्रण लगाये जाते हैं और राशन व्यवस्था लागू कर दी जाती है तो प्राय भ्रष्टाचार और चोर बाजारी फैल जाती है। इस प्रकार सरकार की नीतियाँ प्राय कागज पर रह जाती हैं, उनका ठीक प्रकार पालन नहीं हो पाता।

इन देशो मे प्रशासन व्यवस्था ढीली, अयोग्य तथा भ्रष्ट होती है। और रिश्वत के बल पर राष्ट्रद्रोही काम होते रहते हैं। अत जनता को भी सरकार की नीतियो तथा प्रशासन व्यवस्था मे विश्वास नही रहता। इस प्रकार आर्थिक योजनाओ मे जो रकम खर्च की जाती है। उसका एक बड़ा भाग भ्रष्ट शासको, ठेकेदारों तथा प्रशासको की जेबों मे चला जाता है और जनता को बहुत कम लाभ मिलता है।

(२) साज सज्जा की कमी—अल्प विकसित देशो मे प्राय सडकें, रेलें, बिजली, सिंचाई की सुविधाएँ जल पूर्ति, स्वच्छता, शिक्षा तथा सदेशवाहन के साधनो की बहुत कमी रहती है। यह सुविधाएँ आर्थिक विकास के लिए बहुत आवश्यक है किन्तु इन देशो मे यह सुविधाएँ बहुत पिछडी हुई रहती हैं तथा विकास भी धीरे-धीरे होता है। अत इन आधारभूत आवश्यकताओं की कमी के कारण आर्थिक विकास का काम शिथिल रहता है।

(३) तकनीकी ज्ञान—अल्प विकसित देशो मे प्राय. तकनीकी ज्ञान का सर्वथा अभाव रहता है। इन देशो मे प्रशिक्षित इजीनियर, तथा प्राविधिक विशेषज्ञो और प्रबन्ध व्यवस्था मे कुशल व्यक्तियो की कमी रहती है अत किसी भी योजना का आरम्भ करने से पहले विदेशो से इञ्जीनियर या तकनीकी जानकार बुलाना आवश्यक होता है। इनकी सेवा के लिए बहुत अधिक वेतन देना पडता है जो इन देशो के लिए बहुत भारी पडता है।

(४) पिछडी हुई कृषि—ससार के विकसित देशो मे प्राय खेती से प्राप्त आमदनी मे औद्योगिक विकास किया गया है। अल्प विकसित देशो मे प्राय कृषि की स्थिति बहुत पिछडी हुई रहती है। कृषि की पुरानी प्रणालियाँ, छोटे-छोटे खेत, कृषि की नयी प्रणालियो के प्रति अज्ञानता तथा कृषि पर बहुत अधिक जन सख्या की निर्भरता के कारण इन देशो मे खेती से कोई बचत नहीं होती है। अत खेती उद्योगो के विकास मे कोई सहयोग प्रदान नहीं करती।

(५) मुद्रा स्फीति का भय—अल्प विकसित देशो मे योजनाओ को कार्यान्वित करने के लिए पूँजी की प्राय कमी रहती है। इन देशों मे जनता की आय कम

होने से पूँजी निर्माण कम होता है अतः जनता पर अधिक कर लगाने से भी आवश्यक पूँजी नही मिल सकती। जनता की बचाने की शक्ति कम होने के कारण उधार लेकर भी पूँजी की आवश्यकता को पूरा नहीं किया जा सकता। अतः सरकार द्वारा पूँजी की कमी घाटे के बजट बना कर पूरी की जाती है।

इन सब स्थितियो के साथ ही सबसे गम्भीर स्थिति यह होती है कि इन देशो मे उत्पादन मे बहुत धीरे वृद्धि होती है अतः सरकार जितने नये नोट छापती है उनका अधिक भाग मुद्रा स्फीति मे सहयोग देता है। मुद्रा स्फीति के कारण वस्तुओ के मूल्य बढने लगते हैं कर्मचारियो के महगाई भत्तो मे वृद्धि करनी पडती है और सरकार के खर्च मे निरन्तर वृद्धि होती चली जाती है। इस प्रकार प्रत्येक योजना जिस आशा से आरम्भ की जाती है उस आशा से बहुत अधिक खर्चीली सिद्ध होती है जिससे सरकार की आर्थिक कठिनाइयाँ बढती चली जाती हैं।

(६) विदेशी पूँजी—इन सब कठिनाइयो के कारण कम विकसित देशो को अन्य देशो से पूँजी उधार लेनी पडती है, तकनीकी विशेषज्ञो को बुलाना पडता है या विदेशियो को अपने देश मे पूँजी विनियोग के लिए प्रोत्साहित करना पडता है। इस प्रकार अल्प विकसित देशो मे विदेशी पूँजीपतियो का प्रभाव बढता चला जाता है। यह प्रभाव अनेक बार इन देशो की स्वतन्त्र आर्थिक नीति मे बाधक हो जाता है। वर्तमान युग मे यह कहा जाता है कि अनेक अल्प विकसित देशो की आर्थिक नीति वाशिंगटन म निर्धारित होती है क्योकि इन देशो की आर्थिक योजनाओ के लिए अमरीका द्वारा पूँजी की व्यवस्था की जाती है।

(७) जन सख्या—अल्प विकसित देशो मे आर्थिक नियोजन की एक कठिनाई यह है कि अनेक देशो मे जन सख्या बहुत तीव्र गति से बढ रही है। इन देशो मे कुल आय मे जितनी वृद्धि होती है उसका अधिकाश भाग बढती हुई जन सख्या मे बट जाता है अत प्रति व्यक्ति आय मे विशेष वृद्धि नही होने पाती। इसलिए इन देशो मे जीवन स्तर निरन्तर नीचा रहता है और ऐसा आभास ही नही होने पाता कि इनमें आर्थिक नियोजन द्वारा विकास किया जा रहा है। भारत, पाकिस्तान, लका, ब्रह्मा आदि देश इस स्थिति के उदाहरण हैं।

अल्प विकसित देशो मे कही कही जन सख्या इतनी कम भी है कि वहाँ आर्थिक योजनाओ को कार्यान्वित करने के लिए काम करने वाले उपलब्ध नही होते। आर्थर ल्यूइस ने उत्तरी रोडेशिया का उदाहरण दिया है जिसकी १९ लाख जन सख्या लगभग ३½ लाख वर्गमील के क्षेत्रफल म बिखरी हुई है। ऐसे देशो मे आर्थिक साधनो का विकास करने तथा उनकी देखभाल के लिए पर्याप्त जन शक्ति की कमी दिखलायी पडती है।

(८) अधविश्वास तथा रूढियाँ—आर्थिक नियोजन की सफलता मे सबसे अधिक बाधक तत्व हैं धार्मिक अधविश्वास तथा रूढियाँ। अल्प विकसित देशो मे

प्राय अधिकांश व्यक्ति अशिक्षित होते हैं जो भाग्यवाद और पुरातन रूढ़ियो मे विश्वास करते हैं। भाग्यवाद की जडता के कारण इनकी क्रियाशीलता समाप्त हो जाती है क्योंकि वह मानते हैं कि अधिक प्रयत्न करने से कोई लाभ नहीं है, जो भाग्य मे लिखा है सो ही होगा। यह दृष्टिकोण उत्पादन के नये तकनीक अपनाने मे बाधक है। अनेक बार उत्पादन की नयी रीतियाँ इसलिए नहीं अपनायी जातीं कि उनमे लोगो को विश्वास नही होता। अत उत्पादन कम रहता है जनता की आय मे आशा के अनुरूप वृद्धि नही होती और जीवन स्तर नीचा ही बना रहता है।

कम विकसित देशों के लिए आर्थिक नियोजन अधिक अनुकूल है

ऊपर लिखी गई कठिनाइयो के होते हुए भी पिछड़े देशों के लिए आर्थिक नियोजन अधिक अनुकूल है। यदि ससार के आर्थिक इतिहास को ध्यान से देखा जाय तो पता चलेगा कि अल्प विकसित देशो मे ही आर्थिक नियोजन द्वारा विकास करने का कार्य आरम्भ किया गया और इन देशों मे आर्थिक नियोजन को पर्याप्त सफलता भी मिली। सोवियत सघ यूरोप के अत्यन्त पिछड़े हुए देशो मे से था। पूर्वी यूरोप के अन्य देशों की भी यही स्थिति थी। इन देशों ने आर्थिक नियोजन के द्वारा जिस गति से आर्थिक विकास किया वह अन्य देशों के लिए उदाहरण बन गया है और अन्य देश आर्थिक नियोजन की दृष्टि से इन देशों का उदाहरण सामने रखते हैं।

अल्प विकसित देशों के लिए आर्थिक नियोजन निम्नलिखित कारणों से अधिक अनुकूल है

(१) नव निर्माण सरल—अल्प विकसित देशों में प्राय कृषि तथा उद्योग पिछड़े हुए रहते हैं। इन देशो म प्राय उद्योग धन्धो का तो सर्वथा नये सिरे से विकास करना होता है। नये उद्योगो की स्थापना पुराने उद्योगो मे सुधार की बजाय अधिक सरल होती है। अत अल्प विकसित देशों के लिए एक ओर तो योजना बनाना सरल होता है, दूसरी ओर इसके सम्बन्ध मे योजनाओ को कार्यान्वित करना भी आसान रहता है क्योंकि पुराने उद्योग नाम मात्र को होते हैं जिनकी ओर से बाधा उत्पन्न होने का प्रश्न ही नही उठता।

(२) व्यवस्था—अल्प विकसित देशों मे नये सिरे से उद्योग और व्यवसाय स्थापित किये जाते हैं। इन इकाइयो मे प्रबन्ध और व्यवस्था के नवीनतम तकनीक काम में लिए जाते हैं और प्रबन्ध व्यवस्था की बिल्कुल नयी परम्पराएं स्थापित होती हैं। इन परम्पराओं मे काम करने वाले व्यक्ति अपने आप ही उच्चस्तरीय कौशल ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार इन देशो मे अच्छे प्रबन्धकों की नयी पीढ़ी तैयार हो जाती है जो उद्योग तथा व्यवसाय के लिए बहुत उपयोगी रहती है।

(३) अन्तरराष्ट्रीय व्यापार—विकसित देशों का व्यापार प्राय अनेक देशो से होता है और इस पर नियन्त्रण लगाने पर अनेक प्रकार की आर्थिक तथा राजनीतिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। अत विकसित देशो मे आर्थिक नियोजन सरल नहीं है। अल्प विकसित देशो का व्यापार प्राय कम होता है और उनके इने गिन

आयात तथा निर्यात कुछ ही देशों से होते हैं जिन पर नियन्त्रण लगाने में विशेष कठिनाई या समस्याएँ उत्पन्न नहीं होती।

वास्तव में अल्प विकसित देश आर्थिक नियोजन की दृष्टि से एक नयी स्लेट की भाँति हैं जिन पर कुछ भी नयी बात लिखने में विशेष कठिनाई उत्पन्न नहीं होती।

आर्थिक नियोजन का महत्त्व
(Improtance of Economic Planning)

आर्थिक नियोजन आज के युग की माँग है क्योंकि अब प्राय सभी को यह विश्वास हो गया है कि नियोजन द्वारा देश के आर्थिक विकास को गति दी जा सकती है, राष्ट्रीय आय में तेजी से वृद्धि की जा सकती है तथा आर्थिक विषमता को कम किया जा सकता है। आर्थिक नियोजन के बढ़ते हुए महत्त्व को अनेक दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है। यहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण प्रस्तुत किये जा रहे हैं

(१) समाजवाद—आज के युग को समाजवादी युग कहा जा सकता है। आर्थिक नियोजन समाजवाद को आधार मिला है। कुछ व्यक्ति तो नियोजन और समाजवाद को एक ही मानते हैं तथा कुछ की मान्यता यह है कि आर्थिक नियोजन के बिना समाजवाद की स्थापना सम्भव नहीं है। वास्तव में उत्पादन में तेजी से वृद्धि और आर्थिक साधनों का न्यायपूर्ण वितरण करने के लिए आर्थिक नियोजन आवश्यक है। यही तत्त्व समाजवाद की स्थापना में सहायक होते हैं।

(२) तकनीशियन के लिए—वर्तमान युग प्रगतिशील तकनीक का युग है। इसमें उत्पादन की नयी प्राविधियों (Technology) का विकास होता जा रहा है। एक तकनीकी विशेषज्ञ आर्थिक नियोजन को श्रेष्ठ समझता है। क्योंकि नियोजित व्यवस्था में देश के प्राकृतिक तथा अन्य साधनों का श्रेष्ठतम प्रयोग किया जाता है। यह नवीनतम तकनीकों के प्रयोग से ही सम्भव है। एक तकनीकी विशेषज्ञ की दृष्टि से आर्थिक नियोजन अधिक वैज्ञानिक तथा तर्क सगत आधार को मानती है। अत वह नियोजन को आर्थिक विकास का श्रेष्ठ माध्यम स्वीकार करता है।

(३) राजनीतिज्ञ—वर्तमान युग में प्रत्येक राजनीतिज्ञ यह चाहता है कि उसके क्षेत्र में नये कारखाने खोले जायें, नयी सड़कें बनें, बिजली तथा पानी की सुविधाएँ उपलब्ध हों और विकास के अधिक से अधिक कार्यक्रम आरम्भ किये जायें। यह आर्थिक नियोजन में ही सम्भव है क्योंकि नियोजन का ध्येय ही नये नये कल कारखाने स्थापित कर तेजी से आर्थिक विकास करना होता है। अत राजनीतिज्ञों के लिए आर्थिक नियोजन का विशेष महत्त्व होता है।

(४) विनियोक्ता—जिन व्यक्तियों के पास पूँजी होती है और वह अपनी पूँजी को लाभदायक कामों में लगाना चाहते हैं वो विनियोक्ता कहलाते हैं। आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत विकास की अनेकानेक योजनाएँ बनायी जाती हैं जिनमें करोड़ों रुपये विनियोजित किये जाते हैं अत आर्थिक नियोजन में पूँजी विनियोग करने वालों को अपनी पूँजी श्रेष्ठतम क्षेत्रों में लगाने का अवसर मिलता है। इससे एक ओर तो

पूँजी लगाने वालों को लाभ होता है, दूसरी ओर देश के आर्थिक विकास के लिए धन उपलब्ध हो जाता है।

(५) सरकार—आर्थिक नियोजन का सरकार के लिए अत्यधिक महत्त्व है क्योंकि नियोजन के माध्यम से सरकार को अपनी योजनाएँ कार्यान्वित करने का अवसर मिल जाता है। प्रजातन्त्र की सफलता के लिए तेजी से आर्थिक विकास होना बहुत आवश्यक है और तेजी से आर्थिक विकास करने के लिए आर्थिक नियोजन महत्त्वपूर्ण माध्यम है।

(६) सामान्य नागरिक—आर्थिक नियोजन का सामान्य नागरिक के लिए भी बहुत महत्त्व है क्योंकि नयी-योजनाओं में करोड़ों रुपये की पूँजी लगने से रोजगार के नये साधनों का विकास होता है। अतः साधारण नागरिक को रोजगार मिलने में पहले से कुछ अधिक सुविधा रहती है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि आर्थिक नियोजन के द्वारा आर्थिक विकास तेजी से होना है जिससे प्रत्येक नागरिक की आय में वृद्धि होने की सम्भावना रहती है। तीसरी बात यह है कि आर्थिक नियोजन के कारण सड़कें, रेलें, बिजली, पानी, शिक्षा, चिकित्सा आदि की सुविधाओं का विस्तार होता है। अतः सामान्य नागरिक को पहले से अधिक और अच्छी सामाजिक सेवाएं मिलने लगती हैं।

संक्षेप में, आर्थिक नियोजन के एक सामान्य नागरिक के लिए निम्नलिखित महत्त्व है :

(i) रोजगार मिलने के अवसरों में वृद्धि हो जाती है।

(ii) उसकी आय में वृद्धि होने की सम्भावना रहती है।

(iii) उसे पहले से अच्छी और अधिक सामाजिक सेवाएँ मिलती है।

आर्थिक नियोजन की सफलता में सहायक तत्व

वर्तमान युग में यह स्वीकार कर लिया गया है कि आर्थिक विकास में तेजी लाने के लिए नियोजन की नीति अपनायी जानी चाहिए। वैसे तो आर्थिक नियोजन कहीं भी किसी भी देश में अपनाया जा सकता है किन्तु नियोजन में सफलता प्राप्त करना सरल काम नहीं है। यदि निम्नलिखित व्यवस्थाएँ की जा सकें तो आर्थिक नियोजन की सफलता में सहायता मिल सकती है :

(१) पर्याप्त सम्पर्क—कोई भी योजना बनाने से पहले उस क्षेत्र की वास्तविक स्थिति का पूरा ज्ञान होना आवश्यक है। यदि किसी देश में इस्पात का नया कारखाना लगाना है तो यह जानकारी होनी चाहिए कि देश में कहाँ-कहाँ किस किस्म का कितना लोहा मिलता है और इस्पात बनाने के लिए अन्य आवश्यक तत्व कहाँ-कहाँ कितने-कितने मिलते हैं, देश में इस्पात की वर्तमान माँग कितनी है तथा भविष्य में कितनी हो जाने की सम्भावना है। विभिन्न देशों में इस्पात के क्या मूल्य हैं तथा उनके भविष्य में कितने बढ़ने या घटने की सम्भावना है। इसी प्रकार के

अन्य आँकड़े मिल जाने पर देश में इस्पात का कारखाना स्थापित करने का निर्णय लेने में आसानी रहेगी।

वास्तव में, सही आँकड़ों के अभाव में किसी भी क्षेत्र में कोई भी योजना बनाना बहुत कठिन है क्योंकि भविष्य की योजना का आधार सदा वर्तमान की स्थिति को बनाना चाहिए। अतः योजना की सफलता के लिए देश में एक शक्तिशाली सांख्यिकीय संगठन की स्थापना की जानी चाहिए जो विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित शुद्ध आँकड़े संग्रह कर नियोजकों को उपलब्ध करा सके।

(२) प्रशासनिक ढाँचा—आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए सबल, सुयोग्य तथा ईमानदार प्रशासन होना चाहिए। यदि देश का प्रशासनिक ढाँचा ढीला है, उसमें भ्रष्ट तथा निकम्मे कर्मचारी तथा अधिकारी भरे हुए हैं तो पहले उसमें सुधार किया जाना चाहिए। इसके लिए यदि विशेष कानून भी बनाने पड़ें तो ऐसे कानून बनाकर घटिया व्यक्तियों को सेवा मुक्त या सेवा निवृत्त कर देना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया गया तो कोई भी काम सफलतापूर्वक सम्पन्न नहीं किया जा सकेगा। पद पद पर ढीले तथा भ्रष्ट अधिकारी योजना को दिशा भ्रष्ट कर देंगे या उसकी सफलता में बाधाएँ उत्पन्न करेंगे।

प्रशासनिक ढाँचे को भ्रष्ट आचरण से मुक्त करने के लिए बहुत कड़े दण्ड विधान की व्यवस्था करनी आवश्यक है और दोषी पाये जाने पर अधिक से अधिक शक्तिशाली व्यक्तियों को भी दण्ड देने की व्यवस्था की जानी चाहिए। इससे भ्रष्टाचार करने में भय लगने लगेगा और स्वच्छ तथा सबल शासन मिलने से योजनाओं की सफलता असंदिग्ध हो जायगी।

(३) जन विश्वास तथा सहयोग—किसी भी योजना की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उसमें आदि से अंत तक जनता का सहयोग मिले। इसके लिए योजना बनाते समय ही जनता का मन जान लेना चाहिए और जनता की इच्छा तथा आवश्यकतानुसार ही योजना बनायी जानी चाहिए।

योजना बन जाने के बाद उसे कार्यान्वित करने के लिए भी जन सहयोग अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए योजना के महत्त्व का उचित प्रचार किया जाना चाहिए और जनता से उचित सहयोग की माँग की जानी चाहिए। जन सहयोग के बिना कोई भी आर्थिक योजना सफल नहीं हो सकती।

(४) आर्थिक संगठन—आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए राज्य स्तर पर एक शक्तिशाली आर्थिक संगठन बनाया जाना चाहिए जो सरकार को (या योजना आयोग को) उचित परामर्श दे सके। इसके लिए आर्थिक तथा वित्त मन्त्रालय और योजना आयोग के संगठन को उचित रूप में पुनर्व्यवस्थित किया जाना चाहिए। आर्थिक संगठन अच्छा होने पर योजना ठीक बन सकेगी और उसे कार्यान्वित करना भी सरल रहेगा।

आर्थिक नियोजन के गुण
(Merits of Economic Planning)

आर्थिक नियोजन अनेक आशाओ को लेकर अपनाया जाता है। वास्तव में ठीक ढग से बनायी गयी योजना और उसके ठीक ढङ्ग से सचालन मे अनेक गुण हैं जिनका उल्लेख आगे किया जा रहा है

(१) तेजी से आर्थिक विकास—वर्तमान युग मे ससार के अधिकाश देशो मे भूख और गरीबी है। इसे दूर करने के लिए बहुत तेजी से आर्थिक विकास करने की आवश्यकता है। यह कार्य आर्थिक नियोजन द्वारा ही हो सकता है। आर्थिक नियोजन के बिना कृषि, उद्योग, व्यवसाय आदि मे विकास तो होता है किन्तु उन्ही क्षेत्रो मे होता है जिनसे पूँजीपतियो को अधिक लाभ मिलने की आशा होती है। अत आर्थिक विकास का चक्र बहुत धीरे घूमता है। आर्थिक नियोजन से विकास का पहिया अधिक गतिशील हो जाता है और सभी क्षेत्रो मे प्रगति तथा उन्नति दिखलाई पडने लगती है।

(२) आर्थिक विषमता मे कमी—पूँजीवादी अथवा मुक्त अर्थ व्यवस्था मे प्राय गरीब और अमीर का भेद बहुत अधिक होता है। इसमे आर्थिक साधन कुछ व्यक्तियो के हाथ मे सकेन्द्रित होते हैं। समाज का निरन्तर शोषण होता रहता है, गरीब गरीब ही बने रहते हैं तथा अमीर अधिक अमीर होते चले जाते हैं। इस दुष्चक्र को आर्थिक नियोजन द्वारा तोडा जा सकता है क्योकि नियोजन के द्वारा उत्पादन के साधन अनेक व्यक्तियो मे बाँट दिये जाते हैं और आर्थिक सत्ता थोडे से हाथो से निकल कर अनेक हाथो मे बट जाती है। अत शोषण कम होने लगता है, राष्ट्रीय आय का वितरण ठीक होने लगता है और गरीबी अमीरी के भेद मिटने लगते हैं। वास्तव मे यह परिवर्तन इस बात पर निर्भर करता है कि नियोजन को कितनी ईमानदारी और सचाई से लागू किया जाता है।

(३) रोजगार सबके लिए—पूँजीवादी मुक्त व्यवस्था मे इस बात की चिन्ता नही की जाती कि किन व्यक्तियो को रोजगार मिला हुआ है और कितने व्यक्ति बेरोजगार हैं। इस व्यवस्था मे "शक्तिशाली व्यक्ति ही जीवित रहते हैं" जिसका अर्थ यह है कि रोजगार उन व्यक्तियो को मिलता है जिनके पास राजनीतिक या अन्य प्रकार की शक्ति है। अनेक व्यक्ति बेरोजगार रह जाते हैं। आर्थिक नियोजन का लक्ष्य आर्थिक लाभ कमाना नही, व्यक्तियो को रोजगार देना है। यदि नियोजन ठीक ढङ्ग से किया जाय तो समाज का कोई भी व्यक्ति बेरोजगार नही रहेगा और समाज मे बढता हुआ व्यापक असन्तोष धीरे-धीरे कम होने लगेगा।

(४) सामाजिक परजीविता का अन्त—मुक्त बाजार व्यवस्था मे जिन लोगो ने उत्तराधिकार मे लाखों करोडों रुपये की सम्पत्ति प्राप्त कर ली है या जिन्हे लगे लगाये कारखाने मिल गये हैं वह बिना परिश्रम किये ही खूब आमदनी प्राप्त करते रहते हैं जबकि लाखों व्यक्ति दिन-रात परिश्रम करके भी ठीक प्रकार जीवन निर्वाह

नहीं कर सकते । आर्थिक नियोजन में कर व्यवस्था तथा आय के वितरण का क्रम ऐसा होता है कि सम्पत्ति धीरे-धीरे काम न करने वाले व्यक्तियों के हाथ से निकाली जाती है और काम करने वाले वर्ग मे बटती जाती है । यदि सरकार चाहे तो इस क्रम में तेजी कर परजीविता (*Parasitism*) को समाप्त कर सकती है । वास्तव मे आर्थिक नियोजन एक माध्यम है जिसके द्वारा सबको परिश्रम करने के लिए बाध्य किया जा सकता है ।

(५) मूल्यों मे स्थायित्व—पूँजीवादी व्यवस्था एक स्पर्द्धात्मक व्यवस्था होती है जिसमे सरकार प्राय किसी प्रकार के नियन्त्रण आदि लागू नही करती । इस व्यवस्था मे अनेक बार पूँजीपति वस्तुओं के कृत्रिम अभाव की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं जिससे मूल्यो मे वृद्धि हो जाती है । इस प्रकार मूल्यों मे उतार-चढाव द्वारा कुछ व्यक्ति अतुल धन-राशि कमा लेते हैं और निर्धन तथा सामान्य वर्ग के व्यक्तियों को बहुत कष्ट उठाना पड़ता है ।

आर्थिक नियोजन एक नियन्त्रित व्यवस्था होती है जिसमें सरकार वस्तु मूल्यों को नियन्त्रित रखती है । मूल्यो मे उतार चढाव नही होने दिये जाते जिससे साधारण जनता को सब वस्तुएँ नियमित रूप म ठीक मूल्य पर मिलती रहती हैं और सरकार की योजनाओ पर खर्च मे भी वृद्धि नही होने पाती । इस प्रकार मूल्यों पर नियन्त्रण रखने से व्यापार चक्र नहीं आने पाते (जिनमे मूल्यो मे भयानक उतार-चढाव होने का डर रहता है) ।

(६) प्राकृतिक साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग—आर्थिक नियोजन मे वैसे तो सभी क्षेत्रों के विकास का प्रयत्न किया जाता है किन्तु कुछ क्षेत्रों के विकास पर विशेष ध्यान दिया है ताकि राष्ट्रीय आय मे तेजी से वृद्धि हो सके । इस प्रकार देश के पास जितने प्राकृतिक तथा मानवी साधन हैं उनको इस ढङ्ग से काम में लिया जाता है कि कम मूल्य पर अधिक से अधिक उत्पादन हो सके । वास्तव मे, आर्थिक नियोजन विकास की वह प्रणाली है जिसमे राष्ट्रीय साधनो का श्रेष्ठतम उपयोग किया जाता है ।

(७) सामाजिक सेवाओं का विस्तार—आर्थिक नियोजन सदा बहुमुखी होता है जिसमे भूमि, उद्योग तथा व्यवसाय आदि के विकास के साथ-साथ शिक्षा, चिकित्सा आदि सामाजिक सेवाओ की सुविधाओ का भी तेजी से विस्तार किया जाता है । इन सुविधाओ का विस्तार किये बिना आर्थिक विकास मे भी पर्याप्त तेजी नही आ सकती किन्तु पूँजीवादी व्यवस्था इन सुविधाओ की कोई चिन्ता नही करती ।

सामाजिक सेवाओ का विस्तार करने से देश का नागरिक अपने आप को एक प्रतिष्ठित तथा गौरवशाली व्यक्ति समझने की स्थिति मे होता है । इस दृष्टि से आर्थिक नियोजन समाज के प्रत्येक व्यक्ति को गौरव प्रदान करता है ।

(८) सन्तुलित विकास—प्रत्येक देश मे कुछ भाग ऐसे होते हैं जो अन्य भागों से अधिक पिछड़े हुए होते हैं । इन भागों मे सड़कें, रेलें, नहरें आदि बनाने या

कल-कारखाने लगाने में अधिक पूँजी खर्च करनी पड़ती है और लाभ कम होता है। अत सामान्य स्थिति में यह भाग सदा पिछड़े हुए ही रह जाते हैं। आर्थिक नियोजन में प्राय पिछड़े हुए भागों के विकास पर विशेष ध्यान दिया जाता है ताकि यह भाग भी देश के अन्य क्षेत्रों के समान स्तर पर आ सकें। इस प्रकार आर्थिक नियोजन सन्तुलित आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करता है जिससे समाज का पिछड़ापन जल्दी दूर हो जाता है।

(९) जनता की आकांक्षाओं का प्रतीक—वर्तमान युग में अधिकतर देशों में प्रजातन्त्रीय सरकारें हैं। प्रजातन्त्र में जनता के प्रतिनिधि प्राय आर्थिक विकास के अनेक वायदे करते हैं। जनता भी यह आशा करती है कि उनके द्वारा चुनी गयी सरकार उनके आर्थिक उत्थान के लिए महत्त्वपूर्ण कदम उठायेगी। इस प्रकार प्रजातन्त्रीय सरकारों से जनता अनेक आशाएँ लगाती है। इन आशाओं तथा आकांक्षाओं को आर्थिक नियोजन के माध्यम से पूरा किया जा सकता है क्योंकि आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत आर्थिक विकास के अनेक कार्यक्रम बनाये जाते हैं जिनसे जनता को अधिक रोजगार मिलता है, उसकी आय में वृद्धि होती है तथा जीवन स्तर ऊँचा होता है।

(१०) उचित स्वरूप तथा संचालन आवश्यक—आर्थिक नियोजन के यह सब लाभ तभी उपलब्ध हो सकते हैं जबकि सरकार योजना बनाने में सब क्षेत्रों के व्यक्तियों का उचित सहयोग प्राप्त करे और सम्पूर्ण निष्ठा, सचाई तथा ईमानदारी से योजना बनाकर उसके संचालन का भार भी श्रेष्ठ व्यक्तियों को सौंप दे। इस सम्बन्ध में यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि एक घटिया योजना भी श्रेष्ठ व्यक्तियों के हाथ में आकर उचित फल देती है जबकि एक श्रेष्ठ योजना भी भ्रष्ट तथा अवांछनीय व्यक्तियों के हाथ में आकर असफल हो जाती है। अत आर्थिक नियोजन के वास्तविक लाभ प्राप्त करने के लिए देश में सबल, सजग, समर्थ, सक्रिय तथा ईमानदार शासन तथा प्रशासन की व्यवस्था करना आवश्यक है।

आर्थिक नियोजन की कमियाँ या दोष

यह प्राय देखा गया है कि प्रत्येक अच्छी बात का एक दूसरा पहलू भी होता है जिसमें उसकी कमियाँ अथवा दोष दिखलायी पड़ते हैं। अनेक बार यह दोष गलत नीति या गलत संचालन के कारण उत्पन्न होते हैं। कभी कभी किसी व्यवस्था में ही आधारभूत बुराइयाँ छिपी रहती हैं। आर्थिक नियोजन के भी कुछ दोष बतलाये गये हैं जो निम्नलिखित हैं :

(१) नौकरशाही का प्रभुत्व—आर्थिक नियोजन में सरकारी उद्योगों का प्रभुत्व रहता है। सरकारी उद्योग प्राय प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों की देख रेख में चलाये जाते हैं जिनको उद्योग तथा व्यवसाय चलाने का तनिक भी अनुभव नहीं होता। यह व्यक्ति जिस परम्परा में पले हुए होते हैं उसमें काम प्राय

धीरे-धीरे होना है, कागजी कार्यवाही बहुत होती है। सरकारी कर्मचारियों के इस रवैये के कारण ही आर्थिक नियोजन मे सफलता नही मिलती।

(२) प्रोत्साहनों का अभाव—नियोजन की परम्परा ऐसी है कि उसमे प्रत्येक क्षेत्र केवल निर्धारित सीमा मे काम करता है। किसी के लिए नया काम करने या नयी दिशा मे सोचने का अवसर नही होता। अत नयी दिशाओ मे सोचने या क्रियात्मक दृष्टिकोण अपनाने का क्रम समाप्त हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति बनी बनायी लकीरो पर कोल्हू के बैल की भाँति आँखो पर पट्टी बाँधे चला जाता है क्योंकि नया काम करने या अधिक काम करने की न तो स्वतन्त्रता होती है, न उसका फल ही मिलता है। इस प्रकार प्रोत्साहनो के अभाव मे प्राय बहुत सीमित मात्रा मे ही विकास हो पाता है।

(३) भ्रष्टाचार तथा चोर बाजारी—आर्थिक नियोजन म नियन्त्रण, लाइसेंस, परमिट आदि के कारण सरकारी कर्मचारियो तथा अधिकारियो का महत्त्व बहुत बढ जाता है। लोगों को बार-बार इनके पास जाना पडता है। इनकी कार्यप्रणाली ढीली और सुस्त होने के कारण कुछ व्यक्ति (जिनके पास काम अधिक है) अपना काम जल्दी करवाने के लिए रिश्वत का सहारा लेने लग जाते हैं। इस प्रकार लाइसेंस और परमिट दिलवाने वालो का एक नया वर्ग पैदा हो जाता है जो सारे प्रशासन तथा आर्थिक तन्त्र मे भ्रष्टाचार फैला देता है। अनेक वस्तुएँ जो लाइसेंस या परमिट से मिलती हैं चोर बाजार मे ऊँचे मूल्यो पर बिकने लगती हैं। इस प्रकार नियन्त्रणो के कारण सारे समाज मे भ्रष्टाचार व्याप्त हो जाता है।

(४) उपभोक्ता की अवहेलना—आर्थिक नियोजन मे प्राय वस्तुओ की पूर्ति सरकारी अधिकार मे रहती है। सरकार के आदेश से ही वस्तुओ का आयात होता है तथा देश में उत्पन्न वस्तुएँ सरकारी आदेश से ही वितरित होती हैं। अत उपभोक्ता की स्थिति बिल्कुल गुलाम सरीखी हो जाती है। उसे जो वस्तु मिल जायें उन्हीं पर गुजारा करना पडता है। अनेक बार उसे जीवन की अति आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करने मे भी कठिनाई होती है। कभी कभी यह वस्तुएँ बहुत महँगे भाव भी खरीदनी पडती हैं।

(५) व्यावसायिक स्वतन्त्रता नहीं—आर्थिक नियोजन लागू होने पर अनेक व्यवसाय और कार्य तो सीधे सरकारी अधिकार या नियन्त्रण में आ जाते हैं अत जनता को वही व्यवसाय चुनने पडते हैं जिनकी सरकार द्वारा अनुमति होती है। इस प्रकार धन्धा या व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है।

(६) तानाशाही—नियोजित अर्थ-व्यवस्था म राजनीतिक सत्ता कुछ व्यक्तियो के हाथ मे होती है। यदि उनके दल को अत्यधिक बहुमत प्राप्त होता है तो वह तानाशाह की तरह व्यवहार करने लगते हैं। धीरे धीरे जनता की आवाज का महत्त्व कम होने लगता है। और मनमाने काम होने लगते हैं। इनसे समाज में व्यापक

असन्तोष उत्पन्न हो जाता है और खून खच्चर तथा विद्रोह की घटनाएँ घटने लगती हैं।

(७) गुप्तता— आर्थिक नियोजन मे अनेक बार सत्ताधारी दल गुप्त रूप से अपनी नीतियाँ लागू करने का प्रयत्न करता है। अनेक क्षेत्रों से सम्बन्धित बातें गुप्त रखी जाती हैं। इससे पर्दे के पीछे अनेक बार आर्थिक भ्रष्टाचार पनपने लगता है।

(८) राजनीतिक उद्देश्य—अनेक बार कुछ योजनाएँ सत्ताधारी दल के राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए बनायी जाती है ताकि कुछ प्रभावशाली व्यक्ति सदा कुर्सी पर बने रह सकें। इस प्रकार के राजनीतिक पक्षपात से कुछ इने गिने वर्गों को लाभ पहुँचता है और जनता के धन का दुरुपयोग होता है। जिन व्यक्तियों का राजनीतिक प्रभाव नही है या जो क्षेत्र सत्ताधारी दल के साथ नही होते उनको हानि उठानी पडती है।

उपसंहार—इससे पूर्व दिये गये विवरण से स्पष्ट है कि आर्थिक नियोजन एक वरदान भी है और अभिशाप भी। यदि आर्थिक नियोजन के पीछे पूर्वाग्रह नही है, *व्यक्तिगत दलगत या राजनीतिक स्वार्थ नही है केवल राष्ट्रीयता की भावना है तो* वह सबके लिए लाभकारी होगा। उसके पीछे 'बहुजन सुखाय, बहुजन हिताय' का आदर्श होने के कारण उससे अधिकांश व्यक्तियों को लाभ ही होगा। आर्थिक नियोजन को निकम्मे, काहिल और घटिया चरित्र के व्यक्तियों से बचाना होगा क्योंकि उनकी छाया ही किसी श्रेष्ठ कार्य को कलंकित करने के लिए पर्याप्त है।

अभ्यास प्रश्न

१ आर्थिक नियोजन का क्या अर्थ है ? नियोजन की आवश्यकता क्यों पडती है।
२ आर्थिक नियोजन की विशेषताओं पर टिप्पणी लिखिए।
३ आर्थिक नियोजन कितने प्रकार के हो सकते है ? प्रत्येक का संक्षिप्त ब्यौरा देकर बतलाइए, भारत में किस प्रकार का नियोजन अपनाया गया है ?
४ कम विकसित देशों में आर्थिक नियोजन की क्या कठिनाइयाँ है ? क्या इन देशों के लिए आर्थिक नियोजन उपयुक्त है ?
५ आर्थिक नियोजन के महत्त्व पर प्रकाश डालिए।
६ आर्थिक नियोजन के गुण दोषों का विवेचन कीजिए।

६

भारत में आर्थिक नियोजन का विकास

(EVOLUTION OF ECONOMIC PLANNING IN INDIA)

भारत में अंग्रेजी राज की सबसे उल्लेखनीय देन यह रही कि अंग्रेजों ने इस देश का जी भरकर आर्थिक शोषण किया। उन्होंने अपने अधीन अन्य बस्तियों जैसे कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड में आर्थिक विकास के लिए खूब प्रयत्न किया और इन देशों को आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होने में सहायता की परन्तु इन देशों के निवासी गोरे अंग्रेजों की ही सन्तान थे। भारत में रहने वाले व्यक्तियों का रंग काला था और अंग्रेजों ने काले लोगों को कभी भी गोरों के समान स्वीकार नहीं किया। अतः भारत में अंग्रेजों का निरन्तर यही प्रयत्न रहा कि भारत मूल रूप में एक खेतिहर देश बना रहे ताकि इंग्लैंड को भारत का कच्चा माल आसानी से मिलता रहे और इंग्लैंड का निर्मित माल भारत की मंडियों में बिक सके। किसी देश को राजनीतिक गुलामी का इससे बड़ा और क्या मूल्य चुकाना पड़ सकता है।

महात्मा गांधी और नियोजन—राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का यह मत था कि भारत को अंग्रेजी शासन से मुक्त करना तो केवल राजनीतिक उद्देश्य मात्र था, असली काम देश के करोड़ों अध-भूखे, अध-नंगे इन्सानों को गरीबी के रसातल से उठाकर सम्मानजनक जीवन प्रदान करना था। यह काम आर्थिक नियोजन द्वारा ही सम्भव था और आर्थिक नियोजन अपनाने के लिए अंग्रेजों की गुलामी से मुक्त होना आवश्यक है। इसीलिए स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए १९२१, १९३१, १९४२ तथा बाद के वर्षों में आन्दोलन किये गये। इन आन्दोलनों के साथ-साथ विदेशी माल का बहिष्कार किया गया तथा खादी को राष्ट्रीय परिधान के रूप में अपनाया गया। यह कदम आर्थिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए उठाये गये।

नियोजन का विचार—भारत में आर्थिक नियोजन का विचार सबसे पहले प्रसिद्ध इन्जीनियर श्री एम० विश्वेश्वरैया ने दिया जिन्होंने १९३४ में भारत के लिए नियोजित अर्थ-व्यवस्था (Planned Economy for India) नाम की पुस्तक

प्रकाशित करवाई। इस पुस्तक मे भारत की राष्ट्रीय आय को दुगना करने की योजना प्रस्तुत की गयी थी।

सन् १९३८ मे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष सुभाषचन्द्र बोस की अध्यक्षता मे एक सम्मेलन हुआ जिसमे यह प्रस्ताव पास किया गया कि भारत की गरीबी, बेरोजगारी, राष्ट्रीय सुरक्षा तथा आर्थिक पुनरुत्थान के लिए देश का औद्योगिक विकास करना आवश्यक है और औद्योगिक विकास के लिए एक व्यापक आर्थिक योजना बनायी जानी चाहिए। इस सम्मेलन मे एक योजना आयोग की नियुक्ति का सुझाव दिया।

राष्ट्रीय नियोजन समिति
(National Planning Committee)

कांग्रेस दल के सम्मेलन के इस सुझाव पर दल द्वारा एक राष्ट्रीय नियोजन समिति नियुक्त की गयी। इस समिति के अध्यक्ष श्री जवाहर लाल नेहरू तथा महामन्त्री प्रसिद्ध अर्थशास्त्री के० टी० शाह थे।

राष्ट्रीय नियोजन समिति ने देश की अर्थ व्यवस्था को २९ वर्गों मे विभाजित किया और प्रत्येक वर्ग का विस्तृत अध्ययन कर रिपोर्ट देने के लिए अलग-अलग उप-समितियो की नियुक्ति की गयी। द्वितीय युद्धकाल मे इन समितियो का काम बन्द हो गया किन्तु युद्ध की समाप्ति के पश्चात् इन समितियो द्वारा अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी गयी। इन रिपोर्टों मे विभिन्न क्षेत्रो के आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त मूल्यवान एव व्यावहारिक सुझाव दिये गये थे।

नियोजन तथा विकास विभाग—द्वितीय महायुद्ध काल मे, भारत मे आर्थिक नियोजन के पक्ष मे बहुत अच्छा वातावरण बना और औद्योगिक क्षेत्रो मे नियोजित विकास को बहुत समर्थन मिला। इस वातावरण से प्रेरित होकर भारत सरकार ने १९४४ मे एक नियोजन तथा विकास विभाग की स्थापना की। इस विभाग ने युद्ध के बाद भारत के आर्थिक विकास की योजना बनाने का काम अपने हाथ मे लिया।

बम्बई योजना
(Bomaby Plan)

भारत मे आर्थिक नियोजन सम्बन्धी वातावरण का अनुमान इस बात से भी लगता है कि सन् १९४४ मे देश के आठ उद्योगपतियो ने देश के आर्थिक विकास के लिए एक योजना प्रकाशित की। यह योजना बम्बई योजना के नाम से प्रसिद्ध हुई तथा कुछ व्यक्तियों ने इसे टाटा बिरला योजना का भी नाम दिया।

बम्बई योजना एक पन्द्रह वर्षीय योजना थी। इस काल मे १०,००० करोड रुपया खर्च करने का सुझाव दिया गया था। इस योजना द्वारा खेती के उत्पादन मे १३० प्रतिशत तथा उद्योगों के उत्पादन मे ५०० प्रतिशत वृद्धि होने की आशा की गयी थी जिससे १५ वर्ष मे प्रति व्यक्ति आय दुगुनी होने की आशा थी।

बम्बई योजना मे कुल खर्च का ४४.८ प्रतिशत उद्योगो के विकास पर, १२.४ प्रतिशत खेती पर, ६.४ प्रतिशत सवाद वहन पर, ४.६ प्रतिशत शिक्षा पर, ४.५ प्रतिशत शिक्षा पर, २२.० प्रतिशत भवन निर्माण पर तथा शेष २.० प्रतिशत अन्य कार्यों पर खर्च करने की व्यवस्था की गयी।

बम्बई योजना उद्योगपतियो द्वारा बनायी गयी योजना थी जिसमे उद्योगों को ही अत्यधिक महत्त्व दिया गया था। कृषि के विकास के लिए इस योजना में विशेष जोर नहीं दिया गया।

इस योजना मे जो १०,००० करोड रुपया खर्च करने की व्यवस्था थी उसमे से २६ प्रतिशत विदेशी सहायता से तथा शेष ७४ प्रतिशत आन्तरिक साधनो से प्राप्त करने की व्यवस्था की गयी जिसमें से लगभग ३४ प्रतिशत रकम घाटे के बजट से प्राप्त करने का सुझाव दिया गया।

बम्बई योजना को तीन पचवर्षीय योजनाओं मे विभाजित किया गया था। पहले पाँच वर्ष मे उपभोक्ता उद्योगों तथा शेष दस वर्षों मे आधारभूत उद्योगों का विकास करने की व्यवस्था की गयी थी।

यह योजना केवल आधार के रूप मे दी गयी थी ताकि आगे विचार विमर्श के लिए वातावरण बन सके। योजना का यह उद्देश्य निश्चय ही सफल हो गया क्योकि इसके तुरन्त बाद ही कई अन्य योजनाएँ भी प्रकाशित की गयीं।

गाँधीवादी योजना
(Gandhian Plan)

बम्बई योजना एक ऐसी योजना थी जिसमे बडे उद्योगो के विकास पर बल दिया गया था। इसी वर्ष (१९४४) आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल ने एक योजना प्रकाशित की जिसमे दस वर्ष के भीतर भारतीय जनता के भौतिक तथा सास्कृतिक स्तर को उठाने का लक्ष्य रखा गया। इस योजना मे गाँधीजी के विचारो के अनुकूल आत्मनिर्भरता को विशेष महत्व दिया गया और कुटीर तथा लघु उद्योगों के विकास पर अधिक जोर दिया गया। इस योजना मे जनता की न्यूनतम आवश्यकताएँ पूरी करने का लक्ष्य रखा गया था जिसके अनुसार १० वर्ष के भीतर प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम २० गज कपडा वार्षिक मिल सके तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिए कम से कम १०० वर्ग फीट आवास का स्थान मिल सके।

गाँधीवादी योजना मे भूमि का राष्ट्रीयकरण करने, चकबन्दी तथा फसलो की बीमा योजना सम्बन्धी सुझाव दिये गये थे। योजना मे भूमि का लगान कुल उत्पत्ति का छठा या आठवाँ भाग निश्चित करने का सुझाव दिया गया।

गाँधीवादी योजना मुख्य रूप मे देश की ग्रामीण व्यवस्था को आत्मनिर्भर बनाने तथा रोजगार के अधिक साधन सुलभ करने के पक्ष मे थी। उसका आधार उद्योग नहीं खेती था।

जन योजना
(People's Plan)

बम्बई योजना तथा गाँधीवाद योजना के अतिरिक्त श्रमिक सघो की ओर से एक योजना प्रकाशित की गयी। इस योजना पर दस वर्ष मे १५००० करोड रुपया खर्च करने की व्यवस्था थी। योजना मे यह मत प्रकट किया गया था कि आय देने वाली परियोजनाओ पर पहले तीन वर्ष मे १६०० करोड रुपया खर्च किया जाना चाहिए। इन योजनाओ से जो आय होगी वह शेष योजना को पूरा करने के लिए पर्याप्त होगी।

जन योजना भी कृषि प्रधान थी। इसमे खेती मे सुधार करने के लिए नयी रीतियाँ अपनाने के कार्यक्रम सुझाये गये थे। इस योजना के प्रवर्तकों का मत था कि खेती मे सुधार करने से किसानो की आय मे पर्याप्त वृद्धि हो सकती है जिससे औद्योगिक उत्पादन की माँग बढ सकती है। इस प्रकार खेती के विकास के माध्यम से उद्योगो के विकास की कल्पना की गयी थी।

जन योजना के अतिरिक्त प्रसिद्ध क्रान्तिकारी एम० एन० राय ने भी एक योजना रखी जिसम श्रमिको की उत्पादकता बढाने का सुझाव दिया गया था और उद्योगो के विकास पर जोर दिया था।

सरकार की ओर से प्रयत्न

भारत सरकार ने आर्थिक नियोजन के लिए जो प्रयत्न किये उनमे पहला यह था कि जून १९४१ म एक समिति की नियुक्ति की गयी जिसका काम देश के लिए एक योजना तैयार करना था। इस समिति को शीघ्र ही "पुर्निर्माण समिति" (Reconstruction Council) के रूप मे बदल दिया गया और भारत के वायसराय को इसका अध्यक्ष बनाया गया।

जून १९४४ मे भारत सरकार म एक नियोजन एव विकास विभाग स्थापित किया गया। इस विभाग के दो कार्य थे

(i) प्रान्तो तथा राज्यो को अपने अपने क्षेत्रो मे नियोजन मडल बनाना तथा उन्हें अपने क्षेत्रो के लिए विकास योजनाएँ बनाने के लिए तैयार करना ताकि उन योजनाओ को मिलाकर एक राष्ट्रीय योजना का स्वरूप दिया जा सके, और

(ii) सारे देश के विकास के लिए कुछ सामान्य सिद्धान्त निश्चित करना। इसका परिणाम यह हुआ कि राज्यो तथा प्रान्तों ने कुछ योजनाएँ बनानी आरम्भ की।

कृषि अनुसन्धान सस्था (Imperial Council of Agricultural Research)—ने भारत मे कृषि उत्पादन को पद्रह वर्ष म दुगुना करने के लिए एक योजना तैयार की। इस योजना म भूमि सुधार, फसल नियोजन, कृषि ऋण तथा कृषि मूल्यो मे स्थायित्व लाने सम्बन्धी सुझाव दिये गये।

इञ्जीनियरों के नागपुर सम्मेलन ने देश में ४ लाख मील लम्बी सड़कें बनाने की योजना बनायी जिस पर ४५० करोड़ रुपया खर्च करने का अनुमान लगाया गया। इसी प्रकार रेल्वे, जहाज तथा वायुसेवा विभागों ने अपने-अपने क्षेत्रों में विकास की योजना तैयार की।

वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान संस्था (Council of Scientific and Industrial Research)—ने देश में राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला राष्ट्रीय रसायन प्रयोगशाला, राष्ट्रीय धात्विक प्रयोगशाला, ईंधन शोध तथा शीशा उद्योग के लिए शोध संस्थान स्थापित करने की योजनाएँ तैयार की। इन योजनाओं पर पहले पाँच वर्ष में ६ करोड़ रुपये तथा बाद में प्रति वर्ष १ करोड़ रुपये के अनुदान देने का सुझाव दिया गया।

सलाहकार नियोजन मंडल—अक्तूबर १९४६ में भारत की अंतरिम राष्ट्रीय सरकार ने श्री के० सी० नियोगी की अध्यक्षता में एक सलाहकार नियोजन मंडल की स्थापना की। इस मंडल ने दिसम्बर १९४६ में अपनी रिपोर्ट में मत प्रकट किया कि देश में एक शक्ति सम्पन्न योजना आयोग की स्थापना की जानी चाहिए जिसका काम सरकार को सलाह देना हो।

१९४७ से १९५०—सन् १९४७ में आजादी मिलते ही भारत सरकार को अनेक कठिन समस्याओं का सामना करना पड़ा। अतः आर्थिक नियोजन के सम्बन्ध में कोई विशेष कदम नहीं उठाया जा सका। सन् १९४८ में अखिल भारतीय कांग्रेस दल की आर्थिक कार्यक्रम समिति (Economic Programmes Committee) ने एक केन्द्रीय योजना आयोग की स्थापना का सुझाव दिया और जनवरी १९५० में कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने इस सुझाव को शीघ्र कार्यान्वित करने की माँग की। तदनुसार जनवरी, १९५० में ही राष्ट्रपति द्वारा योजना आयोग की नियुक्ति की गयी। १५ मार्च, १९५० के एक प्रस्ताव के अनुसार भारत सरकार द्वारा भारतीय योजना आयोग स्थापित कर दिया गया।

प्रथम पंचवर्षीय योजना
[FIRST FIVE YEAR PLAN]

भारतीय योजना आयोग द्वारा जुलाई, १९५१ में प्रथम पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा प्रस्तुत की गयी। यह योजना १ अप्रैल १९५१ से ३१ मार्च १९५६ तक के पाँच वर्षों के लिए तैयार की गयी थी। इस योजना काल में कुल २०६९ करोड़ रुपया खर्च करने का कार्यक्रम बनाया गया जिसे बाद में बढ़ाकर २३७८ करोड़ रुपये कर दिया गया। प्रथम योजना पर वास्तविक व्यय १९६० करोड़ रुपये हुआ।

(क) उद्देश्य (Objectives)—प्रथम पंचवर्षीय योजना भारत के आर्थिक विकास का पहला व्यवस्थित प्रयत्न था किन्तु इस योजना का मुख्य उद्देश्य देश में

आर्थिक नियोजन के लिए एक वातावरण तैयार करना था और आगे आने वाली योजनाओ के लिए एक शक्तिशाली आधार बनाना था। इस दृष्टि से पहली योजना को आर्थिक नियोजन की भूमिका कहा जा सकता है।

इस बात का एक प्रमाण यह मिलता है कि प्रथम योजना के सामान्य उद्देश्य रखे गये जो किसी भी समाजवादी देश के आर्थिक विकास के लिए महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं। उनमे से मुख्य निम्नलिखित हैं[1]

(१) अधिकतम उत्पादन
(२) पूर्ण रोजगार
(३) आर्थिक समानता की उपलब्धि
(४) सामाजिक न्याय की व्यवस्था

प्रथम योजना मे यह स्वीकार किया गया कि इनमे से किसी भी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अलग से प्रयत्न नही किये जा सकते। यह सब एक दूसरे से जुडे हुए है। उदाहरण के तौर पर अधिकतम उत्पादन और पूर्ण रोजगार एक दूसरे से जुडे हुए हैं। इसी प्रकार उत्पादन बढाये बिना सामाजिक न्याय की कल्पना करना भी व्यर्थ है।

वास्तव मे प्रथम योजना का उद्देश्य सभी क्षेत्रों का सन्तुलित विकास करना था ताकि देश की जनता के जीवन स्तर को ऊँचा उठाया जा सके।

(ख) प्राथमिकताएँ—प्रथम योजना मे देश के विकास के लिए एक मजबूत आधार का निर्माण करने का लक्ष्य रखा गया था ताकि भविष्य की योजनाओ की पूर्ति मे सुविधा रहे। इसीलिए खेती और सिंचाई (जो देश की अर्थ व्यवस्था के आधार है) पर कुल खर्च का ३१ प्रतिशत भाग खर्च किया जाय।

आर्थिक विकास के लिए परिवहन तथा संचार के साधनो की उन्नति बहुत महत्त्व रखती है। अत पहली योजना मे इन सुविधाओ का विस्तार करने के लिए कुल सार्वजनिक व्यय का २७ प्रतिशत व्यय किया गया।

तीसरा महत्त्वपूर्ण वर्ग सामाजिक सुविधाओं का है जिसमे शिक्षा, चिकित्सा, पीने का पानी आदि सम्मिलित हैं। प्रथम योजना काल मे इन सेवाओ पर लगभग २३ प्रतिशत रकम खर्च की गयी।

इस प्रकार पहली योजना मे उद्योगों को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया क्योंकि खेती, परिवहन के साधन, बिजली तथा पानी आदि की सुविधाओ के बिना उद्योगों का विकास सम्भव नही था।

(ग) वित्त (Finance)—प्रथम योजना मे लोक क्षेत्र द्वारा जो १९६० करोड रुपये की रकम खर्च की गयी उसका ९० प्रतिशत भाग (१७७२ करोड) आन्तरिक

1 First Five Year Plan p 28

साधनों से प्राप्त किया गया, केवल १८८ करोड़ रुपये अर्थात् लगभग १० प्रतिशत रकम की व्यवस्था विदेशी सहायता से की गयी।

(घ) राष्ट्रीय आय—प्रथम योजना काल में राष्ट्रीय आय में १२ प्रतिशत वृद्धि का लक्ष्य रखा गया था किन्तु वास्तविक वृद्धि १८ प्रतिशत हुई।

कृषि, सिचाई तथा परिवहन के क्षेत्रों में आशा के अनुकूल प्रगति की गयी।

विश्लेषण—इससे पूर्व यह स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रथम पचवर्षीय योजना एक सामान्य योजना थी। इसके लक्ष्य सामान्य थे तथा इसका मूल उद्देश्य विभिन्न क्षेत्रों में सन्तुलित विकास का वातावरण तैयार करना था। इस योजना में सामान्य धन राशि खर्च की गयी इसलिए विशेष आर्थिक कठिनाइयाँ उत्पन्न नहीं हुईं। इसीलिए विदेशों से बहुत कम सहायता लेनी पड़ी। लगभग १२२ करोड़ रुपये के व्यापारिक घाटे की पूर्ति देश के विदेशी विनिमय कोषों से लेकर पूरी कर ली गयी।

प्रथम पचवर्षीय योजना की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह थी कि इससे भारत में आर्थिक नियोजन का स्वस्थ आधार तैयार हो गया।

द्वितीय पचवर्षीय योजना
[SECOND FIVE YEAR PLAN]

पहली पचवर्षीय योजना के लिए यह कहा जाता है कि "इसके द्वारा एक समाजवादी समाज की स्थापना की नींव रखी गयी है।"—एक ऐसी सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था थी जो जाति, वर्ग तथा विशेष सुविधा से मुक्त तथा स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र के मूल्यों पर आधारित थी जिसमें रोजगार तथा उत्पादन में वृद्धि और अधिकतम सामाजिक न्याय प्राप्ति की आशा थी।

दूसरी योजना काल में ग्रामीण भारत का पुनर्निर्माण करने, औद्योगिक विकास की नींव रखने, समाज में आर्थिक दृष्टि से दुर्बल व्यक्तियों की उन्नति के लिए अधिकतम अवसरों की व्यवस्था तथा देश के सभी भागों का सन्तुलित विकास करने का लक्ष्य रखा गया। यह योजना १ अप्रैल, १९५६ से ३१ मार्च, १९६१ की अवधि के लिए थी।

(क) उद्देश्य[1]—दूसरी योजना के उद्देश्यों में कुछ निश्चितता थी। यह उद्देश्य निम्नलिखित थे :

(१) राष्ट्रीय आय में २५ प्रतिशत की वृद्धि करना ताकि देश का जीवन स्तर ऊँचा हो सके।

(२) देश का तीव्र गति से औद्योगीकरण करना। इसके लिए आधारभूत उद्योगों (कोयला, इस्पात आदि) के विकास को प्राथमिकता दी गयी।

(३) रोजगार के साधनों में तेजी से वृद्धि करना, तथा

---

1 Second Five Year Plan, p. 24.

(४) आय तथा सम्पत्ति की असमानता कम करना और आर्थिक सत्ता का उचित रूप मे वितरण करना।

यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो पता चलेगा कि यह चारो उद्देश्य एक दूसरे से जुडे हुए है। देश मे उद्योगो का विकास करने से एक ओर तो उत्पादन मे वृद्धि होती है दूसरी ओर रोजगार के नये साधन उत्पन्न होते हैं। रोजगार म वृद्धि होने से भी राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होती है। इस प्रकार उत्पादन तथा रोजगार मे वृद्धि—दोनो राष्ट्रीय आय की वृद्धि म सहायक होते है। राष्ट्रीय आय मे होने वाली यह वृद्धि इने गिने व्यक्तियो के हाथ मे न चली जाय इसके लिए वितरण की न्यायपूर्ण प्रणाली स्थापित करनी आवश्यक है।

इस प्रकार पहली योजना मे समाजवाद का जो क्रम अपनाया गया उसकी दूसरी योजना मे पुष्टि की गयी और उत्पादन तथा वितरण की व्यवस्थाओ को क्रान्तिकारी स्वरूप दिया गया।

(ख) आकार और साधन—दूसरी योजना मे सरकार द्वारा ४६०० करोड रुपया खर्च करने की व्यवस्था की गयी थी। इस रकम के ७६ प्रतिशत भाग (३५१० करोड रुपये) की व्यवस्था आन्तरिक साधनो से तथा शेष २४ प्रतिशत भाग (१०९० करोड रुपये) की व्यवस्था विदेशी सहायता द्वारा की गयी।

द्वितीय योजना काल मे नये करो से पर्याप्त रकम वसूल की गयी किन्तु लगभग ९४८ करोड रुपये घाटे के बजट बना कर (नये नोट निकाल कर) प्राप्त किये गये।

दूसरी योजना उद्योग प्रधान योजना थी अत मशीनें आदि खरीदने के लिए बहुत अधिक मात्रा मे विदेशी मुद्रा की आवश्यकता थी। यह अनुमान लगाया गया था कि योजना के दस वर्षों मे कुल ११०० करोड रुपय का घाटा विदेशी व्यापार तथा लेन देन मे रहेगा किन्तु १९५८ मे ही भुगतान की कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गयी। इन कठिनाइयो को दूर करने के लिए ६०० करोड रुपये की विदेशी मुद्रा तो जमा कोषो मे से निकाली गयी। अमरीका के पी० एल० ४८० के अन्तर्गत लगभग ५३४ करोड रुपये की वस्तुएँ आयात की गयी। (इनका भुगतान बहुत वर्षों बाद करना है) तथा ८७२ करोड रुपये की विदेशी सहायता का प्रयोग लोक और निजी क्षेत्र के उद्योगो के विकास के लिए किया गया। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष स भी ५५ करोड रुपये के शुद्ध ऋण लिए गये

इस प्रकार दूसरी योजना के पाँच वर्षों म विदेशी व्यापार मे अधिक घाटा रहने तथा औद्योगिक विकास के लिए अधिक रकम की माँग होने के कारण बहुत अधिक विदेशी सहायता लेनी पडी।

(ग) प्राथमिकताएँ—पहली योजना मे खेती, सिंचाई, बिजली तथा परिवहन के साधनो के विकास पर अधिक जोर दिया गया था। इन क्षेत्रो को दूसरी योजना मे भी काफी महत्त्व दिया गया किन्तु दूसरी योजना मे विशेष महत्त्व बडे पैमाने क उद्योग तथा खनिजो को दिया गया। इन पर कुल सरकारी व्यय का २० प्रतिशत

रकम खर्च करने का निश्चय किया गया जबकि पहली योजना में उद्योगों पर केवल ४ प्रतिशत रकम खर्च करने की व्यवस्था थी।

परिवहन तथा संचार साधनों के विकास पर पहली योजना में २७ प्रतिशत राशि व्यय की गयी थी जबकि दूसरी योजना में इस मद में २८ प्रतिशत रकम खर्च करने की व्यवस्था थी। इसका कारण यह था कि परिवहन तथा संचार के साधनों में विकास के बिना किसी भी क्षेत्र का विकास तेज नहीं किया जा सकता था।

खेती और सिंचाई के लिए पहली योजना में ३१ प्रतिशत रकम खर्च की गयी थी जबकि दूसरी योजना में इन दोनों पर मिला कर कुल खर्च का २० प्रतिशत भाग व्यय करने का निश्चय किया गया। इस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि दूसरी योजना में खेती और सिंचाई की अवहेलना की गयी।

(घ) राष्ट्रीय आय तथा अन्य—दूसरी योजना में देश की राष्ट्रीय आय में २५ प्रतिशत वृद्धि का लक्ष्य रखा गया था किन्तु वास्तविक वृद्धि केवल २० प्रतिशत ही की जा सकी। किन्तु दूसरी योजना काल में स्टील, खाद, कोयला, मशीन आदि क्षेत्रों में अनेक नये और बड़े-बड़े औद्योगिक प्रतिष्ठान स्थापित किये गये जिनसे देश में एक शक्तिशाली औद्योगिक आधार का निर्माण हो गया। यह भविष्य की योजनाओं के लिए एक महत्त्वपूर्ण योगदान था।

विश्लेषण—पहली योजना में देश के आर्थिक तन्त्र का जो ढाँचा तैयार किया गया था, दूसरी योजना में उसे मजबूत किया गया। इसका अनुमान इस बात से लगता है कि दूसरी योजना के पाँच वर्षों में औद्योगिक उत्पादन का सूचक अंक जो १९५५-५६ में १३९ था (१९५०-५१=१००) वह १९६०-६१ में १९४ हो गया अर्थात् उत्पादन में लगभग ५० प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसमें मशीनों तथा रसायनों का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण था क्योंकि मशीनों का उत्पादन लगभग अढ़ाई गुना हो गया तथा रसायनों के उत्पादन में लगभग ६० प्रतिशत वृद्धि हुई।

दूसरी योजना की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह थी कि लोक क्षेत्र में इस्पात के तीन नये कारखाने स्थापित किये गये, राँची में एक भारी इंजीनियरी कारखाना तथा भोपाल में भारी बिजली के सामान का कारखाना लगाया गया। इनके अतिरिक्त मशीन, खाद तथा बिजली का सामान बनाने के अनेक कारखाने स्थापित किये गये जिनसे भारत के औद्योगिक विकास का नया अध्याय आरम्भ हो गया।

तीसरी पंचवर्षीय योजना
[THIRD FIVE YEAR PLAN]

तीसरी योजना का निर्माण करने वालों को पहली दो योजनाओं के अनुभव का लाभ प्राप्त था। अतः योजना बनाते समय पिछले दस वर्षों की सफलताओं और असफलताओं का ध्यान रखा गया, इसके अतिरिक्त भारत के संविधान में जो सामाजिक दायित्व और आर्थिक उद्देश्य निश्चित किये गये हैं उन्हें पूरा करने के लिए अधिक स्पष्ट कार्यक्रम निर्धारित किये गये।

(क) उद्देश्य[1]-- तीसरी योजना के निम्नलिखित उद्देश्य निश्चित किये गये

(१) राष्ट्रीय आय —मे प्रतिवर्ष ५ प्रतिशत की वृद्धि करना। इसके लिए पूँजी विनियोग इस तरह करने का प्रबन्ध किया गया कि आय म वृद्धि की दर आगे के वर्षों मे भी बनी रह सके।

(२) कृषि—खाद्यान्नो मे आत्मनिर्भरता प्राप्त करना और उद्योगो की आवश्यकता के लायक तथा निर्यात के लिए भी कृषि पदार्थों के उत्पादन मे वृद्धि करना।

(३) उद्योग—इस्पात, रसायन, इधन तथा शक्ति का उत्पादन करने वाले आधारभूत उद्योगो का विस्तार करना तथा मशीनें बनाने वाले उद्योगो की स्थापना करना ताकि अगले दस वर्षों मे देश का औद्योगीकरण अपने साधनो द्वारा किया जा सके।

(४) रोजगार—देश की मानवी शक्ति का अधिकतम उपयोग करना तथा रोजगार के साधनो मे पर्याप्त वृद्धि करना।

(५) आर्थिक समानता—समाज म सबके लिए समान अवसर प्रदान करना तथा आय और सम्पत्ति के न्यायपूर्ण वितरण की व्यवस्था करना।

तीसरी योजना के उद्देश्यो से स्पष्ट है कि सख्या १,४ तथा ५ मे वही बातें कही गयी हैं जो पहली और दूसरी योजना के उद्देश्यो म कही गयी थी। उद्देश्य नम्बर २ मे पहली बार कृषि पदार्थों मे आत्मनिर्भर होने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। वास्तव मे देश प्रति वर्ष ३०० ४०० करोड रुपये का अनाज तथा रुई और पटसन आयात कर रहा था जिससे देश की अर्थ व्यवस्था पर बहुत भार था। इस भार को कम करने के लिए कृषि का विकास करने का विशेष निश्चय करना स्वाभाविक था।

तीसरी योजना के उद्देश्यो मे दूसरी महत्त्वपूर्ण बात आधारभूत उद्योगो का विस्तार करने तथा मशीनें बनाने के उद्योगो की स्थापना करने सम्बन्धी निश्चय है। इस्पात, रसायन तथा कोयला आदि वस्तुएँ अन्य उद्योगो की स्थापना और विकास के लिए बहुत आवश्यक हैं। इसी प्रकार मशीन उद्योग भी देश के बाकी उद्योगो के आधार का काम करता है। इस दृष्टि से तीसरी योजना मे कृषि की उन्नति और उद्योगो का विस्तार करने का निश्चय देश की अर्थ व्यवस्था के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है।

(ख) आकार तथा साधन—तीसरी योजना मे सरकारी क्षेत्र द्वारा कुल ७५०० करोड रुपया खर्च करने की व्यवस्था थी। वास्तविक व्यय ८५७७ करोड रुपये हुआ। इसमे से लगभग ५९ प्रतिशत (अर्थात ५०२१ करोड रुपये) की व्यवस्था आन्तरिक साधनो से की गयी, लगभग २८ प्रतिशत (२४२३ करोड रुपये) की व्यवस्था

---

1 Third Five Year Plan, p 48

विदेशी सहायता से करनी पड़ी तथा शेष लगभग १३ प्रतिशत (११३३ करोड़ रुपये) रकम घाटे के बजट बना कर (नोट छाप कर) प्राप्त की गयी।

इस प्रकार तीसरी योजना पहली दोनों योजनाओं के मिले जुले आकार से भी बड़ी थी और इसके लिए काफी अधिक रकम विदेशी सहायता से प्राप्त करनी पड़ी। वास्तव में तीसरी योजना ने भारत को विदेशी सहायता पर बहुत अधिक निर्भर कर दिया। यह निश्चय ही एक गम्भीर स्थिति थी जिसका अनुमान योजना बनाने वाले नहीं कर सके।

(ग) प्राथमिकताएँ—दूसरी योजना की भाँति तीसरी योजना भी उद्योग प्रधान थी। इसमें उद्योग तथा खनिजों पर लगभग २५ प्रतिशत रकम खर्च करने का प्रावधान था। इस मद पर वास्तविक खर्च लगभग २० प्रतिशत किया गया। परिवहन तथा संचार पर लगभग २७ प्रतिशत राशि खर्च करने का निश्चय किया गया था किन्तु इन मदों पर वास्तविक खर्च लगभग २५ प्रतिशत हुआ। इस प्रकार उद्योग तथा परिवहन पर कुल मिला कर तीसरी योजना में लगभग ४५ प्रतिशत रकम खर्च की गयी।

तीसरी योजना की सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि ग्रामीण तथा लघु उद्योगों पर कुल व्यय का केवल ४ प्रतिशत भाग खर्च करने का निश्चय किया गया था जबकि वास्तविक व्यय लगभग १५ प्रतिशत हुआ। यह खर्च इस बात का परिचायक है कि तीसरी योजना में अधिक से अधिक व्यक्तियों को रोजगार देने के लिए गम्भीर प्रयत्न किये गये।

खेती, सिंचाई तथा बाढ़ नियन्त्रण पर मूल योजना में लगभग २० प्रतिशत रकम खर्च करने का अनुमान किया गया था और वास्तविक व्यय २० प्रतिशत ही किया गया। यही स्थिति अन्य क्षेत्रों (सामाजिक सेवाओं तथा शक्ति उत्पादन) की भी कही जा सकती है।

(घ) राष्ट्रीय आय—तीसरी योजना में राष्ट्रीय आय में प्रति वर्ष ५ प्रतिशत वृद्धि का अनुमान लगाया गया था। योजना काल में औसत वार्षिक वृद्धि ७७ प्रतिशत हुई किन्तु देश में इस अवधि में अत्यधिक मुद्रा स्फीति हुई जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आय में वास्तविक वार्षिक वृद्धि केवल २८ प्रतिशत हुई। यह वृद्धि पहली दोनों योजना में हुई वृद्धि से बहुत कम थी।

यदि राष्ट्रीय आय में प्रति व्यक्ति वास्तविक वृद्धि का अनुमान लगाया जाय तो तीसरी योजना काल में यह वृद्धि केवल ०६ प्रतिशत वार्षिक थी जो पहली दोनों योजना में हुई वृद्धि के आधे से भी कम थी। यह स्थिति निश्चय ही असन्तोषजनक एवं दुखद कही जानी चाहिए।

विश्लेषण—तीसरी योजना की अवधि में देश के औद्योगिक विकास में बहुत उन्नति हुई। इस्पात, इंजीनियरी, कोयला, तेल, रसायन, खाद, बिजली, दवाएँ तथा लघु उद्योगों का तेजी से विकास हुआ। इतना होने पर भी कुल आर्थिक विकास की

वार्षिक दर केवल २ ८ प्रतिशत रही। इसका मुख्य कारण यह था कि तीसरी योजना मे कृषि क्षेत्र मे अत्यधिक असफलता का मुख देखना पडा। योजना के चार वर्षों मे अनाज तथा अन्य कृषि पदार्थों का उत्पादन बहुत कम रहा जिसके फलस्वरूप अन्न, कपास, पटसन आदि विदेशो से मगवाने पडे। यहाँ तक कि खाद, तेल (सोयाबीन तथा सूरजमुखी) भी आयात करने पडे ताकि वनस्पति घी तैयार किया जा सके और साधारण जनता को आवश्यकता की पूर्ति हो सके।

कृषि क्षेत्र म असफलता के साथ-साथ तीसरी योजना मे उद्योगों के क्षेत्र मे भी जितनी आशा की गयी थी उतनी सफलता नहीं मिली। यह अनुमान लगाया गया था कि औद्योगिक उत्पादन मे प्रति वर्ष ११ प्रतिशत की वृद्धि होगी किन्तु वास्तविक वृद्धि ७ ८ प्रतिशत वार्षिक से अधिक नही रही।

तीसरी योजना की असफलता के कारण भारत सरकार एकदम असमजस मे पड गयी कि आगे क्या किया जाय। देश मे वस्तुओ के मूल्यो मे निरन्तर वृद्धि हो रही थी जिसके फलस्वरूप श्रमिक आन्दोलनो म वृद्धि हो गयी। जगह जगह वेतन तथा महगाई भत्ते मे वृद्धि की माँग होने लगी जिसे पूरा करना बहुत कठिन था। इसका परिणाम यह हुआ कि चतुर्थ योजना को स्थगित कर दिया गया।

आर्थिक नियोजन का अवकाश काल—वार्षिक योजनाएँ

सन् १९६५-६६ से १९६८ ६९ के तीन वर्ष आर्थिक नियोजन के अवकाश के वर्ष कहे जा सकते हैं। अधिकृत रूप म तो सरकार ने इन वर्षों मे योजनाओ को स्थगित नही किया परन्तु व्यवहार मे ऐसा अपने आप हो गया। चतुर्थ पचवर्षीय योजना को अतिम रूप नही दिया जा सका क्योंकि सरकार के सामने स्पष्ट मार्ग नही था कि वह क्या करे।

स्थगन के कारण—तीसरी योजना की समाप्ति के बाद भारत सरकार ने तीन वर्ष तक एक-एक वर्षीय योजनाएँ ही प्रकाशित की। चौथी योजना को अन्तिम रूप नही दिया जा सका। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित थे

(१) **बढती हुई महँगाई**—आर्थिक नियोजन के पन्द्रह वर्षों मे—विशेष कर तीसरी योजना के पाँच वर्षों म—प्राय सभी वस्तुएँ बहुत महँगी हो गयी जिससे साधारण जनता को बहुत कष्ट हुआ। सरकार के प्रशासन व्यय मे भी बहुत वृद्धि हो गई। अत सरकार इस समस्या पर गम्भीरता से विचार करने के लिए कुछ समय चाहती थी। अत चतुर्थ योजना को स्थगित कर दिया गया।

(२) **तीसरी योजना की असफलता**—आर्थिक नियोजन के स्थगन का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि तीसरी योजना मे सरकार को कृषि तथा उद्योग—दोनो ही क्षेत्रों मे भयानक असफलता का मुँह देखना पडा। इस योजना मे सरकार ने आर्थिक विकास तथा आत्मनिर्भरता की जो आशाएँ लगायी थी वह सब मिट्टी मे मिल गयी। अत नियोजन की पूरी नीति पर नये सिरे से विचार करना आवश्यक था। यह नियोजन को कुछ समय के लिए स्थगित कर देने से ही हो सकता था।

(३) उद्योगों में मंदी—तीसरी योजना की अवधि में भारत के सामने एक विचित्र समस्या यह उत्पन्न हुई कि एक ओर तो देश में मुद्रा स्फीति के कारण मूल्यों में वृद्धि हो रही थी, दूसरी ओर कुछ उद्योगों में मन्दी का दौर आरम्भ हो गया। इंजीनियरी तथा कुछ अन्य औद्योगिक इकाइयों के पास माल के स्टाक जमा होते चले गये क्योंकि इनके माल की माँग बहुत कम थी। अत इन उद्योगों को बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ा। इस कठिनाई का समाधान करने में सरकार भी असफल रही। अत थोड़े समय के लिए आर्थिक नियोजन को स्थगित करना ही श्रेयस्कर समझा गया।

(४) आर्थिक सत्ता का संकेन्द्रण—भारत की तीनों ही योजनाओं का एक लक्ष्य यह रहा कि देश में आय तथा सम्पत्ति का न्यायपूर्ण वितरण होना चाहिए तथा आर्थिक विषमता का अन्त होना चाहिए किन्तु आर्थिक विषमता में निरन्तर वृद्धि होती गयी और आर्थिक शक्ति का संकेन्द्रण निरन्तर बढ़ता गया। अत सरकार ने देखा कि वह जिस समाजवाद की दिशा में जाने की घोषणा करती रही है, वह तो देश से निरन्तर दूर होता जा रहा है। इसलिए कुछ ठहर कर यह सोचना आवश्यक था कि समाजवाद के मार्ग में क्या बाधाएँ हैं और नियोजन में सफलता क्यों नहीं मिल रही है? इसी उद्देश्य से नियोजन को कुछ समय के लिए स्थगित किया गया।

(५) पूँजीपतियों का विरोध—वैसे तो भारत के उद्योगपति तथा कुछ अन्य व्यक्ति आर्थिक नियोजन की मूलभूत धारणा का ही विरोध करते रहे हैं किन्तु तीसरी योजना की असफलता के कारण यह विरोध अत्यधिक हो गया। देश के सारे समाचार पत्र (जिनमें से अधिकतर पूँजीपतियों के स्वामित्व में हैं) आर्थिक नियोजन का सदा के लिए अन्त कर देने की माँग करने लगे। यह विरोध इतना तीव्र था कि न चाहने पर भी नियोजन का नियमित क्रम कुछ समय के लिए स्थगित हो गया।

एकवर्षीय योजनाएँ—तीसरी योजना की समाप्ति पर सरकार यह चाहती थी कि आर्थिक नियोजन के सारे दर्शन पर ही एक बार पुनर्विचार किया जाय और यह निर्णय लिया जाय कि आगामी योजना की सफलता के लिए क्या-क्या करना आवश्यक है। दूसरी ओर वह नियोजन को स्थगित भी नहीं करना चाहती थी। अत बीच का मार्ग निकाला गया। सरकार वार्षिक बजट के साथ ही वार्षिक योजना प्रकाशित करती रही। इस प्रकार तीन वार्षिक योजनाओं में सरकार द्वारा लगभग ६,७५७ करोड़ रुपये खर्च किये गये। इन योजनाओं के व्यय का आदर्श तीसरी योजना ही थी। इसका अनुमान इस बात से लगता है कि तीन वर्ष में किये गये कुल व्यय का लगभग २३ प्रतिशत उद्योगों पर, लगभग १९ प्रतिशत परिवहन एवं संचार पर तथा लगभग २४ प्रतिशत कृषि एवं सिंचाई आदि पर व्यय किया गया।

एकवर्षीय योजनाएँ केवल नियोजन के अधिकृत क्रम को चालू रखने के लिए थीं, उनके पीछे निश्चित उद्देश्य या लक्ष्यों का अभाव था। अत इस अवधि में जो

कुछ विकास हुआ वह आकस्मिक था। अत उस पर कोई भी टिप्पणी करना उचित नहीं है।

चतुर्थ पचवर्षीय योजना
[FOURTH FIVE YEAR PLAN]

पृष्ठभूमि—चतुर्थ योजना के पीछे हल्की सफलताओं और आशा से अधिक असफलताओ का लम्बा इतिहास था। लगभग १८ वर्ष के आर्थिक नियोजन ने देश को एक चौराहे पर लाकर खड़ा कर दिया था और यह निश्चय करना आवश्यक हो गया कि भविष्य की योजनाओ का क्या आधार होना चाहिए ? चतुर्थ योजना की पृष्ठभूमि के रूप मे उन परिस्थितियों और अनुभवो का विवेचन कर लेना आवश्यक है जिनका प्रभाव चतुर्थ योजना की नीतियो पर पड़ा।

(१) गति की शिथिलता—भारतीय नियोजन से पहला पाठ यह सीखा जा सकता था कि देश मे योजनाओ का सचालन बहुत शिथिल था। जिस गति से योजनाओ का क्रम चलाया जा रहा था उससे न तो सब व्यक्तियो को रोजगार दिया जा सकता था, न सामाजिक सेवाओ के आधार का विस्तार किया जा सकता था और न ही जनता के जीवन स्तर मे सुधार सम्भव था। वास्तव मे आर्थिक विकास जिस गति से हो रहा था, उस गति को बनाये रखना ही कठिन था।

(२) विदेशों पर निर्भरता—आर्थिक नियोजन एक ऐसी प्रक्रिया होती है जिससे वर्तमान पीढ़ी को भविष्य की पीढ़ी के लिए त्याग करना पड़ता है। यदि कोई देश निरन्तर विदेशी सहायता पर निर्भर होता चला जाय तो वह आर्थिक तथा राजनीतिक कठिनाई में पड़ सकता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो योजना के पहले अठारह वर्षों मे देश को निरन्तर अधिक अनाज विदेशो से मगवाने के लिए बाध्य होना पड़ा और विदेशी सहायता पर उसकी निर्भरता बढ़ती गयी। इससे देश के आत्म गौरव और प्रतिष्ठा को भारी धक्का पहुँचा और अनेक देशो ने सहायता देने से हाथ खींचना आरम्भ कर दिया।

(३) सस्थागत ढाँचे की दुर्बलता—आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए यह आवश्यक होता है कि देश मे आर्थिक, व्यापारिक तथा वित्तीय सस्थाओ का ऐसा शक्तिशाली सगठन हो जो देश के सभी क्षेत्रो के विकास मे समुचित योगदान करता रहे। भारत मे सस्था की दृष्टि से अनेक प्रकार की व्यापारिक, औद्योगिक तथा वित्तीय सस्थाओ की स्थापना की गयी किन्तु उनका प्रशासन इतना कमजोर था कि वह देश की आवश्यकताओ के अनुकूल सिद्ध नही हो सका। अत आर्थिक नियोजन के सभी कार्यक्रम असफल रहे या उनमे पर्याप्त सफलता नहीं मिली।

(४) प्रशासनिक असफलता—आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए देश मे दृढ़ एव ईमानदार प्रशासन की आवश्यकता होती है जो देश की प्रत्येक योजना को सफल बनाने के लिए अधिक से अधिक प्रयत्न कर सके। इसके लिए प्रशासकों का स्वय भी योजनाओं में विश्वास होना आवश्यक है। भारत मे प्रशासन की परम्परा

अंग्रेजों से विरासत में मिली है। उसकी नौकरशाही मनोवृत्ति को क्रान्तिकारी या समाजवादी नीतियों में कभी विश्वास नहीं रहा। अत प्रशासन ने कभी भी मन और कर्म से नियोजन को सफल बनाने का प्रयत्न नहीं किया। अच्छे से अच्छे निर्णय और नीतियाँ नौकरशाही मनोवृत्ति की अतृप्त भूख की शिकार होती रही और सरकार और जनता किंकर्तव्यविमूढ़ होकर असहाय की भाँति देखती रही।

वास्तव में भारतीय आर्थिक नियोजन का जिस असफलता का मुँह देखना पड़ा वह मूल रूप में नौकरशाही प्रशासन की घटिया मनोवृति और सक्रिय असहयोग के कारण हुआ। इसी कारण देश में मूल्य नियन्त्रण व्यवस्था असफल हो गयी, राशन व्यवस्था में भ्रष्टाचार और चोर बाजारी फैल गयी और उद्योग तथा निर्यातों के लिए कुछ इने गिने व्यक्तियों को लाइसेंस दिये गये। प्रशासकों के भ्रष्ट एवं पक्षपात-पूर्ण आचरण के विरुद्ध इस भय से कोई कार्यवाही नहीं की गयी कि वह भविष्य में और अधिक असहयोग न करने लगें। इस प्रकार आर्थिक नियोजन का आशावाद नौकरशाही के असहयोग और आतंक से निराशावाद में बदल गया।

(५) आर्थिक विषमता—आर्थिक नियोजन का आरम्भ इसलिए किया गया था कि देश के करोड़ों भूखे-नंगे इन्सानों को पहले से अधिक सुविधाएँ मिलेंगी और उन्हें रोटी, कपड़ा तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं के लिए दीनतापूर्वक हाथ नहीं फैलाना पड़ेगा, समाज में गरीबी, अमीरी के अन्तर कम होंगे तथा राष्ट्रीय आय और सम्पत्ति कुछ व्यक्तियों के अधिकार में नहीं जायेंगे। दुर्भाग्य से इस महान उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकी। गरीब पहले से अधिक गरीब होता गया, अमीर पहले से अधिक अमीर होते चले गये और आर्थिक सत्ता और साधन धीरे धीरे कुछ व्यक्तियों के हाथ में सकेन्द्रित होते चले गये। इस प्रकार देश में समाजवाद की स्थापना के स्थान पर पूँजीवाद का प्रभाव बढ़ता चला गया। नियोजन के पवित्र उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो सकी और ऐसा प्रतीत होने लगा कि भविष्य में भी इनकी पूर्ति होने की सम्भावना नहीं है।

इस प्रकार चतुर्थ योजना उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बनायी गयी है जिन्हें पिछली तीन योजनाओं में पूरा नहीं किया जा सका। इस योजना में पिछली योजनाओं की गलतियों को न दोहराने का निश्चय किया गया है और कुछ व्रत लिए गये हैं जो देश की प्रतिष्ठा के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं।

(क) उद्देश्य—चतुर्थ योजना के उद्देश्य प्राय वही हैं जो पहली तीन योजनाओं में निश्चित किये गये थे किन्तु इस योजना में उनकी पूर्ति के लिए कुछ निदेशक सिद्धान्त भी दिये गये हैं। इसका स्पष्टीकरण निम्नलिखित तथ्यों से हो सकता है.

(१) सामाजिक न्याय और समानता—चतुर्थ योजना में भी सामाजिक न्याय प्रदान करने तथा आर्थिक समता लाने का ध्येय रखा गया है किन्तु इसमें यह

कहा गया है कि समानता और न्याय के लिए आर्थिक साधनों पर सरकार का पहले से अधिक नियन्त्रण करना आवश्यक होगा। इसी दृष्टि से सरकार ने औद्योगिक लाइसेंस देने सम्बन्धी नयी नीति निर्धारित की है जिसमे नये साहसियो को प्रोत्साहन देने का निश्चय किया गया है।

आय का वितरण—चतुर्थ योजना मे आय के वितरण को अधिक महत्त्व दिया गया है तथा इसकी पूर्ति के लिए कर नीति मे सुधार करने का निर्देश दिया गया है।

स्थानीय नियोजन—देश मे रोजगार के स्तर मे सुधार करने के लिए नियोजन को विकेन्द्रित करने का सुझाव दिया गया है। इसी दृष्टिकोण से ग्रामीण उद्योगो को अधिक प्रोत्साहन देने का विचार प्रकट किया गया है।

दुर्बल उत्पादक—देश मे उत्पादन बढाने की दृष्टि से कमजोर उत्पादको को आर्थिक तथा तकनीकी सहायता देने का निश्चय किया गया है। इसके लिए वित्तीय सस्थाओ तथा प्रशासनिक विभागो की प्रक्रियाओ को सरल करने का सुझाव दिया गया है।

भूमिहीन श्रमिक—भारत मे एक बडी सख्या भूमिहीन श्रमिको की है। चतुर्थ योजना म उन्हे स्थानीय विकास कार्यक्रमो मे नियोजित किया जायगा।

यह सब कार्य सामाजिक न्याय तथा समानता का वातावरण उत्पन्न करने मे सहायक होगे।

(२) प्रादेशिक असन्तुलन ठीक करना—आर्थिक नियोजन का मुख्य ध्येय प्रादेशिक असन्तुलन कम करना होना चाहिए ताकि पिछडे हुए भाग धीरे-धीरे विकसित भागो के समान हो सकें। चतुर्थ योजना मे पिछडे हुए भागो को तीन प्रकार से विशेष सहायता देकर उनका विकास किया जायेगा

(i) उन्हे केन्द्र से वित्तीय सहायता दी जायेगी।

(ii) उन क्षेत्रो मे केन्द्रीय परियोजनाएँ आरम्भ की जायेगी।

(iii) वित्तीय तथा अन्य सस्थाओ की नीतियो मे सुधार कर उन्हे अधिक सहायता देने की व्यवस्था की जायेगी।

(३) सामाजिक सेवाओं का विस्तार—चतुर्थ योजना मे शिक्षा, चिकित्सा, परिवार नियोजन, आदि सुविधाओ का विस्तार करने का निश्चय किया गया है। इसके लिए १४ वर्ष तक की आयु के बालको के लिए अनिवार्य एव निशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की जायेगी और चिकित्सा के लिए प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रो की स्थापना को प्राथमिकता देने का निश्चय किया गया है।

(४) अधिक रोजगार की व्यवस्था—बेरोजगारी की समस्या का समाधान करने के लिए ग्रामो मे ही छोटे-छोटे कारखाने (जो खेती के लिए उपयोगी यन्त्र आदि बना सकें) स्थापित करने को प्रोत्साहित किया जायेगा ताकि वस्तुओ का उत्पादन कम लागत पर हो सके और रोजगार देने की स्थानीय व्यवस्था हो सके।

(५) आर्थिक नियन्त्रण—उत्पादन में वृद्धि करने तथा आर्थिक सत्ता का सकेन्द्रण रोकने के लिए अर्थ-व्यवस्था के सभी क्षेत्रों पर सरकारी नियन्त्रण कडे करने का निश्चय किया गया है ताकि कुछ व्यक्तियों को ही निरन्तर लाभ न मिल सके। इस सम्बन्ध में राष्ट्रीयकृत बैंक, राज्य व्यापार निगम तथा खाद्यान्न निगम को अधिक सक्रिय बनाने का निश्चय किया गया है।

आर्थिक नियन्त्रण मजबूत करने के लिए ही वित्तीय निगमो तथा अन्य सस्थानों (जो उद्योगो को आर्थिक, तकनीकी या माल की बिक्री सम्बन्धी सहायता देते हैं) के प्रशासन तथा नीतियों म क्रान्तिकारी परिवर्तन करने का निर्णय किया गया है ताकि वह देश के आर्थिक विकास के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकें।

(६) लोक क्षेत्र का सचालन—चतुर्थ योजना काल म लोक क्षेत्र की सभी औद्योगिक इकाइयो का आपसी सम्पर्क बनाने का निश्चय किया गया तथा उनकी कुशलता म वृद्धि के लिए उनके बारे मे निर्णय लेने के अधिकार को विकेन्द्रित करने का निर्देश दिया गया।

इस प्रकार चौथी पचवर्षीय योजना में उत्पादन, वितरण तथा प्रबन्ध सम्बन्धी कार्यों में सुधार के लिए स्पष्ट निर्देश दिये गये हैं।

नीति निर्देश—चतुर्थ पचवर्षीय योजना के जो उद्देश्य निर्धारित किये गये हैं उनकी पूर्ति के लिए दो महत्त्वपूर्ण नीति निर्देश दिये गये हैं

(i) स्थायित्व के साथ विकास (Growth with Stability)

(ii) विदेशी सहायता से मुक्ति (Freedom from Foreign Aid)

चतुर्थ योजना मे यह स्पष्ट किया गया है कि आर्थिक विकास के कार्यक्रमो का सचालन इस ढग से किया जाना चाहिए कि देश में मुद्रा स्फीति न हो तथा वस्तुओं के मूल्य में स्थायित्व रहे। इसी प्रकार यह निश्चय भी प्रकट किया गया है कि विदेशी सहायता से शीघ्रातिशीघ्र छुटकारा पाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए क्योंकि विदेशी सहायता से अनेक प्रकार की आर्थिक तथा राजनीतिक कठिनाइयां उत्पन्न होने लगती हैं।

विदेशी सहायता की मात्रा को न्यूनतम स्तर पर रखने के लिए चतुर्थ योजना में निर्यातों मे प्रति वर्ष ■ प्रतिशत की वृद्धि करने का निश्चय किया गया है। यह कार्य विशेष कठिन नही है।

(ख) आकार तथा साधन—चतुर्थ पचवर्षीय योजना में लोक क्षेत्र द्वारा १५,९०२ करोड़ रुपये खर्च करने की व्यवस्था की गयी है। यह रकम पहली तीनो योजनाओं के मिले जुले खर्च से भी अधिक है। इस खर्च के लिए ८,७३४ करोड रुपये अर्थात् लगभग ५५ प्रतिशत की व्यवस्था सामान्य आन्तरिक साधनों से की जायेगी, ३१९८ रुपये नये करो से प्राप्त किये जायेंगे तथा ५०६ करोड रुपये आन्तरिक ऋणों से प्राप्त किये जायेंगे। इस प्रकार आन्तरिक साधनों से कुल १२,४३८

करोड रुपये अर्थात् लगभग ८० प्रतिशत रकम प्राप्त करने की व्यवस्था है। शेष रकम में से २,६१४ करोड रुपये विदेशी सहायता और ८५० करोड रुपये घाटे के बजटों से प्राप्त करने का निश्चय किया गया है।

इस प्रकार चतुर्थ योजना के लिए विदेशी सहायता से कम धन राशि प्राप्त की जायगी किन्तु घाटे के बजटों से ८५० करोड रुपया प्राप्त किया जायगा। इससे मुद्रा स्फीति होने का भय बना रहेगा और वस्तुओं के मूल्य में स्थायित्व नहीं रह पायेगा।

(ग) प्राथमिकताएँ—चतुर्थ पचवर्षीय योजना में सबसे अधिक राशि अर्थात् कुल योजना व्यय की २४ प्रतिशत खेती और सिंचाई आदि पर व्यय होगी। बड़े उद्योग तथा खनिज क्षेत्र पर २१ प्रतिशत तथा शक्ति (बिजली आदि) पर १६ प्रतिशत रकम खर्च की जायेगी। इस प्रकार उद्योग तथा शक्ति साधनों के विकास पर कुल मिलाकर लगभग ३७ प्रतिशत रकम खर्च करने का अनुमान है। परिवहन तथा संचार व्यवस्था पर २० प्रतिशत रकम खर्च होगी।

इस प्रकार योजना की प्राथमिकताओं का गहराई से अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि चतुर्थ योजना में एक ओर तो खेती के विकास को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है, दूसरी ओर परिवहन, बिजली तथा बड़े उद्योगों पर लगभग ५७ प्रतिशत रकम व्यय करने का निश्चय किया गया है। अत खेती उद्योग, तथा साज-सज्जा के महत्त्व को पूरी तरह समझ कर उनके विकास को यथोचित महत्त्व देने का प्रयत्न किया गया है।

(घ) राष्ट्रीय आय—चतुर्थ योजना काल में प्रति वर्ष ५·५ प्रतिशत की विकास दर का अनुमान लगाया गया है अर्थात् राष्ट्रीय आय में ५ ५ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि होगी ऐसा अनुमान है। यह भी अनुमान लगाया गया है कि इस काल में जन संख्या ~·५ प्रतिशत वार्षिक बढ़ेगी, अत. राष्ट्रीय आय में शुद्ध वार्षिक वृद्धि ३ प्रतिशत होगी।

राष्ट्रीय आय में ३ प्रतिशत शुद्ध वृद्धि प्राप्त करने के लिए देश में घरेलू बचतों की दर राष्ट्रीय आय की १३ २ प्रतिशत तक बढ़ानी पड़ेगी। १९६८-६९ में घरेलू बचतों की दर ८ ८ प्रतिशत थी। इसी प्रकार पूँजी विनियोग की दर भी राष्ट्रीय आय की कम से कम १४·५ प्रतिशत करनी पड़ेगी।

बचत तथा विनियोग के लक्ष्यों की पूर्ति करने के लिए सरकार को वस्तु मूल्यों में स्थायित्व रखना पड़ेगा जो निश्चय ही एक कठिन काम है।

विश्लेषण—चतुर्थ पचवर्षीय योजना में सरकार द्वारा १५,९०२ करोड रुपये तथा निजी क्षेत्र द्वारा ८,९८० करोड रुपये व्यय करने का निश्चय किया गया है। इस प्रकार पाँच वर्ष में कुल २४८८२ करोड रुपये खर्च किये जायेंगे।

यद्यपि योजना में यह निश्चय दोहराया गया है कि मूल्य स्तर में स्थायित्व रखने का प्रयत्न किया जायेगा किन्तु फिर भी ८५० करोड रुपये की रकम घाटे के बजटों से

प्राप्त की जायेगी। पिछले दो तीन वर्ष मे प्रस्तुत किये गये बजटों मे प्राय: २५० करोड रुपय वार्षिक का घाटा दिखलाया गया है अत वास्तविक घाटा ८५० करोड रुपये से काफी अधिक होने की आशका है। इससे मूल्य स्तर मे वृद्धि रोकना कठिन होगा। पिछले दो तीन वर्षों मे मूल्य स्तर मे निरन्तर वृद्धि हुई है।

चतुर्थ योजना मे समाजवाद की नीति को अधिक स्पष्ट शब्दों में दोहराया गया है किन्तु सरकार की नीतियाँ अभी इतनी क्रान्तिकारी प्रतीत नही होती जिनसे समाजवाद लाया जा सके। कुछ आकस्मिक या छुट-पुट कदमों से न तो आर्थिक विषमता कम होगी, न आय और सम्पत्ति का न्यायपूर्ण वितरण होगा। अत गरीब की गरीबी को कम करने का प्रयत्न अधिक गम्भीरता से किया जाना चाहिए नहीं तो चतुर्थ योजना के बाद भी लगभग वही स्थिति देखने को मिलेगी जो १९६५-६६ मे या १९६८-६९ मे थी। यह स्थिति निश्चय ही गौरवपूर्ण नहीं होगी।

क्या भारत मे आर्थिक नियोजन को सफलता मिली है?

भारत की पचवर्षीय योजनाओ पर विचार करने के पश्चात् महत्त्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या भारत में नियोजन सफल हुआ है? इसका उत्तर है नहीं। किन्तु ऐसा किस आधार पर कहा जा सकता है?

आर्थिक नियोजन की सफलता का अनुमान लगाने के लिए यह देखना चाहिए कि उसके उद्देश्यों की पूर्ति हुई है या नही। यदि उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हुई है तो नियोजन मे असफलता मिली है। यदि उद्देश्य पूरे हो गये हैं तो नियोजन भी सफल माना जाना चाहिए।

(१) राष्ट्रीय आय—भारतीय नियोजन की सफलता का अनुमान लगाने के लिए राष्ट्रीय आय में वृद्धि को दो दृष्टिकोण से देखा जाना चाहिए। पहला दृष्टिकोण यह कि राष्ट्रीय आय में कुल वृद्धि कितनी हुई है। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि राष्ट्रीय आय में वास्तविक वृद्धि कितनी हुई है।

कुल वृद्धि—यदि राष्ट्रीय आय में कुल वृद्धि का अनुमान लगाया जाय तो सन् १९५०-५१ में भारत की राष्ट्रीय आय लगभग ९,५३० करोड रुपये थी जो १९६९-७० मे लगभग ३१,८०० करोड रुपये तक पहुँच गयी अर्थात् यह लगभग ३½ गुनी हो गयी है।

यदि प्रति व्यक्ति वृद्धि का अनुमान लगाया जाय तो पता चलेगा कि १९५०-५१ मे प्रति व्यक्ति आय २६७ रुपये थी जो १९६९-७० में ५८९ रुपये हो गयी। इस प्रकार प्रति व्यक्ति आय भी लगभग २¼ गुनी हो गयी है।

वास्तविक वृद्धि—आय में कुल वृद्धि योजना की सफलता का सही माप नहीं मानी जा सकती क्योंकि योजना काल म मुद्रा के मूल्यों मे निरन्तर वृद्धि हुई है। अत यदि आय मे वास्तविक वृद्धि का माप किया (जिसमें क्रय शक्ति मे वृद्धि का माप होगा) तो नियोजन की सफलता का सही अनुमान हो सकता है।

सन् १९५०-५१ में भारत की वास्तविक आय (१९४८-४९ के मूल्यों पर)

८,८५० करोड रुपये थी जो बढकर १९६८-६९ मे १६,६१० करोड रुपये हो गयी अर्थात् वास्तविक वृद्धि केवल ९० प्रतिशत हुई (इसकी तुलना ३½ गुनी से कीजिये) है। इसी प्रकार प्रति व्यक्ति वास्तविक आय २४८ रुपये से बढकर ३२३ रुपये हुई है अर्थात् वृद्धि केवल ३० प्रतिशत है। यदि पिछले दस वर्ष की वास्तविक आय वृद्धि का अनुमान ही लगाया जाय तो इसमें वृद्धि ११ प्रतिशत से कुछ कम निकलती है।

इस प्रकार नियोजन काल मे एक भारतीय की औसत आय केवल ३० प्रतिशत बढी है जो १·५ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का सकेत करती है। यह वृद्धि अत्यन्त साधारण है। अत इसके आधार पर नियोजन को सफल मान लेना उचित नही है।

(२) प्राथमिक क्षेत्रों का विकास—नियोजन के बीस वर्षों मे भारत ने कृषि, उद्योग, परिवहन के साधन तथा बिजली आदि का महत्त्वपूर्ण विकास हुआ है किन्तु कृषि के क्षेत्र मे अभी भी आत्मनिर्भरता नही मिली है। प्रति वर्ष करोडो रुपये का अनाज, कपास तथा तेल बाहर से आयात करना पड रहा है। भारतीय कृषि आज भी मानसून का जुआ है जैसी बीस वर्ष पहले थी।

उद्योग बिजली, परिवहन के क्षेत्रों मे आशातीत विकास हुआ है। १९५०-५१ मे भारत मे एक बढिया किस्म की सुई का भी निर्माण नही होता था किन्तु अब हमारे यहाँ बढिया रेल के इजन, डिब्बे, हवाई जहाज, पानी के जहाज, बडी-बडी मशीनें आदि प्रचुर मात्रा मे बनने लगी है। भारत के ग्राम ग्राम मे बिजली पहुँच गयी है और सडकें पहुँच रही हैं। यह सही है कि इन क्षेत्रों मे भी विकास की गति बहुत शिथिल रही है किन्तु फिर भी यह कहना पडेगा कि भारत ससार के औद्योगिक मानचित्र पर आ गया है। यह आर्थिक नियोजन की महत्त्वपूर्ण देन कही जा सकती है।

(३) आर्थिक विषमता मे कमी—भारत मे आर्थिक नियोजन का एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य आय तथा सम्पत्ति के साधनों का न्यायपूर्ण वितरण करना रहा है ताकि देश मे आर्थिक विषमता कम हो सके। अब तक जितनी समितियो तथा आयोगो ने रिपोर्ट दी हैं उनसे पता चलता है कि भारत मे आर्थिक नियोजन का अधिक लाभ धनी वर्ग को मिला है, और गरीब पहले से अधिक गरीब होता चला जा रहा है। इस प्रकार देश मे 'आर्थिक सत्ता के सकेद्रण मे वृद्धि हुई है।' अत आर्थिक नियोजन के इस लक्ष्य मे सफलता नही मिल सकी है।

(४) बेरोजगारी हटाना—समाजवाद की सबसे महत्त्वपूर्ण खूबी यह होती है कि उसमें प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार मिल जाता है। भारत मे आर्थिक नियोजन मे भी प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार देने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था किन्तु दुर्भाग्य से बेरोजगारी घटने की बजाय निरन्तर बढती गयी। अनुमान लगाया गया है कि १९७१ मे लगभग १ ६ करोड व्यक्ति बेरोजगार हैं। यह स्थिति निश्चय ही बहुत गम्भीर एव दुखद है। इसके आधार पर भारत मे नियोजन को सफल कदापि नही माना जा सकता।

इन तथ्यों से स्पष्ट है कि भारतीय आर्थिक नियोजन को केवल औद्योगिक तथा परिवहन के क्षेत्र में ही सफलता मिली है बाकी क्षेत्रों में वह असफल ही रहा है।

असफलता के कारण[1]

भारतीय आर्थिक नियोजन की असफलता में अनेक तत्वों का हाथ रहा है। पिछले एक अध्याय में सामान्य रूप से इन तत्वों के बारे में लिखा जा चुका है। यहाँ उनकी विशेष बातों पर प्रकाश डाला जा रहा है।

(१) अस्पष्ट नीति—भारत में समाजवादी समाज की स्थापना के लिए वर्षों से चर्चा होती रही है किन्तु समाजवाद के सही स्वरूप के बारे में शासक दल के सदस्यों में आपस में मतभेद रहा है। इस मतभेद के कारण ही १६६६ में राष्ट्रीय कांग्रेस दो भागों में बट गयी है। आपसी मतभेदों का आर्थिक नियोजन पर यह प्रभाव पड़ा कि योजना की प्राथमिकताएँ सदा बदलती रही हैं। पहली योजना में कृषि को अधिक महत्व देकर मान लिया गया कि कृषि क्षेत्र का पर्याप्त विकास हो गया है। इस गलत धारणा का फल तीसरी योजना में भुगतना पड़ा जबकि सूखा पड़ने से खेती में बहुत कम उत्पादन हुआ और विदेशों से अधिक अन्न तथा अन्य वस्तुएँ आयात करनी पड़ीं।

सरकार की अस्पष्ट आर्थिक नीति का दौर सम्भवतः अब भी समाप्त नहीं हुआ है क्योंकि कुछ राज्यों में अभी तक भी चतुर्थ योजना के कार्यक्रमों को अन्तिम रूप नहीं दिया जा सका है। ऐसी स्थिति में नियोजन की सफलता की क्या आशा हो सकती है ?

(२) क्रान्तिकारी नेतृत्व का अभाव—भारत में आर्थिक नियोजन की असफलता का एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि देश का नेतृत्व पर्याप्त क्रान्तिकारी नहीं रहा है। भारत के शासक उचित अनुचित किसी भी तरीके से कुर्सी से चिपके रहना चाहते हैं और अपनी कुर्सी के लिए वह देश के बड़े से बड़े हित की भी परवाह नहीं करते। आये दिन दल बदलने की घटनाएँ होती हैं क्योंकि कुछ व्यक्तियों को कुर्सी का लालच देकर कभी इधर मिला लिया जाता है कभी उधर शामिल कर लिया जाता है, ऐसे पद लोलुप व्यक्तियों से देश के विकास के लिए क्या आशा की जा सकती है।

राष्ट्रीय चरित्र के इस भयानक पतन का फल देश की जनता को भुगतना पड़ा है और विकास के कार्यक्रम समय पर पूरे नहीं हो सके हैं। यही योजना की असफलता का कारण है।

---

१ इस शीर्षक के नीचे दी गयी बातों को "भारतीय आर्थिक नियोजन की कठिनाइयाँ" भी कहा जा सकता है।

(३) शिथिल प्रशासन—पिछले अध्याय मे लिखा जा चुका है कि आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए मजबूत और ईमानदार प्रशासन होना आवश्यक है। भारतीय प्रशासन की मनोवृत्ति सत्ताशाही और सामन्तवादी रही है। प्रशासक मन-माने ढग से काम करते हैं। वह सरकारी योजना अथवा जनहित कि तनिक भी चिंता नही करते। इसीलिए घूस और भ्रष्टाचार बढ गया है। दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति यह है कि घूस और भ्रष्टाचार के दोषी व्यक्ति प्राय साफ बच जाते हैं क्योकि उन्हें शक्तिशाली व्यक्तियो का प्रश्रय मिल जाता है। यह परिस्थितियाँ निरन्तर बढती चली जा रही हैं। इसी कारण समाज मे असतोष बढ गया है और न्याय के प्रति विश्वास हटता चला जा रहा है। इस प्रकार के भ्रष्ट एव स्वार्थी प्रशासन से आर्थिक नियोजन की सफलता की कामना करना व्यर्थ है।

(४) साधनों का दुरुपयोग—भारतीय नियोजन मे प्राय यह देखा गया है कि कोई भी कार्यक्रम निश्चित या निर्धारित समय पर पूरा नहीं हो पाता। किसी कार्यक्रम पर जितनी धन राशि खर्च करने का निश्चय किया जाता है उससे प्राय बहुत अधिक रकम उस कार्यक्रम पर खर्च होती है। अनेक क्षेत्रो मे ठेकेदार से उच्च-तम अधिकारी तक गडबडी करने मे सहयोग देते हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय पूँजी का एक बडा भाग जो देश के विकास मे खर्च होना चाहिए, बडे-बडे अधिकारियो की जेब मे चला जाता है। वास्तव मे आर्थिक सत्ता के सकेन्द्रण का एक मुख्य कारण यही है।

आर्थिक साधनो के दुरुपयोग के कारण अनेक योजनाएँ अधूरी रह जाती हैं, उनके लिए विदेशी ऋण लेने पडते हैं जिनके व्याज का भार देश की अर्थ-व्यवस्था पर निरन्तर बढता जा रहा है।

इस प्रकार जो कुछ सीमित साधन भारत मे उपलब्ध हैं उनका भी सही ढग से उपयोग न होने के कारण नियोजन को असफलता का मुह देखना पडा है।

(५) जन सहयोग—किसी भी देश मे आर्थिक नियोजन तब तक सफल नही हो सकता जब तक नियोजन मे जनता की आस्था न हो और उसे सफल बनाने में उसका पूरा योगदान न हो। भारतीय जनता को योजनाओं के महत्त्व से पूरी तरह परिचित करने का कभी विशेष प्रयत्न नही किया गया। अत प्रत्येक व्यक्ति यह मानता है कि नियोजन के लिए काम करना उसका कर्त्तव्य नही सरकार का काम है।

योजना बनाते समय भी सरकार प्राय उन व्यक्तियों की सलाह लेती है जो सरकार की 'हाँ मे हाँ' मिलाने वाले होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि योजनाओं की वास्तविक कमियाँ कभी भी प्रकाश मे नहीं आती। अत गलत ढग से बनायी गयी और भ्रष्ट तथा स्वार्थी व्यक्तियो द्वारा सचालित की गयी कोई भी योजना कैसे सफल हो सकती है? यह एक सीधा प्रश्न और साफ उत्तर है।

उपसहार—भारतीय आर्थिक नियोजन की असफलता मे प्रशासन का ढीला-

पन और भ्रष्टाचरण तथा शासकों की सामन्तशाही मनोवृत्ति का मुख्य योग रहा है। इनमें परिवर्तन किये बिना भविष्य की योजनाओं की सफलता भी सदिग्ध ही बनी रहेगी।

अभ्यास प्रश्न

१. स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले भारत में आर्थिक नियोजन के जो प्रयत्न किये गये उनका विश्लेषण कीजिए।

२. भारत में आर्थिक नियोजन की प्राथमिकताओ का विश्लेषण कीजिए।

३. भारत में आर्थिक नियोजन को तीन वर्ष के लिए क्यो स्थगित किया गया? कारणों पर प्रकाश डालिए।

४. भारत की पहली तीन योजनाओ पर टिप्पणी लिखिए। क्या उनमें पर्याप्त सफलता मिली? कारण सहित लिखिए।

५. चतुर्थ योजना की पृष्ठ-भूमि का विस्तृत विश्लेषण कीजिए। क्या चतुर्थ योजना में कुछ नयी दिशाओं की ओर सकेत किया गया है?

६ *भारत की चतुर्थ पचवर्षीय योजना पर एक टिप्पणी लिखिए।*

७ भारत की पचवर्षीय योजनाओं की कठिनाइयों तथा सफलताओं का विवेचन कीजिए।

८. भारत की पच वर्षीय योजनाओ की सफलता मे कौन से तत्त्व बाधक रहे है?

७ भारतीय योजना आयोग

(INDIAN PLANNING COMMISSION)

भारत में आर्थिक नियोजन किस प्रकार आरम्भ हुआ और उसका विकास किस प्रकार हुआ, इसका वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। नवम्बर, १९४७ में अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें "नियोजित केन्द्रीय निदेशन" (Planned Central Direction) की आवश्यकता पर जोर दिया और १९४८ में आर्थिक कार्यक्रम समिति (*Economic Programme Committee*) ने यह सुझाव दिया कि देश में राज्य सरकारों को नियोजन सम्बन्धी सलाह देने के के लिए एक केन्द्रीय योजना आयोग की स्थापना की जानी चाहिए।

"जनवरी, १९५० में कांग्रेस दल की कार्यकारिणी ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें भारत सरकार से यह सिफारिश की गयी थी कि एक वैधानिक योजना आयोग की स्थापना की जानी चाहिए।"

आयोग की स्थापना—जनवरी १९५० में राष्ट्रपति ने संसद में जो भाषण दिया उसमें योजना आयोग की स्थापना का निश्चय प्रगट किया गया। राष्ट्रपति ने कहा कि योजना आयोग स्थापित किया जा रहा है 'ताकि अपने साधनों का राष्ट्र के विकास के लिए श्रेष्ठतम प्रयोग किया जा सके।"

इस घोषणा के पश्चात् १५ मार्च, १९५० को भारत सरकार द्वारा एक प्रस्ताव पास किया गया जिसमें आर्थिक नियोजन का महत्त्व स्पष्ट किया गया और यह मत प्रगट किया गया कि किसी स्वतन्त्र संगठन के बिना योजनाओं को सफल बनाना सम्भव नहीं है।

योजना आयोग के कार्य
(Functions of the Planning Commission)

भारत सरकार के प्रस्ताव में संविधान के निदेशक सिद्धान्तों का हवाला देते हुए कहा गया था कि "सरकार जनता के जीवन स्तर में सुधार करने के लिए कृत

सकल्प है" अत एक योजना आयोग की स्थापना की जा रही है जिसके निम्नलिखित कार्य होंगे

(१) *साधनों को जानकारी तथा अभाव की पूर्ति—आयोग का पहला कार्य* देश के भौतिक, पूंजीगत तथा मानवी साधनो का (जिसमे तकनीकी विशेषज्ञ भी सम्मिलित हैं) सही अनुमान लगाना है। इस अनुमान के आधार पर जो साधन देश की आवश्यकता के लिए कम हों उनकी पूर्ति के लिए भरसक प्रयत्न करना होगा।

(२) साधनों का सन्तुलित एव प्रभावशाली उपयोग—देश मे मौजूद साधनो की सही जानकारी कर लेने के पश्चात् एक ऐसी योजना बनाना जो इन साधनो के अधिकतम प्रभावशाली एव सन्तुलित प्रयोग के लिए आवश्यक हो।

(३) प्राथमिकताएँ और चरण निर्धारित करना—साधनो का श्रेष्ठतम प्रयोग करने के लिए प्राथमिकताएँ निर्धारित करना और इन प्राथमिकताओ के आधार पर आर्थिक विकास करने के लिए यह निश्चित करना कि कब-कब किस किस चरण (stage) पर कितने-कितने साधनो का प्रयोग किया जायगा।

(४) बाधक तत्वों की जानकारी—*यह जानकारी प्राप्त करना कि आर्थिक* विकास मे कौन से तत्व बाधक हो सकते हैं और वर्तमान सामाजिक तथा राजनीतिक वातावरण मे आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए कौन से काम पूरे कर लेना आवश्यक है।

(५) नियोजन के लिए सगठन की स्थापना—इन सब कार्यों की जानकारी और पूर्ति के लिए उचित सगठन का निर्णय करना और उसकी स्थापना करना।

(६) मूल्यांकन—समय-समय पर नियोजन के प्रत्यक चरण की प्रगति का मूल्यांकन करना तथा उसके आधार पर नियोजन की नीतियों में आवश्यक परिवर्तन और सुधार करना।

(७) सगठन मे सुधार—सरकार की बदलती हुई नीतियो के अनुसार तथा आर्थिक विकास के कार्यक्रमो के अनुसार अपने सगठन मे परिवर्तन या सुधार के लिए सुझाव देना।

एक सलाहकार सस्था

योजना आयोग की स्थापना के समय ही यह स्पष्ट कर दिया गया था कि यह एक सलाह देने वाली सस्था है। आयोग द्वारा कोई सलाह देने से पहले राज्य तथा केन्द्रीय सरकार से विचार विमर्श कर लेना चाहिए ताकि बाद मे मतभेद उत्पन्न होने का भय न रहे।

योजना आयोग की सलाह के आधार पर केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें निर्णय लेती हैं। निर्णय लेने मे वह आयोग के मत को अधिकतम महत्त्व देती हैं परन्तु आयोग के विचार से मत भिन्नता होने पर वह स्वतन्त्र निर्णय ले सकती हैं। निर्णय लेने के पश्चात् उसका पालन करने का दायित्व सरकार का ही है, आयोग का उसमे कोई हाथ नही होता।

संक्षेप मे

(i) योजना आयोग एक सलाह देने वाली संस्था मात्र है।

(ii) अपनी निश्चित सलाह देने के लिए यह केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो के सम्पर्क मे रहता है।

(iii) सरकार के लिए आयोग की सलाह मान लेना अनिवार्य नही है किन्तु आयोग को सलाह को अधिकतम महत्त्व दिया जाता है।

(iv) आयोग की सलाह के बाद सरकार जो निर्णय लेती है उसका पालन करने का दायित्व सरकार पर ही होता है।

आयोग की रचना

(Composition of the Commission)

प्रारम्भ मे योजना आयोग की अध्यक्षता भारत के तत्कालीन प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू ने ग्रहण की। श्री गुलजारी लाल नदा को उपाध्यक्ष नियुक्त किया गया। अन्य सदस्यो मे श्री वी० टी० कृष्णमाचारी, श्री चिन्तामणि द्वारकानाथ देशमुख, श्री जी० एल० मेहता तथा श्री आर० के० पाटिल थे। श्री नदा तथा पाटिल को राजनीतिक, श्रम तथा जन जीवन का पर्याप्त अनुभव था। श्री वी० टी० कृष्णमाचारी तथा श्री देशमुख को प्रशासनिक अनुभव था, तथा श्री जी० एल० मेहता को व्यावसायिक प्रबन्ध के विशेष ज्ञान के अतिरिक्त प्रशासनिक अनुभव भी था। इस प्रकार पहला योजना आयोग मुख्यत प्रशासनिक अनुभव वाले व्यक्तियों का सगठन था। उसमे श्री नेहरू के अतिरिक्त किसी मन्त्री को सदस्य नही बनाया गया।

मन्त्रियों की सदस्यता—आयोग की नियुक्ति के तीन मास के भीतर ही श्री चिन्तामणि देशमुख को भारत सरकार म वित्त मन्त्री नियुक्त कर दिया गया। श्री देशमुख के वित्त मन्त्री होने पर भी उनको योजना आयोग का सदस्य बनाये रखा गया। वास्तव मे, उस समय से यह परम्परा पड गयी कि वित्त मन्त्री योजना आयोग का पदेन सदस्य होता है।

सन् १९५१ मे श्री गुलजारीलाल नन्दा को भारत सरकार मे मन्त्री नियुक्त किया गया और उन्हे भी आयोग का सदस्य बना रहने दिया गया। उस समय से एक नयी परम्परा यह स्थापित हो गयी कि भारत सरकार का योजना मन्त्री भी योजना आयोग मे पदेन सदस्य होगा।

वर्तमान स्थिति

(i) **अध्यक्ष**—यह परम्परा बन गयी है कि भारत का प्रधान मन्त्री योजना आयोग का अध्यक्ष होगा। सन् १९५० से २७ मई, १९६४ तक श्री जवाहर लाल नेहरू योजना आयोग के अध्यक्ष रहे। उनकी मृत्यु के पश्चात् श्री लालबहादुर शास्त्री और उनकी मृत्यु के पश्चात् श्रीमती इन्दिरा गाधी ने योजना आयोग की अध्यक्षता का भार सम्भाला।

(ii) **मन्त्री सदस्य**—प्रधान मन्त्री के अतिरिक्त वित्त मन्त्री तथा योजना

मन्त्री आयोग के पदेन सदस्य होते हैं। इन व्यक्तियों के अतिरिक्त भी कुछ मन्त्रियों को आयोग का सदस्य नियुक्त किया जा सकता है। इन मन्त्रियों की आयोग में नियुक्ति प्राय प्रधान मन्त्री की इच्छा पर निर्भर करती है। यह निश्चित नहीं है कि कितने मन्त्रियों को आयोग का सदस्य नियुक्त किया जा सकता है? समय-समय पर इनकी सख्या मे परिवर्तन होता रहा है।

(iii) उपमन्त्री—कभी-कभी योजना मन्त्रालय मे कुछ उपमन्त्री होते हैं जो आर्थिक नियोजन सम्बन्धी नीतियों के पालन करने में योग देते हैं। इन मन्त्रियों को योजनाओं के सचालन में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। उस अनुभव का लाभ उठाने के लिए इन व्यक्तियों को योजना आयोग की सभाओं में भाग लेने के लिए बुला लिया जाता है किन्तु इन्हें आयोग का सदस्य नियुक्त नहीं किया जाता।

(iv) पूर्णकालिक सदस्य—प्रधान मन्त्री तथा अन्य मन्त्रीगण योजना आयोग के अशकालिक (part time) सदस्य ही होते हैं। उन्हें आयोग की सदस्यता का कोई वेतन नहीं मिलता। किन्तु कुछ व्यक्तियों को योजना आयोग का पूर्णकालिक सदस्य बनाया जाता है। इनकी भी सख्या निर्धारित नहीं है किन्तु वह प्राय ३ से ■ के बीच मे रही है।

आयोग मे प्राय निम्नलिखित वर्गों के व्यक्तियों को सदस्य नियुक्त किया जाता रहा है :

(क) प्रशासन का अनुभव रखने वाले व्यक्ति
(ख) वैज्ञानिक
(ग) अर्थशास्त्री
(घ) इजीनियर
(ङ) समाजशास्त्री तथा प्रबन्ध विशेषज्ञ
(च) राजनीतिज्ञ

पूर्णकालिक सदस्य (full-time members) आयोग की सेवा मे नियोजित अधिकारी माने जाते हैं। इन्हें योजना आयोग से वेतन तथा निश्चित दरों पर भत्ते तथा अन्य सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं।

क्या वर्तमान रचना उपयोगी है ?

कुछ व्यक्तियों की यह मान्यता रही है कि योजना आयोग एक सर्वथा स्वतन्त्र सस्था होनी चाहिए जिसमे मन्त्रियों को सदस्य नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि मन्त्रियों के सदस्य बने रहने से आयोग की नीतियों तथा क्रियाओं पर नौकरशाही प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ेगा जिससे योजनाओं का सही तथा उपयुक्त स्वरूप नहीं बन सकेगा।

यह धारणा बहुत सही प्रतीत नहीं होती क्योंकि जिन मन्त्रियों को योजना आयोग का सदस्य रखा जाता है वह प्राय बहुत महत्त्वपूर्ण व्यक्ति होते हैं जिनके व्यक्तित्व से सरकार की नीतियाँ निर्धारित होती हैं। इस प्रकार के व्यक्तियों को

आयोग की सदस्यता देने से योजना सम्बन्धी नीतियाँ तथा प्रक्रियाएँ सरकारी नीतियो के अनुकूल हो जाती हैं जिससे योजना आयोग तथा सरकार—दोनों का काम सरल हो जाता है। वास्तव में योजनाओं के संचालन का भार सरकार पर होता है और उनकी सफलता या असफलता के लिए सरकार ही उत्तरदायी होती है। अत योजनाओं के निर्माण स्तर पर मन्त्रियों का परामर्श तथा निर्देशन बहुत उपयोगी होता है। तथा इस दृष्टि से आयोग की सदस्यता का वर्तमान ढाँचा सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है।

नियुक्ति की प्रणाली

योजना आयोग के सदस्यो की नियुक्ति प्रधान मन्त्री तथा उपाध्यक्ष के आपसी विचार-विमर्श द्वारा की जाती है। प्रधान मन्त्री (जो आयोग का अध्यक्ष होता है) आयोग के उपाध्यक्ष से सलाह ले लेते हैं कि अमुक व्यक्ति को सदस्य नियुक्त करना है। तदनुसार उस व्यक्ति की नियुक्ति कर दी जाती है। जब वह व्यक्ति आयोग में काम सम्हाल लेता है तब भारत सरकार के गजट मे एक विज्ञप्ति निकाल दी जाती है कि अमुक व्यक्ति ने योजना आयोग की सदस्यता का भार ग्रहण कर लिया है। वह विज्ञप्ति पूर्णकालिक तथा अंशकालिक (मन्त्री आदि) दोनो प्रकार के सदस्यो के लिए निकाली जाती है।

इस प्रकार योजना आयोग के सदस्यो की नियुक्ति प्रधान मन्त्री द्वारा ही की जाती है। इसके लिए मन्त्रिमण्डल की सलाह लेने की आवश्यकता नहीं होती। जब किसी सदस्य की नियुक्ति की जाती है तो प्रधान मन्त्री द्वारा इसकी सूचना राष्ट्रपति को अवश्य दे दी जाती है।

सदस्यों की आयु

योजना आयोग के सदस्यो की नियुक्ति प्रशासकीय स्तर पर की जाती है, उन्हें किसी चयन समिति के सामने प्रार्थना पत्र देकर चयन नहीं करवाना पडता। आयोग के सदस्यों का दर्जा मन्त्रियो के समान होता है अत उनके लिए आयु की सीमा निर्धारित नहीं है।

अभी तक आयोग के सदस्यो की आयु ४० से ६६ वर्ष के भीतर रही है। इनमे मन्त्रियो की आयु प्राय अधिक रही है क्योंकि बहुत वरिष्ठ मन्त्रियो को ही आयोग की सदस्यता प्रदान की जाती है।

नियुक्ति की शर्तें

जब मार्च, १६५० में योजना आयोग की नियुक्ति की गयी तब अलग-अलग वर्गों के सदस्यों के लिए नियुक्ति की अलग-अलग शर्तें निश्चित की गयी। उस समय यह निश्चित किया गया कि आयोग के उपाध्यक्ष (Deputy Chairman) को वही वेतन, भत्ता तथा अन्य सुविधाएं दी जायेंगी जो केबिनेट स्तर के एक मन्त्री को दी जाती हैं।

अन्य पूर्णकालिक सदस्यों को उतना ही वेतन, भत्ता तथा अन्य सुविधाएं देने का निर्णय किया गया जो उन व्यक्तियों को आयोग के सदस्य बनने से पहले मिलती

थीं। यह संयोग की बात थी कि आयोग के चारों पूर्णकालिक सदस्य अपनी नयी नियुक्ति से पहले किसी न किसी सरकारी पद पर काम कर रहे थे।

सन् १९५३ में यह निश्चित किया गया कि आयोग के पूर्णकालिक सदस्यों को भारत सरकार के मन्त्रियों के समान वेतन दिया जायेगा। तब से पूर्णकालिक सदस्यों को मन्त्रियों के समान वेतन, भत्ता तथा अन्य सुविधाएँ मिलती हैं। इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जब सरकारी सेवा से मुक्त अधिकारियों को योजना आयोग का सदस्य बनाया जाता है तब उन्हें अपनी पेन्शन लेने का अधिकार बना रहता है और उन्हें पेन्शन के अतिरिक्त उतना वेतन मिलता रहता है जो अन्य सदस्यों को मिलता है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पूर्णकालिक सदस्यों का दर्जा राज्य मन्त्रियों (Ministers of State) के बराबर होता है, केबिनेट मन्त्रियों के बराबर नहीं। सदस्यों को अवकाश आदि उसी हिसाब से मिलते हैं जिस हिसाब से सरकार के अस्थायी अधिकारियों को मिलते हैं।

संक्षेप में—

(i) आयोग के उपाध्यक्ष का दर्जा केबिनेट मन्त्री के समान होता है और उसको वेतन, भत्ता तथा अन्य सुविधाएँ उसी हिसाब से मिलती हैं।

(ii) अन्य पूर्णकालिक सदस्यों का दर्जा केन्द्रीय सरकार के राज्य मन्त्रियों के समान होता है और उनका वेतन, भत्ता आदि उनके समान होता है।

(iii) सरकार से पेन्शन प्राप्त करने वाले सदस्यों को पेन्शन मिलती रहती है और वेतन, भत्ता आदि उसके अतिरिक्त मिलते हैं।

(iv) पूर्णकालिक सदस्यों को अवकाश उतने ही दिनों का मिलता है जितना सरकार के अस्थायी अधिकारियों को मिलता है।

कार्यकाल

योजना आयोग के पूर्णकालिक सदस्यों की नियुक्ति किसी निश्चित अवधि के लिए नहीं की जाती। उनके सेवा मुक्त होने के लिए भी कोई आयु या अवधि निश्चित नहीं है। इसलिए एक बार नियुक्त होने पर, आयोग के सदस्य उस समय तक बने रहते हैं जब तक उन्हें असुविधा न हो। अनेक बार सदस्यों ने किसी अन्य पद का भार (विदेशों में राजदूत, मन्त्री, किसी अन्य आयोग के अध्यक्ष या सदस्य आदि) सम्भालने पर योजना आयोग से त्यागपत्र दिया है।

कभी-कभी सरकार पूरे आयोग के ढाँचे को बदलना चाहती है तो वह सदस्यों को (या किसी एक या दो को) संकेत दे देती है और वह सदस्य आयोग से त्यागपत्र दे देते हैं। पिछले योजना आयोग के उपाध्यक्ष प्रोफेसर डी॰ आर॰ गाडगिल तथा उनके साथियों ने सरकार के संकेत पर ही त्यागपत्र दे दिया था ताकि सरकार आयोग का नये सिरे से पुनर्गठन कर सके। इस प्रकार आयोग की सदस्यता प्रधान मन्त्री की इच्छानुसार ही बनी रह सकती है।

अशकालिक सदस्य अर्थात् मन्त्री अपने पद से हट जाने पर योजना आयोग की सदस्यता से त्यागपत्र दे देते हैं। ऐसा करना एक स्वस्थ परम्परा मात्र है।

आयोग की कार्यप्रणाली

आर्थिक नियोजन के सारे काम को सदस्यो मे बाँट दिया जाता है। प्रत्येक सदस्य अपने क्षेत्र से सम्बन्धित समस्याओ के बारे मे उत्तरदायी होता है। प्रत्येक क्षेत्र (कृषि, उद्योग, प्राकृतिक साधन, प्रशासन एव परिवहन, शिक्षा, सामाजिक नियोजन एव अन्तरराष्ट्रीय व्यापार, वित्त आदि) से सम्बन्धित सदस्य अपने-अपने विभागो तथा अनुभागो की देख रेख करता है।

सामाजिक दायित्व—काम का यह विभाजन या वितरण सुविधा की दृष्टि से *किया गया है किन्तु सभी महत्त्वपूर्ण कार्यों के लिए आयोग के सदस्यो का सामूहिक* उत्तरदायित्व होता है। समय-समय पर सदस्यों की सभाएँ बुलाकर विभिन्न समस्याओं के बारे मे निर्णय लिए जाते हैं।

मुख्य दायित्व—पूर्णकालिक सदस्यो पर-सब कार्य उदार हने पर भी आयोग के कार्य सचालन का मुख्य दायित्व पूर्णकालिक सदस्यो पर होता है। यह लोग विभिन्न प्रकार का कार्य करने तथा उस पर निर्णय लेने की दृष्टि से बार-बार आपस मे विचार-विमर्श करते रहते हैं। इस व्यवस्था को सरल बनाने के लिए इन सब सदस्यो के कार्यालय बिल्कुल पास पास स्थित हैं:

जो मन्त्री आयोजना आयोग के सदस्य हैं विशेष अवसरो पर ही सभा मे भाग लेते हैं *जबकि किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर विचार करना होता है या नीति* सम्बन्धी कोई निर्णय लेना होता है। उपाध्यक्ष द्वारा प्राय पूर्णकालिक सदस्यो से सप्ताह मे एक या दो बार विचार विमर्श कर लिया जाता है। विचार-विमर्श करते समय अलग-अलग विभागो के अध्यक्ष भी आमन्त्रित किये जाते हैं।

आयोग के कार्य अथवा प्रशासन सम्बन्धी सभी महत्त्वपूर्ण कागज पत्र सभी सदस्यों में प्रसारित किये जाते हैं।

काम की प्रक्रिया—योजना आयोग के विभागाध्यक्ष तथा अनुभाग अधिकारी अपने क्षेत्र के सदस्य के मार्गदर्शन मे काम करते हैं और अपनी कार्य सम्बन्धी समस्याओ तथा घटनाओ की जानकारी सम्बन्धित सदस्य को देते रहते हैं। प्रत्येक *विभाग तथा अनुभाग के कर्मचारी तथा अधिकारी अपने अपने विभागो से सम्बन्धित* सदस्य के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

आयोग की नियमित या विशेष बैठको में जिन समस्याओ पर विचार होना *होता है उनसे सम्बन्धित सदस्य को पूरी स्थितियो से अवगत करा दिया जाता है।*

विशेष कार्य—यदि पचवर्षीय योजना मे निर्धारित बातों के ऊपर कोई काम करना है, किसी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक समस्या के विषय मे निर्णय लेना है, वरिष्ठ अधिकारियो की नियुक्ति करनी है तथा जिन विषयो को राष्ट्रीय विकास

परिषद् के सामने विचार के लिए रखना है उन सब को उपाध्यक्ष के नोटिस मे लाना आवश्यक है।

योजना आयोग का सदस्य मण्डल उन सब विषयो पर विचार करता है जिनका सम्बन्ध योजनाओ के निर्माण से होता है या योजनाओ मे कुछ परिवर्तन करने सम्बन्धी प्रस्ताव पर विचार करना होता है। यदि भारत सरकार को आर्थिक नियोजन सम्बन्धी नीतियों मे सुधार सम्बन्धी सुझाव देना हो या आयोग के सगठन सम्बन्धी कोई परिवर्तन सुझाना हो तो इस प्रकार के प्रस्ताव पर भी आयोग का पूरा सदस्य मण्डल विचार करता है। इस प्रकार नीति निर्धारण या नीति मे परिवर्तन सम्बन्धी सभी बातों पर आयोग के सभी सदस्यो की सहमति होना आवश्यक है।

केन्द्रीय सरकार मे सम्बन्ध
[RELATION WITH CENTRAL GOVERNMENT]

पिछले कुछ वर्षों मे राज्यो तथा केन्द्र मे वित्तीय मामलों को लेकर अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं। योजना आयोग को केन्द्र तथा राज्यों की योजनाओ की पूरी तरह जानकारी होती है अत अनेक मामलों मे वह केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारो को परामर्श देने का कार्य करता है। बहुधा केन्द्रीय या राज्य सरकारें योजना आयोग से विभिन्न समस्याओं के विषय मे सलाह माँगती हैं। योजना आयोग अपने विशेष ज्ञान तथा साधनो के आधार पर यह सलाह देता रहता है। वह प्राय सभी समस्याओ पर केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों मे सहयोग स्थापित करने के प्रयत्न करता है।

(१) प्रधान मन्त्री तथा अन्य सदस्य—योजना आयोग तथा केन्द्रीय सरकार मे सहयोग की सबसे महत्वपूर्ण कडी प्रधान मन्त्री है जो आयोग के अध्यक्ष होते हैं। यह कडी अन्य मन्त्रियों को आयोग का सदस्य बनाने से और अधिक दृढ हो गयी है। इन व्यक्तियों को योजना आयोग का सदस्य बनाने से आयोग के सभी निर्णय अधिक व्यावहारिक तथा स्वीकार्य हो गये हैं क्योंकि आयोग के सभी महत्वपूर्ण निर्णय मन्त्री सदस्यो से विचार विमर्श के पश्चात् ही किये जाते हैं अत जब भी कोई सुझाव सरकार के सामने प्रस्तुत किया जाता है, वह प्राय स्वीकार हो जाता है।

(२) सरकारी समितियों में आयोग के अधिकारी—योजना आयोग तथा केन्द्रीय सरकार मे आपसी सम्पर्क स्थापित करने मे एक अन्य बात सहायक होती है। भारत सरकार द्वारा नियुक्त अनेक समितियो मे योजना आयोग के अधिकारियों की नियुक्ति की जाती है और योजना आयोग की अनेक समितियों मे भारत सरकार के विभिन्न मन्त्रालयों के अधिकारी नियुक्त किये जाते हैं। इस प्रकार सरकार द्वारा लिए गये अनेक महत्वपूर्ण निर्णयों मे योजना आयोग का सहयोग होता है तथा योजना आयोग द्वारा लिए गये अनेक महत्वपूर्ण निर्णयो मे सरकारी अधिकारियो का सहयोग होता है। इस प्रकार विशेषज्ञों के आदान प्रदान से सरकार तथा योजना आयोग के निर्णयो मे विवाद की सम्भावना बहुत कम हो जाती है।

(३) सांख्यिकीय तथ्य—पचवर्षीय योजनाओं के प्रारूप तैयार करने तथा

अनेक क्षेत्रो के विकास सम्बन्धी निर्णय लेने मे साख्यिकीय तथ्यो की नियमित रूप मे आवश्यकता पडती है। योजना आयोग यह तथ्य केन्द्रीय साख्यिकीय सगठन (Central Statistical Organisation) से प्राप्त करता है। यह सगठन भारत सरकार द्वारा १६५० मे ही बनाया गया था। भारत सरकार के साख्यिकीय सलाहकार योजना आयोग के पदेन सदस्य होते हैं। इस प्रकार योजना आयोग और साख्यिकीय सगठन मे नियमित सहयोग रहता है।

इतना ही नही, योजना आयोग का साख्यिकीय तथा सर्वेक्षण विभाग मूल रूप मे साख्यिकीय सगठन का ही एक भाग है जिसके मुख्य अधिकारी भी साख्यिकीय सगठन के ही मुख्य अधिकारी हैं। कुछ वर्ष से केन्द्रीय साख्यिकीय सगठन का कार्यालय भी योजना भवन मे ही स्थापित कर दिया गया है अत यह सहयोग और अधिक सरल हो गया है।

(४) **आयोग के अधिकारी**—योजना आयोग के अधिकाश अधिकारी भारत सरकार अथवा राज्य सरकारो के विभिन्न विभागो से ही नियुक्त किये जाते हैं। इससे योजना आयोग तथा केन्द्र एव राज्य सरकारो मे आपसी सहयोग स्थापित होने मे बहुत सरलता रहती है क्योकि इनके अनेक अधिकारी व्यक्तिगत स्तर पर एक दूसरे से परिचित हो जाते हैं तथा एक दूसरे की नीतियो को आपसी विचार-विमर्श द्वारा समझने लगते हैं।

(५) **प्रशिक्षण व्यवस्था**—केन्द्रीय तथा राज्य अधिकारियो को आर्थिक नियोजन की समस्याओ तथा प्रक्रियाओ से अधिक परिचित कराने के लिए योजना आयोग द्वारा समय-समय पर प्रशिक्षण कार्यक्रमो का आयोजन किया जाता है। इन कार्यक्रमो म सरकारी अधिकारियो को प्रशिक्षण दिया जाता है। कभी-कभी सरकार द्वारा आयोजित प्रशिक्षण कार्यक्रमो मे भी योजना आयोग द्वारा सहयोग दिया जाता है। इस प्रकार योजना आयोग के अधिकारियो को सरकारी अधिकारियो के सम्पर्क मे आने का अवसर मिलता है और उन्हे एक दूसरे की समस्याओ को समझने का अवसर मिलता है।

राज्य, केन्द्र तथा योजना आयोग
[STATES, CENTRE AND PLANNING COMMISSION]

राज्य सरकारो, केन्द्र सरकार तथा योजना आयोग में आपसी तालमेल स्थापित करने के लिए भी कुछ व्यवस्थाएँ की गयी हैं जो निम्नलिखित हैं

(१) राष्ट्रीय विकास परिषद्

(National Development Council)

भारत मे सघीय शासन है जिसमे केन्द्रीय सरकार है, राज्य सरकारें हैं तथा केन्द्र शासित प्रदेश हैं। ऐसी व्यवस्था मे आर्थिक नियोजन इस ढग से करना पडता है कि सारे देश के लिए जो योजना बने उसमे केन्द्र तथा राज्यो की पूरी पूरी सहमति हो। योजना आयोग की स्थापना भारत सरकार द्वारा की गयी थी और वह अपने कार्यों के लिए भारत सरकार के प्रति ही उत्तरदायी है। अत एव ऐसी व्यवस्था करना

आवश्यक था जिससे राज्यों तथा केन्द्र में उचित तालमेल हो और योजना सही अर्थों में राष्ट्रीय योजना बन सके। इस समस्या का समाधान करने के लिए राष्ट्रीय विकास परिषद् की स्थापना की गयी है।

स्थापना—भारतीय योजना आयोग ने प्रथम योजना तैयार करते समय ही यह अनुभव किया था कि जब देश में राज्य सरकारों को अपने कार्यक्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता है तब उसमें एक ऐसा संगठन अवश्य होना चाहिए जिसके तत्वावधान में प्रधान मन्त्री तथा राज्यों के मुख्य मन्त्री आपस में बैठकर योजना की समस्याओं के बारे में विचार-विमर्श कर सकें।

अतः योजना आयोग ने प्रथम योजना के मसौदे में ही राष्ट्रीय विकास परिषद् की स्थापना का सुझाव दिया था। तदनुसार अगस्त १९५२ में भारत सरकार द्वारा इस परिषद् की स्थापना की गयी।

कार्य (Functions)—राष्ट्रीय विकास परिषद् एक सलाह देने तथा समीक्षा करने वाला संगठन है जिसका कार्य योजना बनाने में सहयोग देना तथा भारत के विभिन्न भागों का सन्तुलित आर्थिक विकास प्रोत्साहित करना है।

संक्षेप में इसके कार्य निम्नलिखित हैं :

(i) समीक्षा—समय-समय पर राष्ट्रीय योजना की समीक्षा करना।

(ii) नीति निर्धारण—राष्ट्रीय विकास को प्रभावित करने वाली सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं पर विचार करना, तथा

(iii) लक्ष्य प्राप्ति के लिए सुझाव—राष्ट्रीय योजना में निर्धारित उद्देश्यों तथा लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सुझाव देना। इन सुझावों में निम्नलिखित समस्याओं सम्बन्धी विचार बहुत महत्वपूर्ण हैं :

- (क) जनता का सक्रिय सहयोग किस प्रकार प्राप्त किया जाय?
- (ख) प्रशासनिक सेवाओं को किस प्रकार अधिक कुशल बनाया जाय?
- (ग) कम विकसित भागों तथा समाज के पिछड़े हुए वर्गों का अधिकतम विकास करना, तथा
- (घ) देश के विकास के लिए आर्थिक साधनों की व्यवस्था करना।

वास्तव में इन सब समस्याओं के समाधान से ही देश का आर्थिक विकास तेजी से हो सकता है। यह समस्याएँ जटिल भी हैं अतः इन पर विचार के लिए अधिक योग्य तथा अनुभवी व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। इसी दृष्टि से परिषद् की सदस्यता का निर्धारण किया गया है।

परिषद् की सदस्यता

राष्ट्रीय विकास परिषद् के निम्नलिखित व्यक्ति सदस्य हैं :

(i) भारत के प्रधान मन्त्री।

(ii) सभी राज्यों के मुख्य मन्त्री।

(iii) योजना आयोग के सदस्य।

(iv) राज्यों में जो मन्त्री योजना तथा वित्त का कार्य भार सम्हालते हैं उन्हें

परिषद् की बैठकों में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया जाता है। कभी-कभी भारत सरकार के उन मन्त्रियों को भी बैठक में भाग लेने के लिए आमन्त्रित कर लिया जाता है जिनके विभाग से सम्बन्धित समस्याओं का परिषद् की बैठक में विचार होता है।

"इस प्रकार राष्ट्रीय विकास परिषद् एक अत्यन्त उच्चस्तरीय सगठन है जिसमे देश के कणधार आपसी विचार विमर्श द्वारा देश के विकास के लिए नीति निर्धारित करते हैं तथा उस नीति को सफलता के लिए मार्ग दर्शन करते हैं।"

राष्ट्रीय विकास परिषद् ने योजना के अतिरिक्त समय-समय पर आर्थिक विकास सम्बन्धी अन्य विशेष समस्याओ पर विचार किया है। यह समस्याएँ (i) भूमि सुधार, (ii) मूल्य नीति, (iii) खाद्यान्न नीति (iv) रोजगार नीति, (v) सामुदायिक विकास परियोजनाएँ तथा राष्ट्रीय विकास सेवा, (vi) लोक क्षेत्र, तथा (vii) मानवी शक्ति से सम्बन्धित हैं। परिषद् ने समय-समय पर कर नीति के बारे मे महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। इन सबके परिणामस्वरूप देश के आर्थिक विकास के लिए एक सन्तुलित नीति अपनाने मे सहायता मिली है और राज्यो की आर्थिक नीतियों मे कुछ सहयोग स्थापित हो सका है।

(२) कार्यक्रम सलाहकार
(Programme Advisors)

प्रथम योजना के समय ही योजना आयोग ने यह अनुभव किया कि राज्यो मे विकास योजनाओ की सफलता का अनुमान लगाने के लिए कोई साधन उपलब्ध नहीं है। योजनाओं का सचालन अनेक बातो पर निर्भर करता है—ठीक समय पर ठीक मात्रा मे धन उपलब्ध है या नही, प्रशासनिक सगठन की कुशलता कैसी है, योजना सम्बन्धी नीतियाँ तथा रीतियाँ पर्याप्त प्रभावशाली हैं या नहीं तथा उनके सचालन में क्या कठिनाइयाँ हैं? इन सब बातों की सही जानकारी पत्र-व्यवहार से नही हो सकती। अत यह अनुभव किया गया कि सरकार के पास ऐसा कोई साधन होना चाहिए जिससे विभिन्न प्रदेशो की आर्थिक स्थिति के बारे मे सही-सही सूचना मिलती रहे।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए १९५२ में तीन सलाहकारो की नियुक्ति की गयी। यह सलाहकार जिन्हें कार्यक्रम प्रशासन सलाहकार कहा जाता है बहुत वरिष्ठ एव अनुभवी व्यक्ति होते हैं जिन्हे आर्थिक प्रशासन का काफी ज्ञान होता है। इनकी सख्या अनेक बार चार या पाँच भी हुई है।

यह सलाहकार नियमित रूप मे राज्यों का दौरा करते हैं, राज्यो के वरिष्ठ अधिकारियो से मिलते हैं तथा उनसे आर्थिक नियोजन तथा विकास सम्बन्धी समस्याओ पर विचार विमर्श करते हैं। अपने विचार-विमर्श के समय यह प्रशासन, वित्त तथा नियोजन मे जन सहयोग की समस्याओं पर विशेष ध्यान देते हैं। राज्यो के प्रशासनिक अधिकारियो से बातचीत के पश्चात् यह सलाहकार योजना आयोग को

अपनी रिपोर्ट देते हैं जिसमें विभिन्न क्षेत्रों की समस्याएँ तथा उनके समाधान के लिए सुझाव दिये जाते हैं।

प्रत्येक कार्यक्रम सलाहकार के लिए एक क्षेत्र निर्धारित किया जाता है जिसकी समस्याओं का अध्ययन कर वह रिपोर्ट देता है। इन रिपोर्टों के आधार पर ही भारत सरकार तथा योजना आयोग द्वारा आर्थिक नियोजन सम्बन्धी नीतियाँ निश्चित की जाती हैं और उनमें सुधार किये जाते हैं।

(३) योजनाओं पर विचार-विमर्श—जिस समय कोई पंचवर्षीय योजना बनानी होती है, उसमें काफी समय पूर्व ही योजना आयोग विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों (कृषि, उद्योग, परिवहन आदि) के लिए कार्यकारी दल नियुक्त कर देता है। यह दल अपने-अपने क्षेत्र की समस्याओं पर गहराई से विचार कर अपनी रिपोर्ट देते हैं। राज्य सरकारों तथा केन्द्रीय सरकार के विभिन्न मन्त्रालयों से भी अपने-अपने क्षेत्र से सम्बन्धित आर्थिक विकास के प्रस्तावों की माँग की जाती है। इन प्रस्तावों पर आयोग के सदस्यों तथा सरकारी प्रतिनिधियों में आपस में विचार होता है। इस सारे विचार-विमर्श से कुछ निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न किया जाता है और योजना का मसौदा तैयार किया जाता है।

योजना के मसौदे को जनता में प्रसारित किया जाता है और उस पर जनता तथा विशेषज्ञों का मत लिया जाता है। इस मत को ध्यान में रखकर योजना का अन्तिम स्वरूप तैयार कर प्रकाशित कर दिया जाता है। इस प्रकार योजना को अन्तिम रूप प्रदान करने से पहले अनेक स्तरों पर सम्बन्धित व्यक्तियों से विचार-विमर्श किया जाता है।

संसद और योजना आयोग
(PARLIAMENT AND PLANNING COMMISSION)

योजना आयोग जो भी योजना बनाता है उसे अन्तिम स्वीकृति संसद द्वारा दी जाती है और संसद की स्वीकृति के पश्चात् ही योजना को वैधानिक स्वरूप प्राप्त होता है। इसी प्रकार योजना की प्रगति के बारे में भी समय-समय पर संसद में विवाद होता रहता है जिससे योजना की उपलब्धियों तथा कमियों का ज्ञान होता है। इस प्रकार संसद और योजना आयोग को निरन्तर सम्पर्क में रहना पड़ता है जिसका अनुमान निम्नलिखित तथ्यों से लग सकता है

(१) निर्माण—योजना के निर्माण से पूर्व अनेक बार संसद की कुछ समितियाँ नियुक्त की जाती हैं जो अलग-अलग विषयों पर अपने सुझाव देती हैं। योजना को अन्तिम रूप देते समय इन सुझावों का ध्यान रखा जाता है।

संसद की समितियों के अतिरिक्त प्राय सभी विरोधी दलों के संसद सदस्यों को योजना सम्बन्धी सुझाव देने के लिए आमन्त्रित किया जाता है। योजना को अन्तिम रूप देते समय इनके सुझावों का भी ध्यान रखा जाता है।

(iii) योजना परियोजना समिति (The Committee on Plan Projects)

शाखाएँ—योजना आयोग में निम्नलिखित कार्यों की देखभाल के लिए शाखाएँ हैं :

(i) प्रशासन (Administration),

(ii) सामान्य समन्वय (General Co-ordination),

(iii) सूचना (Information),

(iv) प्रचार और प्रकाशन (Publicity and Publications),

(v) संगठन तथा प्रणालियाँ (Organization and Methods),

(vi) चार्ट और चित्र (Charts and Maps),

(vii) पुस्तकालय (Library) ।

इससे पूर्व दिए गये विभागों के कार्यों का संक्षिप्त परिचय आगे दिया जा रहा है ।

(क) समन्वयन विभाग

इस विभाग की दो विभाजनाएँ हैं

(i) कार्यक्रम प्रशासन विभाग—इस विभाग की स्थापना १६५५ में की गयी थी । इसके मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं

(अ) केन्द्रीय तथा राज्यों की योजनाओं के आकार निश्चित करने में सहायता करना ।

(आ) राज्यों की योजनाओं का आर्थिक, तकनीकी तथा वित्तीय दृष्टिकोणों से अध्ययन करने में कार्यक्रम सलाहकारों की सहायता करना ।

(इ) राज्यों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों के प्रतिनिधियों का योजना आयोग के सदस्यों से विचार विमर्श आयोजित करना ।

(ई) कार्यक्रम सलाहकारों को सचिवीय सुविधाएँ प्रदान करना तथा उनके द्वारा प्रस्तुत रिपोर्टों का विश्लेषण करना ।

इस प्रकार कार्यक्रम प्रशासन विभाग मुख्य रूप से केन्द्र, राज्य तथा केन्द्र शासित प्रदेशों के योजना कार्यक्रमों को अन्तिम रूप देने में सहायता करता है ।

यह विभाग एक प्रमुख (chief) के निर्देशन में काम करता है जो प्राय एक अर्थशास्त्री होता है ।

(ii) योजना समन्वयन अनुभाग—इस विभाग के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं

(अ) योजना के आरम्भ से अन्त तक की क्रियाओं का समन्वयन कर योजना का अन्तिम स्वरूप तैयार करना ।

(आ) रिपोर्ट—योजना की मासिक रिपोर्ट तथा समीक्षाएँ तैयार करने में सहायता देना ।

यह अनुभाग एक निदेशक (Director) के अन्तर्गत कार्य करता है जो प्राय एक अर्थशास्त्री होता है और जिसे आर्थिक प्रशासन का अनुभव होता है ।

(ख) सामान्य विभाग
(General Divisions)

(i) आर्थिक विभाग—सामान्य विभागों में पहला आर्थिक विभाग है। इस विभाग के तीन अनुभाग हैं - पहला अनुभाग वित्तीय साधनों की समस्याओं पर विचार करता है और इस काम के लिए भारत सरकार के वित्त मन्त्रालय से सम्पर्क रखता है।

दूसरा अनुभाग आर्थिक नीति एवं विकास से सम्बन्धित है। इसका मुख्य कार्य मूल्य तथा मौद्रिक नीति, विकास के लिए सम्यागत परिवर्तन, राष्ट्रीय आय तथा लेखों का विश्लेषण और योजना के तकनीकों पर विचार करना तथा उनमें सुधार के लिए सुझाव देना है।

तीसरा अनुभाग विदेशी विनिमय तथा व्यापार आयात निर्यात की समस्याओं, विदेशी विनिमय की उपलब्धि तथा विदेशी सहायता आदि की देख-रेख करता है।

यह तीनों अनुभाग एक-एक अर्थशास्त्री की प्रमुखता में कार्य करते हैं। इन तीनों के कार्य में समन्वय स्थापित करने का काम एक आर्थिक सलाहकार (Economic Advisor) का है जो इन तीनों का अध्यक्ष होता है।

(ii) परिप्रेक्ष्य नियोजन विभाग—आर्थिक नियोजन का कार्य मुख्यतः दीर्घकालीन होता है। परिप्रेक्ष्य नियोजन विभाग विकास की दीर्घकालीन समस्याओं पर विचार करता है और इन समस्याओं को ध्यान में रखकर योजना के दीर्घकालीन लक्ष्यों का निर्धारण करता है।

इन लक्ष्यों का निर्धारण करने में प्राय निम्नलिखित समस्याओं का अध्ययन करना आवश्यक होता है

(अ) बढ़ता हुआ जीवन स्तर और उपभोग का क्रम।

(आ) कृषि तथा सम्बन्धित क्रियाओं का दीर्घकालीन विकास।

(इ) निर्मित माल, औद्योगिक कच्चा माल, बिजली तथा परिवहन की सुविधाओं की दीर्घकालीन मांग।

(ई) अवसर की समानता के लिए शिक्षा तथा चिकित्सा की सुविधाओं की व्यवस्था।

(उ) भुगतान सन्तुलन, मूल्य निर्धारण, कर व्यवस्था तथा विनियोग के लिए साधन संग्रह।

(ऊ) दीर्घकाल में श्रम शक्ति की आवश्यकता तथा उसके प्रशिक्षण की व्यवस्था।

यह विभाग योजना के दीर्घकालीन लक्ष्यों का निर्धारण करता है और उन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए सभी आवश्यक व्यवस्थाओं सम्बन्धी सुझाव देता है। इस विभाग के कार्य के महत्त्व की दृष्टि से सभी अध्ययन दलों में इसके प्रतिनिधि रखे जाते हैं।

यह विभाग प्राय एक विशेषज्ञ के निदेशन मे काम करता है ।

(iii) **श्रम तथा रोजगार विभाग**—यह विभाग मुख्य रूप मे रोजगार की विभिन्न समस्याओ का अध्ययन करता है। रोजगार की वर्तमान स्थिति, विभिन्न क्षेत्रो मे बेरोजगारो की स्थिति तथा बेरोजगारी की समस्या को हल करने की रीतियो सम्बन्धी अध्ययन इस विभाग द्वारा किये जाते हैं। इसके प्रमुख भी एक साँख्यिकीय विशेषज्ञ हैं ।

(iv) **समक तथा सर्वेक्षण विभाग**—इसकी स्थापना १९५५ मे की गयी। यह विभाग सब कार्य तो योजना आयोग के लिए करता है किन्तु यह केन्द्रीय साँख्यिकीय सगठन (Central Statistical Organisation) का ही एक अग है। यह विभाग नियोजन से सम्बन्धित आँकडे इकट्ठे करता है और समय-समय पर उन्हे प्रकाशित करता रहता है ।

(v) **प्राकृतिक साधन अनुभाग**—यह अनुभाग देश के वन, जल, शक्ति आदि सम्बन्धी साधनो के बारे मे अध्ययन करता है। इसके प्रमुख एक भूगोल विशेषज्ञ हैं तथा अलग अलग क्षेत्रो (भूमि, वन, जल आदि) के अध्ययन के लिए अलग-अलग विशेषज्ञो की सेवाएँ इस अनुभाग को उपलब्ध है ।

(vi) **वैज्ञानिक शोध अनुभाग**—यह अनुभाग देश की शोध सस्थाओ के सम्पर्क मे रहता है। इन सस्थाओ द्वारा किये गये शोध कार्य का किन-किन क्षेत्रो मे क्या उपयोग हो रहा है इसकी जानकारी रखता है । यह इस बात की व्यवस्था भी करता है कि सभी शोध सस्थाओ की क्रियाओ की इसे नियमित जानकारी मिलती रहे।

वैज्ञानिक शोध अनुभाग विभिन्न शोध सस्थानो के कार्य मे समन्वय स्थापित करता है और उनमे सहायता करने का प्रयत्न करता है ।

(vii) **प्रबन्ध तथा प्रशासनिक अनुभाग**—इस अनुभाग के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं

(क) लोक क्षेत्र के उपक्रमो के प्रशासन का अध्ययन ।

(ख) राज्यो तथा जिला स्तर पर नियोजन सम्बन्धी सगठन ।

(ग) प्रशासनिक सुधार सम्बन्धी सुझाव एव कार्य ।

यह अनुभाग एक उप सचिव के निदेशन मे कार्य करता है ।

(ग) विषय विभाग
(Subject Divisions)

(i) **कृषि विभाग**—इसकी स्थापना १९५० म की गयी थी। यह कृषि उत्पादन, लघु सिंचाई, पशु पालन, दुग्ध व्यवसाय, मछली पालन, वन सरक्षण, सहकारिता तथा सामुदायिक विकास की समस्याओ का अध्ययन करता है। इसके प्रमुख एक सयुक्त सचिव हैं ।

(ii) **सिंचाई तथा बिजली विभाग**—इस विभाग की स्थापना १९६२ मे

की गयी। यह सिंचाई तथा बिजली की आवश्यकताओं की जानकारी कर उनकी पूर्ति के लिए आयोजन करता है।

इसमें सिंचाई अनुभाग सिंचाई, बाढ़ नियन्त्रण तथा दल-दल आदि की समस्याओं की देख रेख करता है और बिजली अनुभाग कोयला, जल, तेल तथा अन्य साधनों से उत्पन्न की जाने वाली बिजली तथा उसके वितरण की व्यवस्था करता है। यह विभाग भारत सरकार के सिंचाई तथा बिजली मन्त्रालय से सम्पर्क बनाये रखता है।

(iii) भूमि सुधार विभाग—इस विभाग को सितम्बर १९५३ में स्थापित किया गया। यह भूमि की समस्याओं (स्वामित्व तथा प्रबन्ध आदि) के बारे में राज्य सरकारों को सूचित करता है और उन्हें भूमि सुधार लागू करने में सहायता करता है। यह विभाग भी एक संयुक्त सचिव के नीचे कार्य करता है।

(iv) उद्योग एवं खनिज विभाग—यह विभाग पंचवर्षीय योजनाओं में उद्योग तथा खनिज विकास के कार्यक्रम निर्धारित करने में सहायता करता है। यह उद्योग तथा खनिज पदार्थों की मांग के अनुमान लगाता है और उस मांग की पूर्ति के लिए पूंजी तथा तकनीकी सुविधा की व्यवस्था करने में सहायता करता है। यह विभाग सरकार की औद्योगिक नीति की समीक्षा और सुधार में भी मदद देता है।

यह विभाग एक सलाहकार के निर्देशन में काम करता है जिसके नीचे उद्योग तथा खनिज विभागों के अलग-अलग प्रमुख हैं।

(v) ग्रामीण तथा लघु उद्योग विभाग—यह विभाग लघु तथा कुटीर उद्योगों की समस्याओं का अध्ययन करता है तथा पंचवर्षीय योजनाओं में इन उद्योगों के विकास सम्बन्धी कार्यक्रमों को सम्मिलित करने में सहायता करता है। भारत में लघु उद्योगों के विकास के लिए जो मण्डल स्थापित किए गये हैं, यह विभाग उनकी नीतियों में समन्वय स्थापित करने में भी सहायता करता है।

(vi) परिवहन तथा संचार विभाग—यह विभाग रेल, सड़क तथा संचार व्यवस्थाओं की मांग तथा उनके विकास का अध्ययन करता है तथा योजनाओं में इन सुविधाओं सम्बन्धी कार्यक्रम सम्मिलित करने का सुझाव देता है।

(vii) शिक्षा विभाग—यह विभाग शिक्षा सुविधाओं के विकास की योजना बनाता है और उन्हें अलग अलग चरणों में कार्यान्वित करने का सुझाव देता है। यह शिक्षा पर किये जाने वाले व्यय तथा शिक्षा नीतियों में परिवर्तन सम्बन्धी मार्ग दर्शन भी करता है।

(viii) स्वास्थ्य विभाग—यह विभाग चिकित्सा सम्बन्धी शिक्षा, मृत्यु शमन तथा महामारियों को रोकने की योजनाओं सम्बन्धी कार्य करता है और उनके पालन की व्यवस्था करता है।

(ix) आवास विभाग—यह विभाग नगर नियोजन, आवास तथा प्रादेशिक नियोजन की देख-रेख करता है। यह विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों जैसे औद्योगिक श्रमिक, बागान में कार्यशील श्रमिक तथा विभिन्न वर्गों की आय वाले व्यक्तियों के लिए आवास की सुविधाओं में वृद्धि के लिए योजना बनाता है। इन योजनाओं में सस्ते मकानों के नमूने तैयार करना भी शामिल है।

यह विभाग निर्माण लागत तथा मकान बनाने के साज व सामान के बारे में शोध भी करता है।

(x) समाज कल्याण विभाग—इस विभाग का काम समाज के पिछड़े हुए वर्गों के विकास के लिए स्कीम बनाना तथा इन योजनाओं को पूरा करने के लिए रकम निर्धारित करना है। यह विभाग इन योजनाओं के सफल सचालन की देख-रेख भी करता है।

(घ) विशिष्ट विकास कार्यक्रमों से सम्बन्धित विभाग
(Divisions Related with Distinct Developments Programmess)

(i) ग्राम्य कार्य विभाग—यह विभाग ग्रामों में सडकें, तालाब, बाध, भूमि कटाव रोकने आदि के कार्यक्रम निश्चित करता है तथा उनके सचालन की उचित व्यवस्था करता है। अप्रैल १९६१ में ग्राम्य विकास के सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए एक समिति बनायी गयी थी जो इस विभाग को उचित सलाह देती रहती है।

(ii) जन सहयोग विभाग—योजनाओं में अधिक से अधिक जन सहयोग प्राप्त करने के लिए १९५१ में भारत सेवक समाज की स्थापना की गयी थी। जन सहयोग विभाग भारत सेवक समाज से सम्पर्क रखता है। इस विभाग ने लोक कार्य क्षेत्र कार्यक्रम भी आरम्भ किया है जिसका लक्ष्य प्रशिक्षित व्यक्तियों का एक समूह बनाना है जो योजना के कार्यक्रमों को जनता तक पहुँचा सके। इस विभाग द्वारा स्वय सेवी सगठनों को शोध तथा प्रशिक्षण के लिए आर्थिक सहायता दी गयी है।

कॉलिजों तथा विश्वविद्यालयों में प्लानिंग फोरम (Planning Forums) इसी विभाग के सुझाव पर स्थापित किये गये हैं। इनका उद्देश्य भी शिक्षित वर्ग में योजनाओं के प्रति जागृति उत्पन्न करना है।

(ङ) सम्बद्ध सगठन
(Associated Agencies)

(i) कार्यक्रम मूल्याकन सगठन (Programme Evaluation Organisation)—इस सगठन की स्थापना १९५२ में की गयी। इसके मुख्य कार्य निम्न-लिखित हैं

(अ) सामुदायिक विकास योजनाओं के उद्देश्यों की सफलता के विषय में सभी सम्बन्धित व्यक्तियों को जानकारी देना।

(आ) विस्तार की जो रीतियाँ प्रभावशाली रही हैं और जो प्रभावशाली नहीं रही हैं उनकी जानकारी देना।

(इ) यह स्पष्ट करना कि ग्रामीणो द्वारा कुछ प्रणालियो को क्यो स्वीकार किया जा रहा है तथा अन्य को क्यो अस्वीकार किया जा रहा है।

(ई) भारत की संस्कृति और अर्थ तन्त्र पर सामुदायिक विकास योजना कार्यक्रम के प्रभाव का संकेत देना।

इस प्रकार कार्यक्रम मूल्याकन सगठन भारत मे सामुदायिक विकास कार्यक्रमो की सफलता तथा असफलता और उसके कारणो पर प्रकाश डालता है तथा उन्हे सफल बनाने के लिए निदेश देता है।

(ii) शोध कार्यक्रम समिति (Research Programmes Committee)—यह समिति देश की विभिन्न सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओ का अध्ययन करने के लिए विद्वानो को अनुदान देती है। कृषि, उद्योग, भूमि सुधार, श्रम समस्याएँ तथा अनेकानेक समस्याओ पर विभिन्न विश्वविद्यालयो द्वारा अध्ययन किये गये हैं जिनकी रिपोर्टें शोध कार्यक्रम समिति द्वारा प्रकाशित की गयी हैं। इस प्रकार की शोध से आर्थिक समस्याओ का सही स्वरूप सामने आता है और भविष्य के आर्थिक नियोजन मे सहायक होता है।

इसके अतिरिक्त बम्बई विश्वविद्यालय, पूना विश्वविद्यालय, आर्थिक विकास सस्थान दिल्ली, भारतीय साख्यिकीय सस्थान तथा राष्ट्रीय व्यावहारिक आर्थिक शोध परिषद् को आर्थिक नियोजन सम्बन्धी अनुसन्धान केन्द्र मान लिया गया है और इस कार्य के लिए इन्हे नियमित अनुदान दिये जाते हैं।

एक बृहत् संस्था

भारतीय योजना आयोग एक वृहदाकार सस्था है। इसमे लगभग ३,००० व्यक्ति काम करते हैं जबकि १९५१-५२ मे इसके कर्मचारियो की सख्या २४४ थी। योजना आयोग पर भारत सरकार का वार्षिक खर्च १९५०-५१ मे लगभग ८.६ लाख रुपए था जो बढ कर १९७१-७२ मे लगभग १ ६ करोड रुपये हो जाने की आशा है।

इन अको से योजना आयोग के निरन्तर बढते हुए विस्तार का पता चलता है। उसका बढता हुआ आकार और खर्च इस बात का द्योतक है कि उसके कार्य क्षेत्र मे नियमित वृद्धि हुई है। एक विकासशील देश मे आर्थिक नियोजन का कार्य सरल नही है। अनेक क्षेत्रो की माँगें बढ रही हैं जिनमे समन्वय करना आवश्यक है। अनेक क्षेत्रो की समस्याएँ बढ रही हैं और नयी समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं जिनका समाधान करना आवश्यक है।

योजना आयोग सब क्षेत्रो की माँगो तथा समस्याओ का अध्ययन करता है, उन पर विचार-विमर्श करने के लिए विभिन्न वर्गों के व्यक्तियो, सस्थाओ तथा अधिकारियो को आमन्त्रित करता है और इस प्रकार सरकार के अन्तिम निर्णय मे अधिक से अधिक व्यक्तियो को सहयोगी और भागीदार बनाता है। प्रजातन्त्र मे "बहुजन हिताय बहुजन सुखाय" की सिद्धि के लिए अधिक से अधिक व्यक्तियो को राष्ट्रीय

विकास मे भागीदार बनाना आवश्यक है। भारतीय योजना आयोग इस दिशा मे पूरी तरह सक्रिय प्रतीत होता है।

अभ्यास प्रश्न

१ भारतीय योजना आयोग की स्थापना क्यो की गयी ? उसके कार्यों का विवेचन कीजिए।
२ योजना आयोग की रचना का विवेचन कीजिए। (सकेत सदस्यता तथा उनके कार्य बतला दीजिए)
३ भारतीय योजना आयोग का केन्द्रीय सरकार से क्या सम्बन्ध है ? इस सम्बन्ध पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए।
४ भारतीय योजना आयोग तथा राज्य सरकारो एव ससद के सम्बन्धो की विवेचना कीजिए।
५ राष्ट्रीय विकास परिषद् क्या है ? उसके क्या कार्य हैं ? भारतीय आर्थिक नियोजन प्रणाली मे उसका क्या स्थान है।
६ योजना आयोग के प्रमुख विभागो मे से किन्ही तीन का मूल्याकन कीजिए।
७ भारतीय योजना आयोग का देश के आर्थिक विकास मे क्या स्थान है ? उचित मूल्याकन कीजिए।

८ भारत में आर्थिक नियोजन की प्रक्रिया

(PROCESS OF PLANNING IN INDIA)

योजना—पचवर्षीय ही क्यों ?

कुछ समय पूर्व तक भारत की आर्थिक नियोजन सम्बन्धी क्रियाएँ मध्यकालीन योजनाओं पर आधारित रही हैं। प्रारम्भ से ही भारत में आर्थिक नियोजन के लिए पाँच वर्ष का समय चुना गया। इसका मुख्य कारण यह था कि भारत में संसद तथा राज्यों की विधान सभाओं के चुनाव पाँच-पाँच वर्ष में होते हैं। प्रथम साधारण चुनाव १९५२ में हुए और पहली पचवर्षीय योजना उससे पहले वर्ष अर्थात् १९५१ में तैयार की गयी। इस प्रकार प्रत्येक योजना चुनाव के पहले वर्ष तैयार होती रही है।

यह क्रम बहुत सही प्रतीत नहीं होता। उचित यह है कि नयी सरकार अपने कार्यकाल के पाँच वर्ष के लिए योजना बनाये और उसे अपने कार्यकाल में पूरा कर ले। १९६५-६६ के पश्चात् तीन वर्ष तक नियोजन-अवकाश का समय रहा और चतुर्थ योजना अप्रैल १९६९ से लागू हुई। इसी बीच लोक सभा के चुनाव (१९७१ में) हो गये। अनेक विधान सभाओं में भी मध्यावधि चुनाव होने से योजना और नयी सरकार के पारस्परिक सम्बन्ध का सिलसिला टूट गया है। इस प्रकार योजनाओं के पचवर्षीय होने का मुख्य आधार ही समाप्त हो गया है।

योजनाओं के आधार

भारत की पचवर्षीय योजनाओं की प्रक्रिया या तकनीकों का अध्ययन करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि भारत में आर्थिक नियोजन का सारा ढाँचा चार मुख्य बातों का ध्यान रखकर किया जाता है। वह मुख्य आधार निम्नलिखित हैं :

(१) **केन्द्र तथा राज्य**—भारत में संघीय शासन प्रणाली है जिसमें कृषि, सिंचाई, बिजली, शिक्षा, स्वास्थ्य, तथा अन्य सामाजिक सेवाएँ, लघु उद्योग, सड़क परिवहन तथा छोटे बंदरगाहों का विकास राज्यों का उत्तरदायित्व है। इसके साथ

हो उद्योग, रेलें, राष्ट्रीय सड़कें, बड़े बदरगाह, जहाजरानी, नागरिक उड्डयन, सचार, वित्तीय सस्थाएँ और मौद्रिक तथा कर नीतियो का सचालन केन्द्रीय सरकार के दायित्व क्षेत्र मे है। इस प्रकार सरकार को योजना बनाते समय केन्द्र तथा राज्यो की आर्थिक विकास नीतियो मे समन्वय स्थापित करना पड़ता है ताकि राज्यो का कोई महत्वपूर्ण कार्यक्रम योजना म शामिल होने से रह न जाय।

(२) प्रजातन्त्र—दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भारत एक प्रजातन्त्रीय देश है जिसम जनमत का अत्यधिक महत्त्व है। अत योजना इस प्रकार की बननी चाहिए जिसमे जनता की आशाओ और आकाक्षाओ का अधिकतम ध्यान रखा गया हो ।

(३) मिश्रित अर्थ व्यवस्था—भारत म प्रजातन्त्रीय शासन के साथ साथ समाजवादी व्यवस्था लाने का भी निश्चय किया गया है। अत देश मे लोक क्षेत्र तेजी से बढ रहा है। दूसरी ओर, आर्थिक तन्त्र का अधिकाश भाग जैसे कृषि, व्यापार, लघु उद्योग, भवन निर्माण तथा अधिकाश बड़े उद्योग निजी साहस के हाथ मे है। इस प्रकार जनता की आर्थिक स्वतन्त्रता बनाये रखना भी आवश्यक है और आर्थिक सकेन्द्रण को कम करना भी महत्वपूर्ण है ताकि गरीबी अमीरी का भेद कम हो सके। इन दोनो विपरीत परिस्थितियो (या व्यवस्थाओ) म उचित सन्तुलन बनाये रखना कुछ कठिन है किन्तु भारतीय नियोजन की जिम्मेदारी उठाने वालो को यह काम करना पडता है।

(४) शक्तिशाली सामाजिक रुझान—भारतीय विधान म सब व्यक्तियो के के लिए समान अवसर देने और समाज के सभी वर्गों के कल्याण का व्रत लिया गया है। अत भारतीय योजनाओ म सामाजिक हितो का विशेष ध्यान रखा जाना आवश्यक है। इस दृष्टि स अनेक बार कई ऐसी योजनाएं बनायी जाती है जो आर्थिक दृष्टि से विशेष लाभदायक नहीं होती किन्तु सामाजिक दृष्टि से उनका बहुत अधिक महत्त्व होता है।

दीर्घकाल का महत्त्व

यद्यपि भारत की योजना पचवर्षीय होती हैं किन्तु अनेक योजनाएँ या स्कीम ऐसी होती हैं जिन्हे पाँच वर्ष म पूरा नही किया जा सकता। उदाहरणत एक इस्पात का कारखाना पाँच वर्ष म नही लगाया जा सकता, एक बहुमुखी सिंचाई योजना पाँच वर्ष म पूरी नही की जा सकती। इसीलिए अब दीघकालीन आयोजन को महत्त्व दिया जा रहा है। उद्योग, बड़ी सिंचाई योजनाएँ तथा मानवी शक्ति के प्रशिक्षण के कार्यक्रम ऐसे हैं जिनके लिए दीर्घकालीन योजनाएँ बनानी पडती हैं। इसीलिए चतुर्थ योजना म अनेक अनुमान १९८० ८१ तक के लगाये गये हैं।

नियोजन की सामान्य प्रक्रिया

पचवर्षीय योजना को तैयार करने म एक साथ तीन बातो का सही ज्ञान करना आवश्यक होता है

(i) भूतकालीन प्रवृत्तियाँ और सफलताएँ—पिछले वर्षों में योजना के सचालन और पालन मे क्या कठिनाइयाँ रही हैं तथा किन दिशाओ मे कितनी सफलता मिली है।

(ii) वर्तमान की मुख्य समस्याओं का अनुमान।

(iii) भविष्य की प्रगति के लिए उपाय तथा रीतियाँ।

पचवर्षीय भविष्य के विकास के लिए एक स्कीम होती है किन्तु भविष्य में किन क्षेत्रो मे कितना विकास करना आवश्यक है यह पिछले विकास तथा वर्तमान स्थिति पर निर्भर करता है। इन सबकी जानकारी के लिए अनेक सस्थाओ तथा सगठनो का सहयोग प्राप्त करना पडता है।

तीन मुख्य स्रोत

भूतकालीन प्रवृत्तियो तथा वर्तमान समस्याओ की जानकारी के तीन मुख्य स्रोत हैं

(i) योजना आयोग (Planning Commission)

(ii) केन्द्रीय सांख्यिकीय सगठन (Central Statistical Organisation)

(iii) रिजर्व बैंक आफ इण्डिया

इन तीनो सगठनों द्वारा समय-समय पर अनेक समस्याओं से सम्बन्धित रिपोर्टें तथा आँकडे प्रकाशित किये जाते हैं जो भविष्य मे नियोजन के लिए आधार का काम कर सकते हैं।

२ साधनों का विकास

पचवर्षीय योजनाओं के लिए विश्वसनीय आधार की व्यवस्था करने के लिए विभिन्न योजनाओ मे निम्नलिखित कदम उठाये गये हैं

(i) राष्ट्रीय लेखा प्रणाली का विकास—केन्द्रीय सांख्यिकीय सगठन १९४८-४९ से भारत की राष्ट्रीय आय के अनुमान लगा कर प्रकाशित करता है। कुल पूँजी निर्माण सम्बन्धी अनुमान भी लगाये जाते हैं। कुछ राज्यों मे आर्थिक एव सांख्यिकीय निदेशालय राज्यों की वार्षिक आय के आँकडे भी प्रकाशित करने लगे हैं।

रिजर्व बैंक तथा केन्द्रीय सांख्यिकीय सगठन द्वारा बचत तथा विनियोग सम्बन्धी अनुमान भी लगाये जाते हैं।

(ii) कृषि, उद्योग तथा अन्य अकों मे सुधार—अब देश की विभिन्न सस्थाएँ तथा सगठन खेती, उद्योग, मूल्य स्तर तथा वित्त सम्बन्धी आधुनिकतम अक सग्रह कर प्रकाशित करने लगे हैं जिनका आर्थिक नियोजन के लिए बहुत अधिक महत्त्व है।

(iii) निजी क्षेत्र सम्बन्धी अक—पहली दो योजनाओं की एक बहुत बडी कठिनाई यह थी कि निजी क्षेत्र की वास्तविक स्थिति सम्बन्धी आँकडे उपलब्ध नहीं थे। अब रिजर्व बैंक द्वारा निजी कम्पनियों के स्थिति विवरण का विश्लेषण किया जाता है तथा कम्पनी कानून प्रशासन विभाग द्वारा आँकडे सग्रह किये जाते हैं। इन साधनो से निजी क्षेत्र की स्थिति का पर्याप्त ज्ञान होने लगा है।

(iv) शोध एवं मूल्यांकन—पहली योजना काल मे ही योजना आयोग के अन्तर्गत एक शोध कार्यक्रम समिति की स्थापना की गयी थी। इस समिति के प्रयत्नो से देश के विभिन्न भागो सम्बन्धी अनेक सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओ का अध्ययन किया गया है, इन समस्याओ का अध्ययन विश्वविद्यालयो तथा शोध संस्थानो मे किया गया है और इनसे देश की अनेक समस्याओ के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो सका है।

(v) साधनों का सर्वेक्षण—आर्थिक नियोजन का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष "साधनों की जानकारी" करना है। इसके लिए अनेक संस्थाओ की स्थापना या विकास किया गया है जिनमे से कुछ निम्नलिखित हैं

(क) केन्द्रीय जल तथा शक्ति आयोग (Central Water and Power Commission) जो देश के जल साधनो का सही अनुमान लगाता है।

(ख) भारतीय भू-वैज्ञानिक सर्वेक्षण (Geological Survey of India)

(ग) खनिज संस्थान (Bureau of Mines)

भारतीय भू-वैज्ञानिक सर्वेक्षण देश की भूमि तथा चट्टानो आदि के बारे मे जानकारी करता है और खनिज संस्थान नयी खानो की खोज और पुरानी खानो के विकास के सुझाव देता है।

(घ) तेल तथा प्राकृतिक गैस आयोग (Oil and Natural Gas Commission)—यह भारत के विभिन्न भागो मे पैट्रोल तथा प्राकृतिक गैस की खोज का कार्य करता है।

यह सब संस्थाएं अपने-अपने क्षेत्र मे अनुसन्धान करती हैं और समय समय पर अनुसन्धान सम्बन्धी रिपोर्टें प्रकाशित करती हैं।

३ आर्थिक विकास की क्षमता का अनुमान

पचवर्षीय योजना के बनाने का काम दो या तीन वर्ष मे होता है। योजना बनाने मे तीन बातो पर ध्यान दिया जाता है (i) जन संख्या मे सम्भावित वृद्धि, (ii) आर्थिक विकास की वांछित दर, (iii) विकास की प्राथमिकताओ तथा दिशाओ सम्बन्धी सामान्य विचार। दूसरी और तीसरी योजनाओ मे विकास की ५ प्रतिशत वार्षिक दर निर्धारित की गयी थी।

जन संख्या, विकास की दर तथा प्राथमिकताएँ निर्धारित करने के बाद पूँजी तथा विनियोग की आवश्यकताओ का निर्धारण किया जाता है। यह काम विभागीय तथा प्रादेशिक अध्ययन के आधार पर होता है। यह देखा जाता है कि विकास के लिए कितने वित्तीय साधनो की आवश्यकता है, कितने वित्तीय साधन उपलब्ध हैं तथा विदेशी विनिमय की कितनी आवश्यकता होगी?

अनुमान कौन लगाता है? निजी क्षेत्र के लिए अनुमान रिजर्व बैंक द्वारा लगाये जाते हैं और लोक क्षेत्र के लिए अनुमान योजना आयोग तथा वित्त मन्त्रालय

द्वारा लगाये जाते हैं। योजना आयोग राज्यो को भी उन मान्यताओं से परिचित करवा देता है जिनको आधार मान कर उन्हे अपने वित्त साधनो का अनुमान लगाना चाहिए।

यह अनुमान भी लगाया जाता है कि केन्द्र तथा राज्यो द्वारा अतिरिक्त करों से कितनी रकम वसूल होगी तथा कितनी रकम घाटे के बजट से प्राप्त की जा सकेगी। इन सब बातों को ध्यान मे रखकर विभिन्न योजनाओ मे सुधार और परिवर्तन किये जाते है।

योजना को अन्तिम रूप देने से पहले यह अनुमान लगाया जाता है कि किन क्षेत्रो मे विनियोग या लक्ष्यो की कमी या वृद्धि से विकास की दर उच्चतम हो सकती है। इसके अनुसार ही पूँजी विनियोग तथा लक्ष्यों मे परिवर्तन कर दिया जाता है।

४ आर्थिक तथा सामाजिक उद्देश्यों का विचार

एक विकासशील अर्थ-व्यवस्था मे नियोजन का मुख्य उद्देश्य अधिक से अधिक तेजी से आर्थिक विकास करना होता है। परन्तु इसके लिए साधनो का बटवारा करना पडता है कि उपभोग के लिए कितनी रकम निर्धारित होगी तथा कितनी रकम का विनियोग किया जायगा। विकास का ढांचा कैसा होगा, सामाजिक ढांचे मे क्या परिवर्तन किया जायगा तथा साधन सग्रह की योजना क्या होगी ?

सामाजिक या आर्थिक परिवर्तन पहले—सामाजिक और आर्थिक उद्देश्यो तथा लक्ष्यो पर विचार करने के साथ साथ यह भी विचार करना होगा कि आर्थिक विकास को तेज करने के लिए सामाजिक क्रान्ति पहले आनी चाहिए या सामाजिक क्रान्ति की चिन्ता किये बिना आर्थिक प्रगति का क्रम तेजी से चलाते रहना चाहिए।

भारत मे दो आधार रहे हैं—भारत मे योजना का आधार यह रहा है कि आर्थिक क्रान्ति लाने के लिए सामाजिक क्रान्ति की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। अत दो कार्यो को प्राथमिकता दी जाती रही है

(i) कृषि का गहन विकास ताकि खाद्यान्न तथा उद्योगो के लिए कच्चा माल पर्याप्त मात्रा मे मिल सके।

(ii) भारी तथा आधारभूत उद्योगों का विकास ताकि उद्योगो म आत्म-निर्भरता की स्थिति उत्पन्न की जा सके। इसके लिए परिवहन तथा बिजली का उचित स्तर पर विकास आवश्यक है तथा तकनीकी शिक्षा और वैज्ञानिक शोध की अत्यधिक आवश्यकता है।

सीमित साधन—इन प्राथमिकताओं को उचित महत्त्व नही दिया जा सका है क्योकि साधनो की कमी रही है और बटवारा करने पर इनको पर्याप्त प्राप्ति नही हो सकी है। इसलिए रोजगार, वितरण तथा कल्याण के सामाजिक उद्देश्यो को पूरा नही किया जा सका है।

५ लक्ष्यों का निर्धारण

प्रत्येक पचवर्षीय योजना मे पिछली योजना को आधार मानकर लक्ष्य

निर्धारित किये जाते हैं। यह देखा जाना है कि पिछली योजना मे विभिन्न क्षेत्रो के क्या लक्ष्य थ तथा उनकी किस हद तक पूर्ति हुई। यह भी निर्णय किया जाता है कि भविष्य मे किन किन क्षेत्रो के कितने कितने लक्ष्य रखने से आर्थिक विकास अधिकतम होगा।

दुर्बलताएँ—*लक्ष्यो के निर्धारण का जो वर्तमान क्रम है उसमे प्राय तीन* कमियाँ पायी जाती हैं

(i) **असन्तुलन**—प्राय योजना के अतिम वर्ष के लक्ष्यो पर अधिक ध्यान दिया जाता है, बीच के वर्षों सम्बन्धी लक्ष्य लापरवाही से निर्धारित किये जाते हैं। उचित यह है कि सभी वर्षों के लक्ष्यो का उचित रीति से निर्धारण होना चाहिए। इसके बिना योजना के लक्ष्यों की उचित रूप मे पूर्ति होना सम्भव नहीं है।

(ii) **तकनीक की अवहेलना**—जिन परियोजनाओ पर बहुत अधिक रकम खर्च होती है और जिनका प्रसव काल (वह अवधि जिसके बाद उनसे फल मिलने लगें) बहुत लम्बा होता है उनकी प्रारम्भिक स्थिति मे ही गहराई से तकनीकी अध्ययन करना आवश्यक है। इन क्षेत्रो (उद्योग, बिजली, परिवहन, सिंचाई आदि) की आवश्यकताओ का तकनीकी अध्ययन बहुत बारीकी से किया जाना आवश्यक है अन्यथा बाद म आर्थिक, वित्तीय तथा अन्य कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

(iii) **लचक का अभाव**—कभी-कभी कोई स्कीम आरम्भ कर दी जाती है किन्तु उसके सम्बन्ध मे किये गये अनुमान गलत निकलते है। अत उस योजना मे कुछ तकनीकी, आर्थिक या वित्तीय परिवर्तन करने आवश्यक हो जाते हैं। इस प्रकार अनेक बार बहुत सी स्कीमो मे लचक नही होती, उनका काम बन्द हो जाता है और योजना मे पर्याप्त सफलता नहीं मिलती।

निर्धारण—कृषि, उद्योग, बिजली, सिंचाई या परिवहन के लक्ष्य निर्धारित करने मे आवश्यकताओ तथा आकाक्षाओ का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। समाजवादी व्यवस्था, आय मे वृद्धि, रोजगार की सुविधाएँ आदि सभी बातों को आधार मान कर विभिन्न क्षेत्रो की आवश्यकताओ का अनुमान लगाया जाता है। ऐसा करने म अलग-अलग प्रदेशो का ध्यान भी रखा जाता है ताकि विकास की प्रक्रिया मे प्रादेशिक सन्तुलन भी बना रहे।

इस प्रकार लक्ष्यो के निर्धारण मे सरकारी नीति, जनता की आवश्यकताएँ तथा प्रादेशिक सन्तुलन का ध्यान रखना आवश्यक है। इनमे से किसी तत्व की अवहेलना करने पर योजना जनता की योजना नही रह जाती, नौकरशाही की योजना रह जाती है।

(६) **वित्तीय साधन सग्रह**

जब योजना के सभी लक्ष्यो का निर्धारण कर लिया जाता है तो उन लक्ष्यो की पूर्ति के लिए साधन जुटाने की समस्या उत्पन्न हो जाती है। प्रत्येक योजना काल के बारे मे गहराई से अध्ययन किया जाता है कि पाँच वर्ष मे आन्तरिक साधनो तथा

विदेशी सहायता से कितनी रकम जुटाई जा सकती है। इसके साथ ही योजना के लक्ष्यों को आधार मान कर यह देखा जाता है कि कितनी रकम की वास्तव म आवश्यकता है। इन दोनो (उपलब्ध साधनो तथा आवश्यकता) म तालमेल बैठाने की चेष्टा की जाती है।

कुछ कार्यक्रम जो बहुत अनिवार्य नहीं होते उन्हे स्थगित कर दिया जाता है किन्तु अनिवार्य कार्यक्रमो के लिए नय साधनो की खोज की जाती है तथा पुराने साधनो को सबल बनाने के उपाय निकाले जाते हैं।

वित्तीय साधनो की आवश्यकता और उपलब्धि की जानकारी निम्नलिखित दृष्टिकोणो से की जाती है

(i) आन्तरिक साधन— कितने जुटाय जा सकते हैं और विदेशी सहायता कितनी प्राप्त की जा सकती है ?

(ii) लोक क्षेत्र—की आवश्यकता कितनी है तथा निजी क्षेत्र की आवश्यकता क्या है और इन क्षेत्रों म कितनी कितनी रकम आन्तरिक और विदेशी साधनो से प्राप्त की जा सकती है ?

(iii) केन्द्र—की आवश्यकता कितनी है और राज्यों की आवश्यकता क्या है तथा दोनो द्वारा कर और ऋणो से कितनी रकम जुटाई जा सकती है ?

इन सबका निर्धारण करते समय यह ध्यान रखना पड़ता है कि देश मे प्रजातन्त्रवादी व्यवस्था है, आर्थिक विषमता को कम करने की नीति अपनायी गयी है, तथा देश स्वतन्त्र अन्तरराष्ट्रीय नीति अपनाय रखना चाहता है। इन तीनो बातो का समन्वय करना बहुत कठिन है किन्तु ऐसा करने का यथासम्भव प्रयत्न किया जाता है।

नियोजन के चरण
(Stages of Planning)

भारत की पचवर्षीय योजनाएँ अनेक चरणा मे पूरी की जाती हैं जिनका ब्यौरा नीचे दिया जा रहा है

(१) सामान्य नीति—योजना के पहले चरण म योजना की सामान्य नीति निर्धारित की जाती है, यह कार्य योजना आरम्भ होने के तीन वर्ष पहले हाथ मे लिया जाता है। इसके लिए अर्थतन्त्र की सही स्थिति देखी जाती है तथा सामाजिक, आर्थिक और संस्थागत कमजोरियो का अनुमान लगाया जाता है, योजना नीति म इन दुर्बलताओं के अतिरिक्त प्रादेशिक असन्तुलनो का ध्यान रखा जाता है। इन सब बातो के आधार पर नीति सम्बन्धी सुझाव राष्ट्रीय विकास परिषद् के सामने रखे जाते हैं। राष्ट्रीय विकास परिषद् द्वारा विकास की दर तथा अन्य उद्देश्यो का निर्धारण किया जाता है।

(२) योजना के तत्त्वों का निर्धारण—योजना की नीति (उद्देश्य आदि) निर्धारित होने के पश्चात् योजना आयोग द्वारा योजना कार्यक्रमो का निर्धारण करना

होता है। इसके लिए अलग-अलग क्षेत्रो का गहन अध्ययन करने के लिए अनेक अध्ययन दल नियुक्त किये जाते हैं। यह अध्ययन दल अपने अपने क्षेत्र (कृषि, लघु उद्योग, वृहद् उद्योग, परिवहन, बिजली तथा सिंचाई आदि) के लिए पाँच वर्षों मे विकास के कार्यक्रम निर्धारित करते है और अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर देते हैं।

केन्द्र मे जिस प्रकार के अध्ययन दल नियुक्त किये जाते हैं, वैसे ही दल राज्यों के स्तर पर भी नियुक्त किये जाते हैं। इन दलो की रिपोर्टें राज्य सरकारों को मिल जाती हैं, जिन्हें सयुक्त रूप मे व्यवस्थित कर योजना आयोग को भेज दिया जाता है।

इस प्रकार योजना आयोग के पास केन्द्र तथा राज्यो से सम्बन्धित सुझाव आ जाते है जिनम अलग-अलग क्षेत्रो के कार्यक्रमो सम्बन्धी विस्तृत ब्योरा होता है।

(३) योजना का मसौदा—आर्थिक नियोजन का तीसरा चरण है योजना का मसौदा तैयार करना। इस चरण मे अध्ययन दलो तथा राज्य सरकारो से आये हुए प्रस्तावों को मिलाकर एव मसौदा तैयार कर लिया जाता है। मसौदा तैयार करने से पहले राज्य सरकारो के प्रतिनिधियो तथा अध्ययन दलो के सयोजको से पूरी तरह विचार-विमर्श कर लिया जाता है। इस विचार विमर्श के परिणामस्वरूप केवल अत्यन्त अनिवार्य कार्यक्रम ही योजना मे रह जाते हैं जिन्हे प्राथमिकता देकर उस योजना मे शामिल करना आवश्यक है।

इस सारे विचार-विमर्श के पश्चात् योजना का ड्राफ्ट या मसौदा तैयार कर लिया जाता है।

(४) राष्ट्रीय विकास परिषद् द्वारा विचार—प्रत्येक योजना का मसौदा राष्ट्रीय विकास परिषद् के सामने विचार के लिए प्रस्तुत किया जाता है। परिषद् इस पर अपने विस्तृत विचार प्रकट करती है। इन विचारो का मसौदे मे समावेश कर दिया जाता है और मसौदे की अंतिम रूपरेखा तैयार कर ली जाती है। यह रूपरेखा जनता के विचार जानने के लिए प्रकाशित कर दी जाती है।

(५) अन्तिम स्वरूप—योजना के मसौदे पर जनता के विभिन्न वर्ग अपना-अपना मत प्रकट करते हैं। कभी-कभी प्रधान मन्त्री विरोधी दल के सदस्यों को बुला कर उनके विचार भी जानने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार समाज के सभी वर्गों तथा विशेषज्ञों का मत जानने के बाद योजना मे उचित परिवर्तन या सुधार कर दिया जाता है। *यही योजना का अन्तिम स्वरूप है जिसे प्रकाशित कर दिया* जाता है।

इन सब बातो से स्पष्ट है कि अन्तिम रूप ग्रहण करने से पहले प्रत्येक योजना के सभी पक्षों पर काफी विस्तार से विचार विमर्श होता है और इस विचार-विमर्श के बाद उसका जो स्वरूप बनता है वह अधिकतर व्यक्तियो की सहमति प्रकट करता है।

राज्यों की योजना तथा स्थानीय योजनाएँ

प्रत्येक पचवर्षीय योजना मे लगभग आधी रकम राज्यो की योजनाओं का

योग होती है। राज्यो की योजनाओं मे विकास के अत्यन्त महत्वपूर्ण अग जैसे कृषि, लघु उद्योग, सिचाई तथा बिजली, सड़कें तथा सड़क परिवहन, तथा शिक्षा और सामाजिक सेवाएं सम्मिलित हैं। इन क्षेत्रों मे राज्यो की योजनाओं की सफलता पर ही केन्द्रीय सरकार की पूरी योजना की सफलता निर्भर करती है।

स्थानीय योजनाएं जिलों, विकास खण्डों तथा ग्रामो के लिए बनायी जाती हैं। इन योजनाओ मे निम्नलिखित कार्यक्रम सम्मिलित किये जाते हैं -

(i) कृषि, लघु सिचाई, भूमि की रक्षा, वन, पशु पालन तथा दुग्ध व्यवसाय का विकास।

(ii) सहकारी सस्थाओं का विकास।

(iii) ग्रामीण उद्योगो का विकास।

(iv) प्रारम्भिक शिक्षा जिसमे विद्यालयो के भवन आदि बनवाना सम्मिलित है।

(v) ग्रामीण जल प्रदाय योजना तथा ग्रामों को रेल्वे स्टेशनो से मिलाने वाली सड़कों का विकास।

(vi) ग्रामो की जन शक्ति का अधिकतम प्रयोग करने के लिए कार्यक्रम।

इस प्रकार ग्रामों से जिले और जिलो मे राज्य की योजनाएँ बनती हैं और राज्यो की योजना तथा केन्द्रीय कार्यक्रम मिलाकर पूरे देश के लिए योजना तैयार होती है।

वार्षिक योजना तथा बजट

पचवर्षीय योजना के पूरे कार्यक्रमो को वार्षिक कार्यक्रमो मे बाँटा जाता है। प्रति वर्ष सितम्बर मास के आस-पास योजना आयोग द्वारा राज्यो को अगले साल के लिए कुछ सकेत भेज दिए जाते हैं कि किन कार्यक्रमों पर विशेष रूप से ध्यान देना है तथा अगले साल केन्द्र से कितनी आर्थिक सहायता मिलने की सम्भावना है। इन सकेतो के आधार पर ही राज्य सरकारें अपनी एक वर्षीय योजना तैयार करती हैं तथा उन्हें बजट के साथ ही प्रकाशित कर दिया जाता है। यह वार्षिक योजना, राज्य के एक वर्ष के विकास कार्यक्रमो का ब्यौरा होता है जिसे पूरा करने के लिए सभी विभाग अपने-अपने स्तर पर प्रयत्न करते हैं।

योजना को कार्यान्वित करना
(IMPLEMENTATION OF THE PLAN)

इससे पूर्व यह स्पष्ट किया जा चुका है कि योजना आयोग एक सलाहकार संस्था है। यह अपनी सलाह देने से पहले सभी सम्बन्धित वर्गों से विचार विमर्श कर लेता है। सलाह देने के पश्चात् योजना आयोग द्वारा सारा दायित्व अन्य वर्गों को बांट दिया जाता है। योजना को कार्यान्वित करने का दायित्व योजना आयोग का नहीं है।

राज्य—राज्य सरकारें योजना आयोग को योजना बनाने मे सहायता करती है किन्तु योजना को अन्तिम रूप दे दिये जाने के बाद उसको कार्यान्वित करने का भार राज्य सरकार पर आ जाता है। यदि योजना सफल होती है तो उसका श्रेय राज्य सरकारो को मिलता है और यदि योजना असफल होती है तो भी उसका दायित्व राज्य सरकारो पर होता है।

केन्द्र—योजना के सचालन का भार केन्द्रीय सरकार पर भी होता है। केन्द्रीय सरकार द्वारा योजना मे जो कार्यक्रम सम्मिलित करवाये जाते हैं या सविधान अथवा औद्योगिक नीति प्रस्ताव के अनुसार जो दायित्व केन्द्रीय सरकार का होता है उसे पूरा करने का भार केन्द्र का ही रहता है।

इस प्रकार राज्यो के विकास कार्यक्रम राज्यो द्वारा पूरे किये जाते हैं और केन्द्र के लिए निर्धारित कार्यक्रमों को पूरा करने का दायित्व केन्द्रीय सरकार का होता है। योजनाओ को कार्यान्वित करने मे योजना आयोग का कोई दायित्व नहीं है।

सदस्यता का महत्त्व—योजना आयोग की अध्यक्षता प्रारम्भ से अब तक प्रधान मन्त्री द्वारा की जाती रही है। वित्त मन्त्री, योजना मन्त्री तथा कई अन्य मन्त्री योजना आयोग के सदस्य होते हैं। अत योजना सम्बन्धी नीतियाँ निर्धारित करने और योजना का स्वरूप निश्चित करने म केन्द्रीय मन्त्रालय का महत्त्वपूर्ण हाथ होता है।

इसी प्रकार राज्यो के लिए जो योजना बनायी जाती है उसमे राज्यो के मन्त्रिमण्डलो का मुख्य हाथ रहता है।

योजना की नीति तथा अन्तिम स्वरूप को राष्ट्रीय विकास परिषद् की सहमति मिलना आवश्यक होता है। अत देश की पूरी योजना का निर्माण केन्द्रीय मन्त्रि-मण्डल तथा राज्यो के मुख्य मन्त्रियो, वित्त एव योजना मन्त्रियों की सहमति से होता है। अत इन व्यक्तियो को योजना के कार्यान्वित करने का दायित्व सौंपना सर्वथा युक्ति सगत एव उचित है।

अत केन्द्र तथा राज्यो के आर्थिक नियोजन सम्बन्धी दायित्व निश्चित कर दिये जाते हैं और उन्हें पूरा करने का दायित्व केन्द्र या राज्य सरकारो पर ही होता है।

योजनाओं को कार्यान्वित करने मे कठिनाइयाँ

पचवर्षीय योजनाओ को बनाने से पहले अनेक वर्गों के विशेषज्ञो से विचार-विमर्श किया जाता है, राज्य सरकारो तथा केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधियों से सलाह ली जाती है किन्तु फिर भी इनको कार्यान्वित करने मे निम्नलिखित कठिनाइयो का सामना करना पडता है

(१) **उद्योग, बिजली तथा परिवहन में समन्वय**—इन तीनो का विकास एक दूसरे पर निर्भर करता है। उद्योगो का बिजली के बिना विकास कठिन है तथा परिवहन की सुविधाओं के बिना माल मगवाने और भेजने मे कठिनाई आती है। इसी

प्रकार बिजली की खपत उद्योगो द्वारा ही अधिक होती है तथा बिजली से परिवहन का विकास सरल और सस्ता हो जाता है। इन तीनो सुविधाओ मे तालमेल बैठाने मे प्रशासन, पूँजी तथा तकनीकी सुविधाओ की कठिनाई आती है।

(२) उद्योगों का आकार तथा स्थान निर्धारण—अनेक बार आर्थिक कारणो की बजाय राजनीतिक कारणो से यह निश्चित करना पडता है कि किस उद्योग का आकार कितना बडा होना चाहिए तथा उसे कौन से स्थान पर स्थापित किया जाना चाहिए ?

(३) लोक क्षेत्र के उद्योगों का कार्यक्रम निश्चित करना—सरकारी प्रशासन तन्त्र मे व्याप्त लाल फीताशाही और ढिलाई के कारण यह निश्चित करना कठिन होता है कि लोक क्षेत्र के कौन-कौन से उद्योगो की कब कब स्थापना की जाय। इस सम्बन्ध मे निश्चित कार्यक्रमो को पूरा करना बहुत कठिन है।

(४) निजी क्षेत्र मे विकास के लक्ष्य—पूरे देश की योजना बनाने मे यह भी निश्चित करना होता है कि निजी क्षेत्र को किन-किन क्षेत्रो मे विकास के अवसर दिये जायेंगे, उनमे कितनी पूँजी लगायी जायगी तथा कितना उत्पादन होगा, यह निश्चित करना तथा उस उत्पादन के लक्ष्य की पूर्ति करना सरकार के हाथ मे नही होता। अनेक बार उसकी व्यवस्था करना ही कठिन होता है।

(५) निर्यातों के लक्ष्य की पूर्ति—योजना मे निर्यातो के जो लक्ष्य निर्धारित किये जाते है उनकी पूर्ति अच्छे मानसून, औद्योगिक शांति तथा मूल्य स्तर पर बहुत कुछ निर्भर करती है। अनेक बार इन लक्ष्यो की पूर्ति करना कठिन होता है क्योकि कभी मानसून असफल हो जाता है, कभी मजदूरो द्वारा हडताल के कारण उत्पादन मे कमी आ जाती है तथा कभी मूल्यो मे वृद्धि के कारण माल का उत्पादन कम होता है।

(६) मजदूरी को प्रभावित करने वाले तत्व—भारत मे अभी भी न्यूनतम मजदूरी तथा आवश्यकतानुसार मजदूरी मे संघर्ष चल रहा है। अनेक क्षेत्रो मे न्यूनतम मजदूरी लागू करना ही कठिन है। अत औद्योगिक शान्ति बनाये रखना सम्भव नहीं है।

(७) कृषि और सिंचाई सुविधाओ का उपयोग—अनेक बार कृषि कार्यक्रम इसलिए असफल हो जाते हैं कि सिंचाई की सुविधाएँ या तो समय पर मिल नहीं पाती या उनका ठीक ढङ्ग से उपयोग नहीं हो पाता। कभी-कभी पर्याप्त खाद और अच्छे बीज की कमी के कारण सिंचाई की सुविधाएँ बेकार जाती हैं।

(८) भूमि सुधार और कृषि साख मे समन्वय—भारत मे कृषि विकास के सारे कार्यक्रमों (उत्पादन, उपभोग, बिक्री, आदि) मे प्राय उचित समन्वय करने मे कठिनाई होती है क्योकि सब कार्यक्रमो का प्रशासन अलग-अलग संस्थाओ या संगठनो के हाथ मे रहता है और प्रशासन व्यवस्था बहुत शिथिल एव अकुशल है।

(९) शिक्षा तथा सामाजिक सेवाएँ—यह सत्य है कि आर्थिक क्रान्ति

सामाजिक क्रान्ति की प्रतीक्षा नहीं कर सकती किन्तु सामाजिक सेवाओं के कार्यक्रमों का संचालन प्रायः शिथिल रहता है। जब भी किसी क्षेत्र में रकम की कमी का अनुभव होता है, शिक्षा या स्वास्थ्य के मद में कटौती कर ली जाती है। यह नीति उचित नहीं कही जा सकती।

मूल समस्याएँ—समन्वय तथा प्रशासन

इन सब बातों पर विचार करने से स्पष्ट है कि भारतीय योजनाओं की मूल समस्या संचालन या क्रियान्वित करने की समस्या है। यदि कृषि के विभिन्न अंगों, उद्योग, परिवहन, बिजली, आयात निर्यात, विदेशी सहायता आदि की समस्याओं का समन्वय कर दिया जाय तो योजनाओं की सफलता के अवसर बहुत अच्छे हो जायेंगे।

समन्वय से भी अधिक विकट समस्या आर्थिक प्रशासन की है। भारतीय प्रशासन सामान्यतः ढीला है, उसमें लाल फीताशाही है, भ्रष्टाचार और पक्षपात का जोर है तथा नौकरशाही प्रवृत्ति का अत्यधिक प्रभाव है। उसमें बहुत कुछ परिवर्तन किये बिना योजनाओं को सफल बनाना प्रायः असम्भव रहेगा।

योजनाओं का मूल्यांकन
[EVALUATION OF PLANNING]

अर्थ—मनुष्य जो भी काम करता है उसका कुछ उद्देश्य या लक्ष्य होता है। उस काम की समाप्ति पर वह अवश्य जानना चाहता है कि उसको अपने काम में सफलता मिली या नहीं क्योंकि सफलता से मनुष्य का आगे काम के लिए उत्साह बढ़ता है और वह नये जोश से नयी योजनाएँ बनाता है। यदि उसे अपने उद्देश्य या लक्ष्य में असफलता मिलती है तो वह असफलता का कारण जानने की चेष्टा करता है और भविष्य में अधिक अच्छे ढंग से काम करने का प्रयत्न करता है।

इस प्रकार किसी काम में कितनी सफलता या असफलता मिली, इस बात की जानकारी करने की क्रिया को ही मूल्यांकन कहते हैं।

मूल्यांकन का महत्व

किसी कार्य के मूल्यांकन का महत्व निम्नलिखित कारणों से हो सकता है

(१) **समस्याओं की जानकारी**—मूल्यांकन से पता चलता है कि अमुक कार्य में कहाँ कहाँ कितनी कितनी सफलता और असफलता मिली? यह भी पता लग जाता है कि विभिन्न योजनाओं को पूरा करने में किन किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अनुभवी व्यक्ति इन कठिनाइयों का समाधान खोजने की चेष्टा करता है ताकि भविष्य में ऐसी कठिनाइयों का दोबारा सामना न करना पड़े।

(२) **समन्वय की कमी**—योजनाओं की असफलता या कम सफलता का एक कारण यह होता है कि विभिन्न क्षेत्रों में समन्वय का अभाव है। मूल्यांकन से यह पता चल जाता है कि समन्वय का अभाव कहाँ है। इस जानकारी के आधार पर, जिन क्षेत्रों में तालमेल की कमी है उनमें ठीक तालमेल की व्यवस्था की जा सकती है।

(३) **विभिन्न क्षेत्रों की तुलना**—वर्तमान युग स्पर्द्धा का युग है। इसमे जितने क्षेत्रो मे जितने काम होते हैं सबकी तुलना करना बहुत आवश्यक है। किन क्षेत्रो मे अधिक पूँजी लगाने से अधिक विकास हुआ ? किन क्षेत्रो मे अधिक पूँजी लगाने का प्रभाव सतोषजनक नही था, यह जानकारी मूल्याकन से ही मिल सकती है। इस प्रकार मूल्यांकन से ही पूँजी की लागत तथा फल का अनुमान किया जा सकता है और उन क्षेत्रो मे पूँजी लगाने का निर्णय लिया जा सकता है जो अधिक फल देने वाले हो या जिनमे विकास की दर अधिक हो।

(४) **विभिन्न देशो की तुलना**—मूल्याकन से केवल विभिन्न क्षेत्रो मे विकास की ही तुलना नही होती, उससे अनेक देशो मे, विभिन्न क्षेत्रो मे विकास की तुलना की जा सकती है, जिन देशो म विकास की गति तीव्र हो उनका अध्ययन विशेष रूप मे किया जा सकता है और आर्थिक नीतियो मे सुधार किया जा सकता है।

(५) **साधनों का उपयोग**—मूल्याकन से यह पता लग जाता है कि आर्थिक साधनो का उपयोग श्रेष्ठतम हो रहा है या नही। यदि किसी काम का मूल्याकन नही किया जाय तो यह सम्भव है कि देश के कुछ आर्थिक या अन्य साधनो का उपयोग बिलकुल नहीं हो रहा हो या कुछ साधनो का दुरुपयोग हो रहा हो। मूल्याकन किये बिना इस दुरुपयोग को रोकना सम्भव नही होगा।

(६) **भविष्य**—मूल्याकन भविष्य के लिए पाठ होता है। मूल्याकन से आर्थिक नीतियो की कमी ज्ञात हो जाती है, सचालन की शिथिलता का पता लग जाता है, प्रशासन या निदेशन की अव्यवस्था की जानकारी हो जाती है और योजना के सभी दुर्बल स्थलो का आभास हो जाता है। इन सब अनुभवो की नीव पर समृद्धि का भवन खडा किया जा सकता है।

अत भविष्य के श्रेष्ठ निर्माण के लिए मूल्याकन अनिवार्य है।

भारत मे नियोजन का मूल्याकन

भारतीय योजना आयोग को एक काम सौंपा गया कि वह "समय-समय पर योजना के प्रत्येक चरण के कार्यान्वित होने की प्रगति का मूल्याकन करे तथा इस मूल्याकन के आधार पर नीति या रीतियो मे आवश्यक परिवर्तन की सिफारिश करे।"

इस प्रकार केवल योजना तैयार करना ही योजना आयोग का काम नही है, उसका काम योजना की सफलता का मूल्याकन करना भी है। इसके अतिरिक्त, *मूल्याकन के आधार पर योजना की नीतियो या सचालन प्रणालियो मे सुधार के* लिए सुझाव देना भी उसका कर्तव्य है।

मूल्याकन करने के लिए सुझाव—भारत मे आर्थिक नियोजन का मूल्याकन करने मे अनेक कठिनाइयाँ हैं, जिनका समाधान करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं

(१) **माप का आधार**—सही मूल्याकन के लिए निश्चित आधार होने चाहिए

जिनसे तुलना करके योजना की सफलता का मूल्याकन किया जा सके। भारत मे विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित ऐसी तालिकाओ या सघको का अभाव है जिनसे अलग-अलग क्षेत्रो की वास्तविक सफलता का उचित मूल्याकन किया जा सके। इस प्रकार *के माप के आधारो की स्थापना की जानी चाहिए।*

(ii) प्रगति सम्बन्धी तथ्य—योजना के विभिन्न क्षेत्रो का सचालन करने का जिनका दायित्व है उनके द्वारा अलग-अलग क्षेत्रो मे होने वाली प्रगति के आँकडे नियमित रूप से योजना आयोग को भेजने की व्यवस्था की जानी चाहिए। इन आँकडो को आधार मानकर आर्थिक विकास की प्रगति का सही अनुमान लगाया जा सकता है।

(iii) सूचना का स्वचालित साधन—योजना के विभिन्न क्षेत्रो की प्रगति सम्बन्धी तथ्य तथा आँकडे सग्रह करने की ऐसी प्रणाली स्थापित की जानी चाहिए जिसमे किसी को तथ्य भेजने के लिए बार बार माँग नहीं करनी पडे। इस व्यवस्था से योजना के कार्य मे लचक उत्पन्न होगी और जहाँ भी बाधा उत्पन्न होगी उसे तुरन्त ठीक किया जा सकेगा।

मूल्याकन किस के द्वारा किया जाय?

आर्थिक नियोजन का मूल्याकन तीन स्तरो पर किया जा सकता है

(क) कार्यान्वित करने वाले अधिकारियो द्वारा मूल्याकन किया जाय।

(ख) केन्द्र या राज्य सरकार के अलग-अलग विभाग या मन्त्रालय अपने क्षेत्र से सम्बन्धित कार्यक्रमो का मूल्याकन करें।

(ग) योजना आयोग द्वारा मूल्याकन किया जाय।

यदि योजना के प्रत्येक कार्यक्रम का मूल्याकन उसे कार्यान्वित करने वाले अधिकारी ही करें तो श्रेष्ठ होगा क्योकि वह अपनी भूलो या कमियों मे स्वय सुधार कर सकते हैं। इस कार्य मे कमी यह है कि उपरोक्त अधिकारी अपनी प्रतिष्ठा के लिए सफलता को बढा चढा कर दिखला सकते हैं और असफलताओ को बहुत साधारण महत्व दे सकते हैं।

भारत मे योजना आयोग उस समय प्रत्येक मन्त्रालय अथवा विभाग की सफलताओ का मूल्याकन करता है जिस समय आगामी वर्ष के लिए (वार्षिक) योजना पर विचार किया जाता है। जब वार्षिक योजना को बजट मे शामिल कर लिया जाता है तो योजना आयोग पिछले वर्ष की प्रगति के ब्यौरे की माँग करता है। इन सब ब्यौरो को इकट्ठा कर वार्षिक प्रगति की रिपोर्ट बनाली जाती है और उसे प्रकाशित कर दिया जाता है। साधारणत प्रत्येक पिछले वर्ष की रिपोर्ट वर्ष की समाप्ति के चार मास के भीतर प्रकाशित हो जानी चाहिए परन्तु ऐसा प्राय नहीं होता है।

निजी क्षेत्र—मूल्याकन की सबसे बडी कठिनाई निजी क्षेत्र के आर्थिक विकास के बारे म आती है। कम्पनियो के स्थिति विवरण प्राय समय पर तैयार नही

होते। इसके लिए उचित यह है कि निजी क्षेत्र की अधिक महत्त्वपूर्ण औद्योगिक इकाईयो के विषय मे सूचना प्राप्त करने की विशेष व्यवस्था की जाय। औद्योगिक क्षमता के प्रयोग तथा आयात स्थानापन्न के बारे मे नियमित तथ्य प्राप्त करने की चेष्टा की जानी चाहिए।

अध्ययन—विशिष्ट समस्याओ के विषय मे रिजर्व बैंक, कार्यक्रम मूल्याकन सगठन तथा अन्य शोध सस्थान समय-समय पर जो रिपोर्ट प्रकाशित करते हैं वह महत्त्वपूर्ण तथ्यो पर प्रकाश डालती है। राज्य सरकारों के आर्थिक एव सांख्यिकीय निदेशालय भी योजनाओ सम्बन्धी वार्षिक तथा पचवर्षीय रिपोर्ट प्रकाशित करते हैं।

योजना आयोग भी योजना की प्रगति सम्बन्धी रिपोर्ट प्रकाशित करने लगा है किन्तु यह रिपोर्ट प्राय बहुत देर में प्रकाशित होती हैं अत उनका सीमित महत्त्व रह जाता है। योजना आयोग तथा राज्य सरकारो को योजनाओ की मूल्याकन रिपोर्ट नियमित रूप मे उचित समय पर प्रकाशित करनी चाहिए। इससे योजनाओ के महत्त्व का सही मूल्याकन हो सकेगा, अन्यथा नही।

अभ्यास प्रश्न

१ भारत मे आर्थिक नियोजन के क्या आधार हैं ? क्या इनके कारण योजनाओ मे कुछ कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं ?
२ भारत मे योजनाएँ बनाते समय किन बातो का विशेष ध्यान रखा जाता है ?
३ भारत मे आर्थिक नियोजन की क्या प्रक्रिया है ? योजना को अन्तिम रूप देने से पहले किन-किन स्थितियो से गुजरना पडता है ?
४ भारतीय योजनाओ मे लक्ष्यो का निर्धारण कैसे किया जाता है ? लक्ष्य निर्धारित करने मे किन कठिनाइयो का सामना करना पडता है।
५ भारतीय नियोजन के विभिन्न चरणो की व्याख्या कीजिए।
६ भारतीय योजनाओ को कैसे कार्यान्वित किया जाता है ? इस प्रक्रिया मे कौन सी विशेष कठिनाइयो का सामना करना पडता है।
७ भारत मे आर्थिक नियोजन की मुख्य समस्याओ का विवेचन कीजिए।
८ आर्थिक नियोजन के मूल्याकन के महत्त्व पर प्रकाश डालिए तथा भारतीय नियोजन के मूल्याकन मे सुधार के उपाय बतलाइए।
९ भारत मे आर्थिक नियोजन का मूल्याकन किन-किन सगठनो द्वारा किया जाता है। वह कहाँ तक पर्याप्त है ?

६ राज्य का आर्थिक व्यवस्था मे योगदान

(STATE IN RELATION TO NATIONAL ECONOMY)

वर्तमान युग मे संसार मे तीन प्रकार की सरकार हैं (१) प्रजातन्त्रवादी, (२) तानाशाही, तथा (३) सैनिक शासन

इनमे सैनिक शासन का आर्थिक विकास से प्राय कोई सम्बन्ध नही रहता। सैनिक अधिकारी केवल अपना शासन बनाये रखने की चिंता रखते हैं, वह सामाजिक उत्थान या आर्थिक विकास के लिए विशेष प्रयत्न नही करते। सैनिक शासन अनेक बार सही या गलत कारणो से पडोसी देशो से युद्ध म उलझ जाते हैं जिनका परिणाम प्राय अच्छा नहीं निकलता।

प्रजातन्त्रवादी—सरकार जनता की चुनी हुई सरकार होती है। इसका कर्त्तव्य जनता के आर्थिक कल्याण के लिए अधिक प्रयत्न करना होता है। यह सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी होती है। अत यह निरन्तर ऐसी योजनाएँ और कार्यक्रम बनाती रहती है जो जनता के आर्थिक और सामाजिक लाभ के लिए होते हैं। इसीलिए इस प्रकार की सरकार का आर्थिक विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान होना आवश्यक है।

तानाशाही—शासन प्राय एक दल का शासन होता है। इस प्रकार का शासन प्राय पूँजीवाद के खिलाफ होता है और यह सदा ऐसे प्रयत्न करता रहता है जिससे सिद्ध हो जाय कि समाजवाद पूँजीवाद से श्रेष्ठ है। इस प्रकार के शासन मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं होती परन्तु आर्थिक विकास बहुत तेजी से होता है और सरकार ही आर्थिक विकास के लिए पूरी जिम्मेवारी उठाती है।

विभिन्न व्यवस्थाओं मे सरकार का योग

इन तीनो व्यवस्थाओ का जिक्र करने के बाद यह उचित होगा कि इनमे सरकारी योगदान का उल्लेख विस्तार से किया जाय।

प्रजातन्त्रवादी व्यवस्था पूँजीवादी भी हो सकती है और समाजवादी भी। पूँजीवादी प्रजातन्त्र के उदाहरण हैं जापान, पश्चिमी जर्मनी, फ्रांस, संयुक्त राज्य

अमरीका आदि। भारत समाजवादी प्रजातन्त्र का उदाहरण है इसे मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का भी नाम दिया जाता है।

तानाशाही (सैनिक शासन को छोड कर) शासन समाजवादी या साम्यवादी ही होते हैं। सोवियत रूस, पूर्वी यूरोप के देश तथा चीन उसके उदाहरण हैं।

इन स्थितियो को देखते हुए सरकारी योगदान का अध्ययन तीनों आर्थिक व्यवस्थाओं मे करना अधिक उचित होगा क्योंकि राजनीतिक व्यवस्थाएं (प्रजातन्त्र आदि) किसी न किसी आर्थिक प्रणाली को ही आधार मान लेती हैं।

पूँजीवादी व्यवस्था
[CAPITALISM]

पूँजीवाद के मूल तत्त्व—पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे सरकार का योगदान क्या हो सकता है, इसका विश्लेषण करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि पूँजीवादी व्यवस्था मे मूल तत्त्व या विशेषताएँ क्या हैं। यह विशेषताएँ निम्न-लिखित हैं ·

(१) **मुक्त अर्थ-व्यवस्था**—पूँजीवादी व्यवस्था मे उत्पादन, उपभोग, विनिमय तथा वितरण की सब क्रियाएं स्वतन्त्र होती हैं। इसका अर्थ यह है कि ·

(i) **व्यवसाय की आजादी**—प्रत्येक व्यक्ति किसी भी प्रकार का उद्योग या व्यवसाय आरम्भ करने के लिए स्वतन्त्र होता है। उसके लिए लाइसेंस लेने की आवश्यकता नहीं है।

(ii) **वस्तुओं की खुली बिक्री**—प्रत्येक वस्तु के मूल्य बाजार मे माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होते हैं। सरकार न तो वस्तुओ के मूल्य निर्धारित करती है, न वस्तुओं को राशन द्वारा बांधने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु बाजार मे खुले रूप मे मिलती है और उसका इच्छा तथा आवश्यकतानुसार उपभोग करने की प्रत्येक नागरिक को स्वतन्त्रता होती है।

(iii) **व्यापार की छूट**—वस्तुओं के आयात और निर्यात तथा खरीद और बिक्री की भी छूट होती है। व्यापार पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता।

(iv) **मजदूरी आदि की दरें**—मुक्त अर्थ-व्यवस्था मे मजदूरी, मकान किराया, ब्याज आदि की दरें सरकार द्वारा निश्चित नहीं की जाती। अच्छा काम करने वाले व्यक्तियो को अच्छा वेतन या मजदूरी दी जाती है और ब्याज, किराया आदि अपने आप माँग और पूर्ति द्वारा निश्चित होता है।

इस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था लाइसेंस, परमिट से मुक्त होती है।

(२) **मुक्त स्पर्द्धा तथा एकाधिकार**—पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे उत्पादको तथा विक्रेताओ मे मुक्त स्पर्द्धा होती है अत उपभोक्ताओ को अच्छे से अच्छा माल कम से कम कीमत पर मिलता रहता है। इस व्यवस्था मे प्राय श्रेष्ठतम उत्पादक या विक्रेता ही बाजार मे ठहर सकता है (Survival of the Fittest)।

मुक्त स्पर्द्धा होते-होते पूँजीपतियो मे से कुछ को हानि होने लगती है। इसके परिणामस्वरूप उनमे उत्पादन तथा बिक्री सम्बन्धी समझौता हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप एकाधिकार की स्थापना होती है और पूँजीपतियो को मनमानी करने का अवसर मिल जाता है।

(३) **निजी सम्पत्ति**—पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति निजी सम्पत्ति बना सकता है और उस पर अधिकार रख सकता है। इसके परिणामस्वरूप जो व्यक्ति शक्तिशाली होते हैं वह भूमि और उद्योगों की बड़ी-बड़ी जागीरें बना लेते हैं। समाज में एक साधन सम्पन्न वर्ग बन जाता है जो ऐश्वर्यपूर्ण जीवन व्यतीत करने का अभ्यस्त हो जाता है। समाज का बहुत बड़ा भाग गरीब और साधनहीन बना रहता है। *इस प्रकार सम्पत्ति रखने की आजादी से गरीबी और अमीरी का भेद उत्पन्न होता है और बढ़ता जाता है।*

(४) **साहस का महत्त्व**—पूँजीवादी व्यवस्था मे, जो व्यक्ति अधिक योग्यता और साहस रखने वाले हैं, उनको क्रियात्मक शक्ति को अधिक काम करने की प्रेरणा मिलती है क्योंकि वह साहस करके नये उद्योग स्थापित कर लेते हैं और लाभ कमा लेते हैं। साहसहीन, हीने तथा अयोग्य व्यक्ति पिछड़ जाते हैं।

(५) **उत्तराधिकार**—पूँजीवादी व्यवस्था का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि इस व्यवस्था मे सम्पत्ति या साधन उत्तराधिकार मे प्राप्त किए जा सकते हैं और उन पर कानूनी अधिकार बनाए रखा जा सकता है। इससे भी समाज में विषमता या असमानता बढ़ती है।

(६) **मजदूरों के सगठन**—पूँजीवादी व्यवस्था मे वर्ग सघर्ष एक आवश्यक तत्त्व बन जाता है क्योंकि गरीबी और अमीरी के भेद बढ जाते हैं। मजदूरो को उचित मजदूरी नही मिलती जबकि पूँजीपतियों के लाभ में निरन्तर वृद्धि होती चली जाती है। इससे मजदूर अपने सगठन बना लेते हैं और पूँजीपतियों के खिलाफ सघर्ष आरम्भ हो जाता है। *यह सघर्ष प्राय नियमित रूप मे चलता रहता है।*

पूँजीवादी अर्थतन्त्र मे सरकार का दायित्व

(i) **साज सज्जा की व्यवस्था**—पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे साहसी प्रवृत्तियो को खुली छूट मिलती है। सरकार को केवल यह देखना होता है कि उत्पादन के मार्ग मे पानी बिजली या परिवहन सम्बन्धी कठिनाइयाँ तो नहीं हैं। यदि इस प्रकार की कठिनाइयां होती हैं तो सरकार इन्हें दूर करने का प्रयत्न करती है।

(ii) **सस्थाओं का विकास**—सरकार का दूसरा कर्तव्य यह है कि यदि वित्तीय सस्थाएँ (बैंक, वित्त निगम) आदि कम हैं या कम विकसित हैं तो उनकी स्थापना तथा विकास मे सहायता करे। इन सस्थाओ से खेती, व्यवसाय तथा उद्योग के लिए पर्याप्त रकम मिल जाती है जिससे उत्पादन तथा वितरण करना बहुत सरल हो जाता है

(iii) विदेशी व्यापार—पूँजीवादी व्यवस्था में सरकार को यह भी देखना चाहिए कि विदेशों से जो लेन-देन होता है या आयात-निर्यात निजी स्तर पर किया जाता है उसमें कोई कठिनाइयाँ तो नहीं हैं। इसमे भुगतान, माल भेजने या विदेशी विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयाँ हो तो उन्हें दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

(iv) एकाधिकार पर रोक—पूँजीवादी व्यवस्था में व्यावसायिक स्पर्द्धा बनाये रखना बहुत आवश्यक है। यदि पूँजीपति वर्ग मिलकर किसी एक या कई क्षेत्रों मे एकाधिकार स्थापित करने का प्रयत्न करें तो सरकार द्वारा इस प्रवृत्ति को रोका जाना चाहिए। यदि एकाधिकार स्थापित हो जाय तो नये साहस को प्रोत्साहन नहीं मिल सकेगा और विकास रुक जायेगा।

संक्षेप में, पूँजीवादी व्यवस्था मे सरकार को :

(i) सड़क, रेल, बिजली पानी आदि सम्बन्धी साज-सज्जा का उचित विकास करना चाहिए।

(ii) वित्तीय तथा अन्य संस्थाओं के विकास मे सहयोग देना चाहिए।

(iii) विदेशी व्यापार में सहायता देनी चाहिए।

(iv) एकाधिकार की प्रवृत्ति पर रोक लगानी चाहिए।

इस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था मे सरकार का स्वयं का कोई सक्रिय योग नहीं होता, वह केवल बाधाओं तथा दुविधाओं को दूर करने में सहायक होती है।

समाजवाद
[SOCIALISM]

वर्तमान युग समाजवाद का युग है। प्रत्येक व्यक्ति तथा सरकार समाजवाद की बातें करती है, समाजवादी वचन का व्रत लेती है तथा समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने का उद्घोष करती है। इस स्थिति मे समाजवाद एक फैशन सा बन गया है। अनेक बार जब करोड़पति या लखपति व्यक्ति अथवा हजारों रुपया मासिक वेतन पाने वाले अधिकारी समाजवाद की बातें करते हैं तो समाजवाद के सिद्धान्तो मे अविश्वास होने लगता है। इसी प्रकार जब इम्पाला कार मे यात्रा करने वाले, अपने बच्चों के ब्याह मे लाखो रुपया खर्च करने वाले तथा ऐश्वर्य के विलास में डूबे रहने वाले मन्त्री समाजवाद लाने का वचन देते हैं तो समाजवाद के प्रति आस्था डगमगाने लगती है। भारत तथा अनेक विकासशील देशों म समाजवाद का यही विकृत रूप देखने को मिलता है जहाँ कथनी और करनी में जमीन आसमान का अन्तर है।

यह सब दोष समाजवाद का पालन न करने वाले व्यक्तियों के हैं, समाजवाद के नहीं।

समाजवाद के मुख्य तत्त्व—समाजवाद के मुख्य तत्त्व निम्नलिखित हैं

(१) सरकारी स्वामित्व—समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन मे सहायता करने वाले जितने साधन (भूमि, वन, खनिज आदि) हैं उन पर सरकार का अधिकार होता

है। उत्पादन, विनिमय तथा वितरण आदि सभी क्रियाओं पर भी सरकारी अधिकार होता है। इस प्रकार लाभ देने वाले सब क्षेत्र समाज (अर्थात् सरकार) के स्वामित्व मे आ जाते हैं।

(२) मजदूरी की दर—मजदूरो या अन्य काम करने वाले व्यक्तियों की मजदूरी या वेतन सरकार निर्धारित करती है और सब व्यक्तियों को निर्धारित दर पर ही वेतन दिया जा सकता है। समाजवादी व्यवस्था मे न्यूनतम तथा अधिकतम वेतन में बहुत अ तर नहीं होता।

(३) व्यक्तिगत सम्पत्ति पर रोक—समाजवाद मे किसी व्यक्ति के पास व्यक्तिगत सम्पत्ति (भूमि, मकान, फैक्टरी आदि) नही रह सकती। इसी कारण ग़रीबी और अमीरी मे बहुत अधिक भेद नहीं रह सकता। वास्तव में, इस व्यवस्था में गरीबी और अमीरी होती ही नहीं, सब व्यक्तियो के प्राय एक समान जीवन स्तर होते हैं।

(४) उपभोग पर सीमा—समाजवादी व्यवस्था मे सभी सामान सरकारी फैक्टरियां बनाती हैं। अत जनता के अधिक काम मे आने वाली वस्तुएँ बनाने को ही प्राथमिकता दी जाती है। विलासिता तथा ऐश्वर्यशाली वस्तुओं का बहुत कम उत्पादन किया जाता है और जितना उत्पादन होता है वह निर्यात के लिए होता है। अत समाजवादी व्यवस्था मे उन्हीं वस्तुओं का उपभोग किया जाता है जिन्हें सरकार उचित समझती है।

(५) मूल्य निर्धारण—समाजवादी व्यवस्था मे वस्तुओ के मूल्य भी सरकार ही निर्धारित करती है और देश भर मे एक वस्तु का मूल्य समान रहता है, उसमें अन्तर नही हो सकता।

(६) शोषण नहीं होता—समाजवादी व्यवस्था शोषण के खिलाफ होती है जिसमे सरकार द्वारा मूल्य, मजदूरी या वेतन तथा अन्य नीतियाँ निर्धारित की जाती हैं। इनका निर्धारण करते समय यह ध्यान रखा जाता है कि किसी का शोषण नहीं किया जा सके।

सरकार का योगदान

समाजवादी व्यवस्था मे सरकार का योग निम्न प्रकार हो सकता है·

(१) सरकारी स्वामित्व—सरकार सारी भूमि, सभी उद्योग तथा व्यवसाय अपने हाथ मे ले सकती है और इन्हें सरकारी प्रशासन द्वारा चला सकती है। इससे आर्थिक शोषण नही हो सकेगा और गरीब अमीर की समस्या उत्पन्न नही होगी। सरकार स्वयं ही मजदूरो तथा कर्मचारियो के हितों का ध्यान रखेगी अत मजदूरो द्वारा सघर्ष करने की स्थिति भी नहीं आयेगी।

यदि उद्योग या व्यापार आदि पहले से निजी पूँजीपतियों के हाथ मे हैं तो उनका राष्ट्रीयकरण करना होगा।

(२) साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग—सरकार के हाथ में सभी उत्पादक क्षेत्र होंगे तो स्वाभाविक रूप में सरकार यह निश्चित करेगी कि कौन से माल का कितना उत्पादन किया जाय। यह निश्चित करते समय सरकार यह ध्यान रख सकती है कि प्राकृतिक तथा अन्य साधनों का इस ढङ्ग से उपयोग हो कि समाज के अधिकांश या सभी व्यक्तियों की अनिवार्य आवश्यकताएँ अवश्य पूरी हो जायें। इस प्रकार देश के साधनों का राष्ट्रीय हित में श्रेष्ठतम उपयोग हो सकता है।

(३) प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार—समाजवादी व्यवस्था में सरकार का सबसे महत्वपूर्ण कर्तव्य यह होता है कि प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार दिया जाय। इसके लिए जनशक्ति का प्रारम्भिक अवस्था से ही नियोजन किया जा सकता है कि कितने डाक्टर, इंजीनियर, अध्यापक, रसायन विशेषज्ञों की आवश्यकता होगी। उसके हिसाब से ही प्रवेश देकर उतने ही विशेषज्ञ तैयार किये जाने चाहिए, अधिक नहीं। सामान्य श्रम-शक्ति को (जिसमें विशेष क्षेत्र की योग्यता नहीं है) सरकारी प्रतिष्ठानों में सामान्य वर्ग का काम दिया जा सकता है।

(४) विषमता में कमी—जिन देशों में समाजवादी व्यवस्था बाद में स्थापित की जाती है उनमें कर प्रणाली ऐसी बनायी जा सकती है कि अधिक सम्पत्ति वालों की सम्पत्ति धीरे धीरे क्षय होती चली जाय। सम्पत्ति की उच्चतम सीमाएँ भी निर्धारित की जा सकती हैं। आय (वेतन सहित) की भी उच्चतम सीमा निश्चित की जा सकती है या कर प्रणाली म परिवर्तन द्वारा बहुत ऊँची आय को कम किया जा सकता है।

(५) उचित वेतन तथा मजदूरी—समाजवादी व्यवस्था में सरकार द्वारा वेतन तथा मजदूरी की दरें निश्चित की जा सकती हैं कि वह न्यायसंगत हो तथा जिनसे जन साधारण को उचित जीवन स्तर बिताने का अवसर मिल सके।

(६) अधिकतम कार्य तथा उत्पादन—समाजवादी व्यवस्था में सरकार को यह दिखलाना होता है कि वह पूँजीवादी व्यवस्था से श्रेष्ठ है। अतः प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक क्षेत्र को अधिक से अधिक कुशल बनाना आवश्यक है। इसके लिए ऐसा वातावरण तैयार करना पड़ेगा जिसमें कोई व्यक्ति काम की चोरी न कर सके और अयोग्यता, अकुशलता तथा ढिलाई को कोई संरक्षण प्राप्त न हो सके।

उपर्युक्त सब रीतियों द्वारा उत्पादन अधिक हो सकता है, लागत कम से कम हो सकती है और प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार तथा उचित वेतन दिया जा सकता है।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था
[MIXED ECONOMY]

समाजवादी और पूँजीवादी व्यवस्था के बीच का मार्ग है मिश्रित अर्थ-व्यवस्था जिसमें समाजवाद के नियन्त्रण नहीं हैं और पूँजीवाद की स्वतन्त्रता नहीं है। इसमें कुछ उद्योग सरकार चलाती है और कुछ उद्योग पूँजीपतियों के हाथ में

छोड दिये जाते हैं। इस प्रकार मिश्रित अर्थ व्यवस्था पूँजीवाद और समाजवाद का अथवा निजी क्षेत्र और लोक क्षेत्र के सह-अस्तित्व का उदाहरण है।

मुख्य तत्त्व मिश्रित अर्थ व्यवस्था की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

(१) निजी क्षेत्र और लोक क्षेत्र—मिश्रित अर्थ-व्यवस्था म प्राय सरकार उद्योगों को दो श्रेणियों मे बाँट दती है। एक श्रेणी मे वह उद्योग आते हैं जिनका विकास केवल सरकार द्वारा किया जाता है। यह उद्योग प्राय आधारभूत उद्योग होते हैं जिनमें अत्यधिक पूँजी लगाना आवश्यक होती है। कुछ उद्योग केवल निजी क्षेत्र के लिए छोड दिय जाते हैं। इस प्रकार मिश्रित अर्थ-व्यवस्था मे सरकार और निजी पूँजीपति—दोनों को निर्धारित क्षेत्रो मे उद्योग स्थापित करने का अधिकार होता है।

कभी-कभी कुछ उद्योग सयुक्त क्षेत्र मे होने हैं अर्थात् उनमे सरकार तथा निजी उद्योगपति—दोनो मिलकर पूँजी लगाते हैं और उनकी प्रबन्ध व्यवस्था भी मिली जुली होती है।

(२) नियन्त्रण—मिश्रित अर्थ व्यवस्था मे उद्योग, व्यापार या अन्य किसी व्यावसायिक क्षेत्र म पूर्ण स्वतन्त्रता नही होती। इसमे अनेक प्रकार के नियन्त्रण लगाये जाते हैं जिनमे से कुछ निम्नलिखित हैं

(i) लाइसेंस—अनेक बार नयी औद्योगिक इकाइयाँ लगाने के लिए लाइसेंस लेना पडता है।

(ii) पूँजी के लिए अनुमति—यदि उद्योगो मे पूँजी लगानी है या पूँजी की मात्रा मे वृद्धि करनी है तो प्राय सरकार से अनुमति लेनी पडती है।

(iii) आयात निर्यात—विदेशो से आयात निर्यात व्यापार के लिए अनुमति लेनी पडती है तथा विदेशी मुद्रा के लेन देन पर भी प्रतिबन्ध होता है।

(iv) मूल्य नियन्त्रण—अनेक बार वस्तुओ के मूल्यों पर नियन्त्रण लगाये जाते हैं और कभी कुछ वस्तुओ का राशनिंग भी करना पडता है।

(३) सहायक सस्थाएँ—मिश्रित अर्थ व्यवस्था म सरकारी तथा गैर सरकारी बैंको तथा निगमो का एक जाल सा बिछा होता है जो आर्थिक विकास म सहायता देता है।

(४) नियोजित व्यवस्था—मिश्रित अर्थ व्यवस्था एव नियोजित व्यवस्था होती है जिसम मुख्य आर्थिक नीतियाँ सरकार द्वारा निर्धारित कर दी जाती हैं और विभिन्न क्षेत्रो के अधिकारी तथा निजी क्षेत्र के व्यवसायी उनका पालन करते हैं।

(५) अनिवार्य सेवाएँ सरकारी क्षेत्र मे—मिश्रित अर्थ व्यवस्था मे प्राय *बिजली, पानी, सडक तथा अन्य प्रकार के परिवहन आदि की व्यवस्था सरकार* द्वारा होती है और उनका प्रबन्ध भी सरकारी क्षेत्र मे होता है।

(६) समाजवादी आर्थिक नीति—मिश्रित अर्थ व्यवस्था मे निजी क्षेत्र रहने

पर भी सरकार की आर्थिक नीति समाजवादी होती है और आर्थिक विषमता में कमी करने के प्रयत्न होते रहते हैं।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था मे सरकार का योगदान

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था मे सरकार अनेक कार्य करती है जिनसे अर्थतन्त्र को लाभ होता है और जनता का विश्वास दृढ होता चला जाता है। इनमे मुख्य निम्न-लिखित हैं

(१) एकाधिकार से बचाव—सरकार की औद्योगिक लाइसेंस नीति ऐसी होनी चाहिए कि कुछ इने-गिने व्यक्तियो के हाथ मे ही आर्थिक सत्ता सकेन्द्रित नही हो जाय। इसके लिए प्रशासन व्यवस्था को भी नियन्त्रित करना आवश्यक है।

(२) लोक क्षेत्र का विस्तार—सरकार को लोक क्षेत्र मे अधिक तथा नये-नये उद्योग स्थापित करने चाहिए ताकि आर्थिक शक्ति धीरे-धीरे सरकार के हाथ मे आती जाय और सरकार अपने उद्योगो मे अधिक व्यक्तियो को रोजगार दे सके।

(३) अनिवार्य अथवा आधारभूत उद्योग—सरकार द्वारा ऐसे उद्योगों तथा व्यवसायो को प्राथमिक घोषित कर देना चाहिए जो जनता के लिए अनिवार्य वस्तुओं की पूर्ति करते हो, निर्यात होने वाला समान बनाते हो तथा देश के आर्थिक विकास मे अधिक उपयोगी हों। इन प्राथमिक क्षेत्रो के लिए धन, तकनीकी सुविधाएँ तथा विज्ञापन या बिक्री आदि की सुविधाओ की बडे पैमाने पर व्यवस्था की जानी चाहिए।

(४) प्रशासनिक नियन्त्रण—वस्तुओ के उत्पादन, उपभोग तथा बिक्री पर उचित नियन्त्रण लगाये जाने चाहिए ताकि साधनों का सदुपयोग हो सके और सरकारी नीतियो का आसानी से पालन किया जा सके।

(५) सस्थागत विकास—सरकार द्वारा कृषि, उद्योग, व्यापार तथा अन्य क्षेत्रो के विकास के लिए अनेक प्रकार की सस्थाओ की स्थापना की जाती है या निजी क्षेत्र मे उनके विकास को प्रोत्साहित किया जाता है। इन सस्थाओ द्वारा वित्त, तकनीकी जानकारी तथा अन्य सुविधाओं की पूर्ति की जाती है जो आर्थिक विकास मे बहुत सहायक होती हैं।

(६) आर्थिक नियोजन—मिश्रित अर्थ-व्यवस्था मे प्राय. आर्थिक नियोजन की नीति अपनायी जाती है जिसमे विभिन्न क्षेत्रों मे विकास के लिए प्राथमिकताएँ निश्चित की जाती हैं और उत्पादन तथा रोजगार के साधन बढाने का प्रयत्न किया जाता है।

(७) पिछड़े वर्गों को सहायता—मिश्रित अर्थ-व्यवस्था मे सभी नागरिकों को समान स्तर पर लाने के लिए सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से पिछडे हुए व्यक्तियों के लिए अनेक प्रकार की सहायता की जाती है ताकि वह वर्ग समाज के अन्य वर्गों के समकक्ष आ सकें।

(८) न्यूनतम मजदूरी—मिश्रित अर्थ-व्यवस्था म भी प्राय सभी महत्त्वपूर्ण

क्षेत्रों में न्यूनतम मजदूरी की दरें निश्चित कर दी जाती हैं जिससे उत्पादन के क्षेत्रों में असन्तोष उत्पन्न न हो सके।

(९) सम्पत्ति तथा आय की सीमा—मिश्रित अर्थ व्यवस्था में प्राय व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा आय की सीमा निर्धारित कर दी जाती है ताकि समाज के विभिन्न वर्गों में आर्थिक विषमता कम हो सके और आर्थिक सत्ता अधिक से अधिक व्यक्तियों के हाथ में बँट सके।

(१०) राष्ट्रीयकरण—मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में कुछ मूलभूत उद्योगों तथा महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों के व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण कर लिया जाता है ताकि सरकार अपनी आर्थिक नीतियों को अधिक शक्ति एवं विश्वास के साथ कार्यान्वित कर सके।

इस प्रकार मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में सरकार एक शक्तिशाली निदेशक का काम करती है और अपनी आर्थिक नीतियों में सफलता प्राप्त करने की चेष्टा करती है।

भारतीय अर्थ-व्यवस्था और सरकार

भारतीय अर्थ-व्यवस्था एक मिश्रित अर्थ-व्यवस्था है जहाँ प्रजातन्त्रवादी शासन है और समाजवाद की आर्थिक नीति को अपनाया जा रहा है। इस व्यवस्था में सरकारी तथा निजी दोनों प्रकार के उद्योग चल रहे हैं। उद्योगों की स्थापना के लिए लाइसेन्स लेना आवश्यक है। आयात और निर्यात दोनों के लिए सरकारी अनुमति लेनी होती है। विदेशी मुद्रा में लेन देन भी वर्जित है। सरकार आर्थिक विषमता दूर करने के लिए प्रयत्न कर रही है किन्तु उसमें अनेक बाधाएं उत्पन्न हो रही हैं। प्रशासनिक ढाँचा घटिया और नौकरशाही है।

भारतीय अर्थ व्यवस्था की कुछ आधारभूत विशेषताएँ ऐसी हैं जिनमें सरकार का सक्रिय योगदान अत्यन्त आवश्यक है। संक्षेप म, यह विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

(१) कृषि प्रधान—भारत को शताब्दियों से ही कृषि प्रधान देश माना जाता रहा है किन्तु अब भी भारतीय कृषि देश को पर्याप्त अन्न, कपास, तिलहन आदि देने में समर्थ नहीं है। इसके लिए अधिक सिंचाई की सुविधाएँ, अधिक रासायनिक खाद, अच्छे बीज आदि की व्यवस्था सरकारी एजेन्सी द्वारा ही सम्भव है।

(२) साज सज्जा—भारत में सड़कें, रेलें तथा परिवहन के अन्य साधन, बिजली की पूर्ति, रहने के लिए मकान आदि सुविधाएँ बहुत कम हैं जिनका विस्तार सरकारी सहयोग बिना होना सम्भव नहीं है।

(३) आधारभूत उद्योगों का पिछड़ापन—भारत में इस्पात, कोयला, इंजीनियरी सरीखे उद्योग अब भी बहुत पिछड़े हुए हैं। यह उद्योग ऐसे हैं जिनमें बहुत अधिक पूँजी लगानी पड़ती है, इनसे बहुत वर्ष बाद उत्पादन मिलता है और इनमें बहुत कुशल तकनीक की आवश्यकता होती है। यह उद्योग किसी भी देश के आर्थिक विकास के लिए बहुत आवश्यक है। इनकी विशेषताओं के कारण ही इनका विकास सरकार के सक्रिय सहयोग बिना सम्भव नहीं है।

(४) वित्तीय ढाँचा—भारतीय उद्योगों तथा अर्थ-व्यवस्था के अनेक क्षेत्रों का वित्तीय ढाँचा बहुत कमजोर है। इसको सबल बनाने के लिए शक्तिशाली वित्तीय संस्थाओं की आवश्यकता है जिनकी आर्थिक सहायता की नीति अत्यन्त उदार एवं क्रान्तिकारी हो। यह दोनों बातें सरकारी संस्थाओं में ही हो सकती हैं।

(५) सामाजिक तथा आर्थिक पिछड़ापन—भारत में अब भी अधिकांश व्यक्ति रूढ़िग्रस्त और गरीब हैं। सामाजिक पिछड़ेपन का मुख्य कारण भी गरीबी है। इस पिछड़ेपन को दूर करने का काम सरकार की क्रान्तिकारी नीतियों बिना नहीं हो सकता।

(६) आर्थिक विषमता—भारत में गरीबों और अमीरों में बहुत अधिक अन्तर है। आज भी कुछ व्यक्तियों के पास करोड़ों रुपये की सम्पत्ति है जबकि कुछ के लिए दो समय के भोजन की व्यवस्था नहीं है। कुछ व्यक्ति हजारों रुपये मासिक कमा रहे हैं जबकि अधिकांश व्यक्तियों की मासिक आय १०० रुपये से भी कम है। इस स्थिति को ईश्वर की कृपा या किसी महान् शक्ति के आशीर्वाद से नहीं सुधारा जा सकता। इसके लिए सरकार की सही अर्थों में समाजवादी नीति होना आवश्यक है।

(७) अशिक्षा—आजादी के लगभग पच्चीस वर्ष बाद भी भारत की दो तिहाई से अधिक जनता निरक्षर तथा अनपढ़ है। देश के अनेक कानून और कायदे इस कारण असफल हो जाते हैं कि देश के अधिकांश व्यक्ति उनको समझते नहीं हैं। अत अशिक्षा को दूर करने के लिए भागीरथ प्रयत्न करने आवश्यक हैं जिनके लिए साधन और धन सरकार ही जुटा सकती है।

इन सब बातों से स्पष्ट है कि भारत की अर्थ-व्यवस्था को पिछड़ेपन के गहरे दलदल में से निकाल कर उन्नति के प्रशस्त मार्ग पर लाने के लिए सरकार के विशेष प्रयत्नों के बिना काम नहीं चल सकता। पिछले २० वर्ष में सरकार ने विभिन्न क्षेत्रों का विकास करने के लिए विशेष प्रयत्न किये हैं जिनका ब्योरा अगले अध्यायों में किया जायेगा।

अभ्यास प्रश्न

१. पूँजीवाद के मूल तत्त्व क्या हैं? पूँजीवादी व्यवस्था में सरकार का क्या कर्त्तव्य होना है?
२. एक समाजवादी व्यवस्था की आर्थिक विशेषताएँ लिखिए। इस व्यवस्था में सरकार का क्या योगदान हो सकता है?
३. मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का क्या अर्थ है? एक मिश्रित अर्थ व्यवस्था के मुख्य तत्त्वों का ब्योरा दीजिए।
४ एक मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में सरकार के दायित्व को स्पष्ट कीजिए।
५ भारतीय अर्थ-व्यवस्था की विशेषताएँ लिखिए। भारत के आर्थिक विकास में सरकार का योगदान क्यों आवश्यक है?

१०

राज्य और कृषि

(STATE AND AGRICULTURE)

कृषि का महत्व—भारतीय अर्थ व्यवस्था मे कृषि का महत्त्व निम्नलिखित बातो से जाना जा सकता है

(१) रोजगार— कृषि भारत की लगभग ६० प्रतिशत जन सख्या को रोजगार प्रदान करती है ।

(२) राष्ट्रीय आय— भारत की कुल राष्ट्रीय आय का लगभग ४४ प्रतिशत भाग कृषि से प्राप्त होता है ।

(३) कच्चा माल— कृषि अनेक उद्योगो को कच्चा माल प्रदान करती है । सूती वस्त्र उद्योग को रुई, जूट उद्योग को पटसन, चीनी उद्योग को गन्ना तथा तेल उद्योग को तिलहन कृषि से ही मिलते है । इन उद्योगो का उत्पादन बहुत कुछ खेती की उन्नति पर निर्भर करता है ।

(४) चारा—खेती से भारत के अनेक वर्षों के पशुओ के लिए चारा मिलता है। यह पशु दूध, घी, खालें, मांस आदि की आवश्यकता पूरी करते है । इनमे से कुछ भार ढोने के काम भी आते हैं ।

(५) ईंधन—खेती से बहुत से किसानो को जलाने के लिए ईंधन (लकडी) मिलती है । कपास निकालने के बाद उसका बचा हुआ पूरा पौधा बहुत अच्छे ईंधन का काम देता है ।

कृषि की विशेषताएँ—भारतीय अर्थ व्यवस्था म कृषि का इतना महत्व होते हुए भी कृषि की स्थिति बहुत अच्छी नही रही है जैसाकि निम्नलिखित तथ्यो से पता चलता है

(१) कृषि योग्य भूमि—भारत म कुल भूमि ३२७६ करोड हेक्टर है। इसम से खेती के योग्य कुल क्षेत्रफल १९.४ करोड हेक्टर है । इसमे से लगभग १५.८१ करोड हेक्टर भूमि म खेती की जाती है ।

(२) मानसून और सिंचाई—भारत की अधिकांश खेती योग्य भूमि खेती के लिए मानसून पर निर्भर करती है। केवल ३८ करोड़ हेक्टर भूमि में सिंचाई की सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

(३) छोटे-छोटे खण्ड—भारत में कृषि वाली भूमि के बहुत छोटे-छोटे टुकड़े हैं। कहीं-कहीं तो भूमि के खण्ड इतने छोटे हैं कि उनमें बैल घूम भी नहीं सकता। इतने छोटे टुकड़े खेती के लिए लाभदायक नहीं हो सकते।

(४) पुराने तरीके—भारत में खेती की रीतियाँ वर्षों तक बहुत पुरानी और घटिया रही हैं। किसान का अशिक्षित तथा गरीब होना इस स्थिति के लिए उत्तरदायी है।

(५) प्रति हेक्टर कम उत्पादन—खेती में प्रति हेक्टर उत्पादन बहुत कम है। इसका मुख्य कारण यह है कि बहुत कम खेतों में रासायनिक खाद, अधिक उत्पत्ति देने वाले बीज तथा खेती के यन्त्रीकृत तरीके काम में लिए जाते हैं।

(६) भूमि का स्वामित्व—भारत में इस बात का प्रचार बहुत किया जाता है कि किसान को भूमि का मालिक बना दिया गया है किन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि भूमि का अधिकांश भाग अब भी खेती न करने वाले वर्गों के कब्जे में है।

कृषि नीति—क्या सरकार को कृषि विकास में हस्तक्षेप करना चाहिए?

अन्य क्षेत्रों की तरह कृषि क्षेत्र में भी इस बात पर विवाद चलता रहता है कि सरकार को खेती के विकास में हस्तक्षेप करना चाहिए या नहीं। कुछ व्यक्तियों का मत है कि खेती के लायक जितनी भूमि है उस पर किसानों का ही अधिकार होना चाहिए और किसानों को अपनी इच्छानुसार खेती करने की छूट होनी चाहिए। यदि उन्हें खेती करने में कोई कठिनाई हो तो सरकार से मदद मिल जानी चाहिए। अमरीका, जापान, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों में इस प्रकार की ही खेती की जाती है।

एक दूसरा विचार यह है कि सारी भूमि पर सरकारी अधिकार होना चाहिए। कौन सी भूमि में क्या वस्तु उत्पन्न की जाय और उसके लिए कौन सी प्रणाली काम में ली जाय यह निश्चित करना सरकार का काम होना चाहिए। सरकार द्वारा इस नीति के अनुसार वहाँ खेती करवायी जानी चाहिए। सोवियत रूस, चीन तथा पूर्वी यूरोप के अनेक देशों में इसी प्रकार खेती की जाती है।

विकासशील देशों के लिए नीति—आर्थिक दृष्टि से विकसित देशों में सरकार को खेती के काम में हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि इनमें खेती की रीतियाँ बहुत विकसित हो जाती हैं। किसान अपने आप खेती के नये तरीके अपना कर अधिक से अधिक उत्पादन कर लेते हैं। किन्तु आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों में खेती की पुरानी रीतियाँ काम में ली जाती हैं, खेती के साधन (खाद, बीज, औजार तथा पूँजी आदि) घटिया या कम होते हैं। इसलिए इन देशों में सरकारी सहायता के बिना खेती का विकास करना सम्भव नहीं है।

भारत मे सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक है—कारण

भारत मे कृषि की विशेषताओ को देखते हुए सरकारी सहायता की बहुत अधिक आवश्यक्ता है। यह सच है कि भारत के किसान को इस बात का पूरा अनुभव है कि कौन सी भूमि किस फसल के लिए उपयोगी है, कौन सी फसल को कब बोया जाना चाहिए तथा उसमे कब और कितनी खाद दी जानी चाहिए किन्तु अनेक काम ऐसे हैं जिनमे किसान कुछ नही कर सकता या जिनमे सरकारी सहायता बहुत आवश्यक है। ऐसे कार्य निम्नलिखित हैं

(१) **सामाजिक पूँजी**—भारत मे नहरें, बाध, नलकूप, सडकें आदि बनवाना, मण्डियो तथा माल बेचने की उचित व्यवस्था करना, खेती के पदार्थ सुरक्षित रखने के लिए गादाम बनवाना आदि ऐसे कार्य हैं जिनके लिए किसान पूँजी की व्यवस्था नही कर सकता। इस पूँजी का प्रबन्ध सरकार ही कर सकती है। यह पूँजी सामाजिक पूँजी कहलाती है क्योकि इसका मुख्य उद्देश्य समाज को लाभ पहुँचाना होता है। इस पूँजी से सरकार को प्रत्यक्ष लाभ प्राप्त नही होता या बहुत समय बाद होने लगता है।

(२) **कृषि अनुसधान**—भारतीय खेती बहुत पिछडी हुई है। इसकी उन्नति के लिए खाद, बीज, बोने की नयी रीति आदि सम्बन्धी अनुसन्धान करने की आवश्यकता है। इस प्रकार के अनुसन्धान करने के लिए प्रयोगशालाएँ स्थापित करना आवश्यक है जिनमे पर्याप्त पूँजी लगानी पडेगी। इस पूँजी की व्यवस्था सरकार ही कर सकती है।

(३) **भूमि सुधार**—कृषि मे उत्पादन बढाने के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण काम यह है कि भूमि का मालिक किसान को बनाया जाना चाहिए। यह काम सरकारी कानून द्वारा ही हो सकता है। इसी प्रकार भूमि का लगान निश्चित करना, लगान से छूट देना, भूमि की चकबदी करना तथा जोत की कम से कम तथा अधिक से अधिक सीमा निर्धारित करने का काम भी सरकार ही कर सकती है। अत सरकार का कृषि व्यवस्था मे हस्तक्षेप बहुत आवश्यक है।

(४) **अकाल के समय**—जिस समय देश के किसी भाग मे अकाल पड जाता है या देश मे ही अनाज की कमी आ जाती है तो अन्न का आयात, मूल्य निर्धारण, राशन व्यवस्था आदि सरकार को ही करनी पडती है। अनेक बार अनाज के आयात के लिए दूसरे देशो की सरकार से सम्पर्क करना पडता है। यह कार्य निजी व्यापारियो द्वारा सम्भव नही है।

(५) **वित्त**—किसानो को समय-समय पर खेती के विकास के लिए रकमे उधार लेनी पडती हैं। यह रकमे समय पर वापस आने का निश्चय नही होता। अनेक बार इनमे देर हो जाती है। यह जोखिम सरकार ही उठा सकती है। यदि बैंक सरकारी क्षेत्र मे हो तो भी यह सम्भव है। कभी कभी सरकार ऐसे ऋणो के भुगतान की गारण्टी कर दती है।

भारत सरकार की नीति

भारत मे प्राचीनकाल मे कृषि की समस्याएँ बहुत जटिल नही थी, प्राय आवश्यकतानुसार सभी प्रकार का माल विभिन्न क्षेत्रों मे उत्पन्न होता था और उसकी खपत नही हो पाती थी। कभी कभी अभाव के समय अन्न आदि दूसरे क्षेत्रो से मँगवाना या भेजना पड़ता था। यह कार्य आकस्मिक थे और सरकार इनके नियमित सचालन के लिए कोई विशेष विभाग नही रखती थी बल्कि आवश्यकता पड़ने पर किन्ही भी कर्मचारियो को यह काम सौंप दिया जाता था।

कृषि विभाग की स्थापना—सन् १८८४ म देश के विभिन्न प्रान्तो मे कृषि विभाग स्थापित कर दिये गये। इन विभागो को कृषि विकास कार्यों के अतिरिक्त भूमि सम्बन्धी रिकार्ड रखन तथा भूमि की रजिस्ट्री आदि का निरीक्षण सम्बन्धी काम भी सौंप दिया गया। इतना काम होने पर भी इन विभागो के सचालन के लिए पर्याप्त रकम स्वीकृत नही की गयी।

कृषि विभागो के कार्य—इनक मुख्य काय निम्नलिखित थे

(१) कृषि फार्मो तथा प्रयोगशालाओ म शोध कार्य को प्रोत्साहित करना ताकि कृषि प्रणालियो मे सुधार हो सक।

(२) कृत्रिम खाद के प्रयोग को प्रोत्साहित करना।

(३) सुधरी हुई किस्म के बीजो के प्रचार तथा वितरण की व्यवस्था करना।

(४) सरकारी फार्मो अथवा निजी खेतो पर कृषि प्रदर्शनकारियो का सगठन करना।

(५) कृषि की नवीन पद्धतियो तथा सुधरे हुए उपकरणो का प्रयोग प्रोत्साहित करने के लिए प्रचार की व्यवस्था करना।

प्रशिक्षण सुविधा की आवश्यकता—सन् १८९२ म डा० वोलकर ने मत प्रकट किया कि भारतीय कृषि का विकास करन के लिए उचित प्रशिक्षण सुविधाओ की आवश्यकता है। फलत १८९२ म केन्द्रीय सरकार ने एक कृषि रसायनशास्त्री नियुक्त किया और १९०१ मे एक कृषि महानिरीक्षक (Inspector General of Agriculture) नियुक्त किया गया, जिसका कार्य केन्द्र तथा प्रान्तीय सरकारो को सलाह देना था। १९१२ मे यह पद समाप्त कर इसका काम सचालक कृषि अनुसन्धान शाला पूसा को सौंप दिया गया। यही व्यक्ति १९२९ तक भारत सरकार के कृषि सलाहकार के रूप मे कार्य करता रहा।

कृषि प्रशिक्षण—पूसा कृषि अनुसन्धान शाला की स्थापना १९०३ मे की गयी और इस शाला के साथ ही कृषि सम्बन्धी शिक्षा के लिए एक विद्यालय भी स्थापित किया गया। लार्ड कर्जन ने कृषि विभागो के कार्य मे विशेष रुचि प्रदर्शित की और उनसे भूमि आदि सम्बन्धी कार्यो का दायित्व ले लिया गया। इसके अतिरिक्त कृषि शोध, प्रदर्शन तथा प्रशिक्षण कार्यो के लिए अधिक रकम की भी व्यवस्था की गयी।

सन् १९०८ मे पूना में कृषि महाविद्यालय की स्थापना की गयी और उसक

पश्चात् क्रमश कानपुर, नागपुर तथा कोयम्बटूर मे भी ऐसे कालेज स्थापित कर दिये गये ।

कृषि मण्डल की स्थापना—सन् १९०५ मे अखिल भारतीय कृषि मण्डल (All India Board of Agriculture) की स्थापना की गयी जिसका उद्देश्य विभिन्न प्रान्तो मे कृषि विभागो के कार्यों मे समन्वय स्थापित करना था । यह मण्डल प्रान्तीय विभागो को सभाएँ बुलाकर कृषि सम्बन्धी योजनाएँ निर्माण करने मे सहयोग देता था और समय-समय पर सरकार को कृषि विकास सम्बन्धी सुझाव देता था ।

शाही कमीशन, १९२६—सन् १९०५ मे कृषि कार्य को बल देने के लिए भारत सरकार ने अखिल भारतीय कृषि सेवा (All India Agricultural Service) की स्थापना की और १९१९ मे कृषि विकास का मद प्रान्तीय सरकारो को सौप दिया किन्तु कृषि की स्थिति बहुत अच्छी नही थी अत सन् १९२६ मे कृषि क्षेत्र मे व्यापक सुधार करने की दृष्टि से कृषि शाही आयोग (Royal Commission on Agriculture) की नियुक्ति की गयी ।

कृषि सम्मेलन—शाही आयोग ने प्राय सारे देश का दौरा किया और कृषि समस्याओं का सर्वांगीण अध्ययन करने के पश्चात् १९२८ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। रिपोर्ट मे कृषि के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए खेती की नवीन प्रणालियो, भूमि सुधार, कृषि साख आदि मे व्यापक सुधार करने की सिफारिशें की गयी । अक्टूबर १९२८ मे शिमला मे एक कृषि सम्मेलन बुलाया गया जिसम प्रान्तो के कृषि मन्त्रियो, सचालको तथा सहकारी समितियो के उच्च अधिकारियो ने भाग लिया । इस सम्मेलन मे देश के विभिन्न भागो मे कृषि विकास के लिए शाही कमीशन की रिपोर्ट को आधार मानकर चलने का निश्चय किया गया । इसके अतिरिक्त शाही आयोग की सिफारिश के अनुसार शाही कृषि अनुसन्धान परिषद की स्थापना का निश्चय किया गया ।

कृषि अनुसन्धान परिषद् (Imperial Council of Agricultural Research)—कृषि आयोग का मत था कि कृषि के वास्तविक विकास के लिए प्रयोग तथा शोध की आवश्यकता है और यह शोध कार्य अत्यन्त उच्चस्तरीय होना चाहिए । भारत सरकार ने इस प्रकार के शोध कार्य के लिए १९२९ मे कृषि अनुसन्धान परिषद् की स्थापना कर दी । यह परिषद् अब भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् के नाम से विख्यात है ।

परिषद् का कार्य कृषि सम्बन्धी शोध करना है और कृषि सम्बन्धी सभी कार्यों मे वह राज्यो तथा केन्द्रीय सरकार को परामर्श देती है । इसके अतिरिक्त वह भारत तथा अन्य देशों मे कृषि तथा पशुपालन सम्बन्धी शोध कार्यों मे समन्वय स्थापित कर उनकी सूचना सर्वत्र प्रसारित करती है । इस कार्य के लिए परिषद् एक पत्रिका निकालती है ।

परिषद् की स्थापना के समय भारत सरकार ने २५ लाख रुपये का तात्कालिक अनुदान दिया और ७.२५ लाख रुपये प्रति वर्ष देने की घोषणा की। वर्तमान मे परिषद का सम्पूर्ण व्यय भारत सरकार वहन करती है। कृषि सम्बन्धी शोध कार्य के अतिरिक्त परिषद् द्वारा देश के विभिन्न भागों मे कृषि प्रदर्शनियाँ सगठित की जाती हैं जहाँ कृषि की सुधरी हुई प्रणालियों का ज्ञान कराने की चेष्टा की जाती है।

रसल राइट जाँच—शाही कृषि आयोग ने यह सुझाव दिया था कि कृषि अनुसन्धान परिषद् की क्रियाओं की समय समय पर जाँच होनी रहनी चाहिए। इस उद्देश्य से भारत सरकार ने १९३६-३७ मे इगलैण्ड से दो विशेषज्ञ सर जॉन रसल तथा डॉ० एन० सी० राइट (Sir John Russell and Dr N. C. Wright) को आमन्त्रित किया। इन विशेषज्ञों ने अपनी रिपोर्ट मे निम्नलिखित सुझाव दिये

(१) शोधकर्ताओं तथा कृषकों मे निकट सम्पर्क स्थापित किया जाय।

(२) फसलों के विनाशक कीटाणु किस प्रकार नष्ट किये जायँ।

(३) व्यावसायिक फसलों सम्बन्धी अनुसन्धान फसलें खरीदने वालों के सहयोग से किया जाना चाहिए और खाद्यान्नों सम्बन्धी शोध कार्य मे पोषक तत्त्व विशेषज्ञों की सहायता ली जानी चाहिए।

(४) भूमि तथा फसलों की रक्षा के लिए भू-सरक्षण तथा फसल सरक्षण समितियों की स्थापना की जानी चाहिए।

(५) फसलों की कीड़ा, बीमारियों तथा अन्य तत्त्वों से रक्षा करने के लिए स्थायी व्यवस्था की जानी चाहिए।

(६) दुग्ध व्यवसाय तथा पशुपालन के सम्बन्ध मे शोध, प्रशिक्षण तथा सलाहकार सेवाओं का विकास किया जाना चाहिए।

(७) परिषद को अधिक वित्तीय सहायता प्रदान की जानी चाहिए।

भारत सरकार द्वारा उक्त सभी सिफारिशें स्वीकार कर ली गयीं और कृषि शोध कार्य तथा व्यवस्था को अधिक शक्तिशाली बनाने की चेष्टा की गयी।

१९४३ का अकाल—सन् १९४३ मे बगाल मे भीषण अकाल पड़ा जिसमे लगभग ३०-३५ लाख व्यक्ति भूख से तड़प-तड़प कर मर गये। इसकी जाँच के लिए सरकार ने एक आयोग नियुक्त किया जिसने १९४५ मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इसकी रिपोर्ट के अनुसार सरकार ने "अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' (Grow More Food Campaign) आरम्भ किया। इस आन्दोलन मे खेती योग्य सारी भूमि को काम मे लाने का लक्ष्य रखा गया और किसानों को हर सम्भव सहायता देने का कार्यक्रम अपनाया गया।

योजना काल

पचवर्षीय योजनाओ मे खेती के विकास को अधिक महत्व देने का प्रयत्न किया गया। इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि पहली योजना मे कृषि और

सिंचाई पर ६०१ करोड रुपया खर्च किया गया जो सरकारी क्षेत्र मे किये गये कुल खर्च का ३१ प्रतिशत था। दूसरी योजना मे कृषि और सिंचाई पर ९५० करोड रुपए खर्च किये गये जो पहली योजना मे कृषि कार्यक्रमो पर किये गये खर्च से डयोढे थे परन्तु यह रकम दूसरी योजना पर किये गये कुल व्यय की केवल २० प्रतिशत थी। इस प्रकार दूसरी योजना मे कृषि का महत्त्व कुछ कम कर दिया गया। इसका कारण यह था कि उद्योग और खनिजो के विकास पर खर्च की गयी रकम मे बहुत वृद्धि कर दी गयी थी।

तीसरी योजना—मे कृषि तथा सिंचाई पर २३५४ करोड रुपया खर्च किया गया। यह रकम कुल योजना व्यय की लगभग ३२ प्रतिशत थी। इस प्रकार तीसरी योजना मे कृषि को लगभग उतना ही महत्त्व दिया गया था जितना पहली पचवर्षीय योजना मे दिया गया।

तीसरी योजना के पश्चात् तीन वर्ष तक योजना का अवकाश काल था किन्तु सरकार ने एक वर्षीय योजनाओ द्वारा नियोजन का क्रम जारी रखा। इन तीन वर्षों (अप्रैल १९६६ से मार्च १९६९ तक) मे कृषि तथा सिंचाई के कार्यक्रमो पर लगभग १६२४ करोड रुपये की रकम खर्च की गयी। यह रकम इन तीन वर्षों मे नियोजन पर खर्च की गयी कुल रकम की लगभग २४ प्रतिशत थी। इससे स्पष्ट है कि तीन वार्षिक योजनाओ मे भी कृषि के विकास पर उतना ध्यान नही दिया गया जितना पहली और दूसरी योजना मे दिया गया था।

चतुर्थ योजना—(१९६९ ७४) मे लोक क्षेत्र मे कुल १५,९०२ करोड रुपया खर्च किया जायेगा। इसमे से लगभग ३,८१५ करोड रुपया कृषि और सिंचाई पर व्यय होगा। इस प्रकार खेती और सिंचाई पर सार्वजनिक क्षेत्र के कुल व्यय का लगभग २४ प्रतिशत भाग खर्च किया जायेगा। यह अश उतना ही है जितना वार्षिक योजनाओ मे कृषि पर व्यय किया गया था। इस प्रकार चतुर्थ योजना काल मे खेती के विकास को कोई विशेष प्राथमिकता नही दी गयी है, उसे सामान्य महत्त्व दिया गया है।

क्या योजना काल में कृषि नीति सही रही है ?

योजना काल मे कृषि विकास पर जो रकम खर्च की गयी हैं वह कृषि के सर्वतोमुखी विकास के लिए खर्च की गयी हैं। इस प्रकार कृषि मे निम्नलिखित कार्यक्रम सम्मिलित रहे हैं

(i) कृषि शिक्षा तथा अनुसधान, (ii) भूमि का सरक्षण, (iii) भूमि विकास, (iv) पशु पालन, (v) दुग्ध व्यवसाय का विकास, (vi) मछली पालन (vii) वन, (viii) बिक्री तथा गोदाम व्यवस्था, (ix) सहकारिता, (x) सामुदायिक विकास, तथा (xi) पचायती राज।

इन सब कार्यों के लिए पिछले १८ वर्ष मे जो रकम खर्च की गयी और चौथी योजना मे जो रकमे खर्च करने का प्रावधान है, वह स्पष्ट करती हैं कि कृषि

विकास के कार्यक्रमो को जो महत्त्व दिया जाना था वह नहीं दिया गया। वास्तव में, भारतीय अर्थ-व्यवस्था म कृषि एक आधारभूत व्यवसाय है जिस पर देश का सारा आर्थिक ढाँचा खड़ा है। इस महत्त्व को देखते हुए कृषि कार्यक्रमो के लिए आवश्यकता के अनुसार रकम की व्यवस्था नहीं की गयी। यह बात निम्नलिखित तथ्यो से सिद्ध हो सकती है -

(i) भारत अब भी खाद्यान्नो का निरन्तर आयात कर रहा है।

(ii) भारत म रुई, पटसन तथा तिलहन की अब भी कमी प्रतीत होती है।

(iii) भारतीय कृषि अब भी मानसून पर निर्भर है।

नयी कृषि नीति
[NEW AGRICULTURAL STRATEGY]

सन् १९६०-६१ मे कृषि विकास के लिए नयी नीति अपनायी गयी। इस नीति के अनुसार देश मे हरित क्रान्ति (Green Revolution) लाने का उद्देश्य अपनाया गया। हरित क्रान्ति का अर्थ है देश मे खेती के पदार्थों के उत्पादन मे बहुत तेजी से वृद्धि करना। यह वृद्धि कई रीतियाँ अपना कर करने का निश्चय किया गया। इन रीतियों मे खेती की नयी प्रणाली अपनाना, सकर बीजों से अधिक उपज देने वाली फसलें उगाना, रासायनिक खाद तथा कीटाणुनाशक पदार्थों का अधिक प्रयोग तथा पशु पालन एव दुग्ध व्यवसाय की उन्नति करना सम्मिलित हैं।

नयी कृषि नीति या हरित क्रान्ति के मुख्य तत्त्व निम्न-लिखित हैं

मुख्य तत्त्व

(१) गहन कृषि कार्यक्रम—नयी कृषि नीति क अन्तर्गत पहला काम यह किया गया कि १९६०-६१ मे तीन जिले छाँट लिए गय और इन जिलो मे खेती के विकास के लिए गहरे प्रयत्न आरम्भ किय गय। कुछ समय पश्चात् ही इस कार्यक्रम को दस अन्य जिलो मे भी लागू कर दिया गया। १९६४ ६५ मे इस कार्यक्रम को देश के अनेक भागो म लागू कर दिया गया और इसका नाम बदल कर गहन कृषि क्षेत्र कार्यक्रम (Intensive Agriculture Area Programme) रख दिया गया।

इस कार्यक्रम की दो मुख्य बातें थी

(i) विशिष्ट फसलें—इस कार्यक्रम का लक्ष्य कुछ विशेष फसलो का उत्पादन बढ़ाना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए गहरी खेती करने का प्रयोजन किया गया।

(ii) पुराने बीज—इस कार्यक्रम के लिए पुराने ढग के बीजो से ही उत्पादन बढ़ाने का प्रयत्न किया गया। इन बीजों पर रासायनिक खाद का कोई विशेष प्रभाव नहीं था।

(२) अधिक फसल देने वाली किस्में—सरकार ने पहली दो योजनाओ के काल में यह अनुभव कर लिया है कि पुराने ढग के बीजों से गहन खेती करने का

कोई महत्व नही है। उत्पादन मे वास्तविक वृद्धि करने के लिए ऐसे बीज तैयार किए जाने चाहिए जो पहले से कई गुनी फसल दें। सन् १९६० मे मक्का और ज्वार, बाजरे की सकर किस्मे तैयार की गयी। सन् १९६३ मे सकर बीजो का बड़े पैमाने पर प्रयोग आरम्भ हो गया। इन प्रयोगो का परिणाम यह हुआ कि सकर मक्का, सकर ज्वार तथा सकर बाजरे के अतिरिक्त गेहूँ की मैक्सिकन किस्म की बुवाई आरम्भ की गयी। धान की भी अधिक फसल देने वाली किस्मे निकाली गयी।

सन् १९६६ से अधिक फसल देने वाली किस्मो का बड़े पैमाने पर प्रयोग आरम्भ कर दिया गया। १९६७-६८ तक लगभग ६० लाख हेक्टर भूमि मे सुधरी हुई किस्मो के बीज बोये जाने लगे और चतुर्थ योजना के आरम्भ मे (१९६९) अधिक फसल देने वाली फसलो के बीजो का प्रयोग लगभग ९२ लाख हेक्टर भूमि मे होने लगा।

पाँच वस्तुएँ—ऊँची उपज देने वाली किस्मो का विकास मुख्यत. पांच फसलो मे होने लगा है जिनके नाम हैं गेहूँ, चावल, बाजरा, मक्का तथा ज्वार, इन पाँचो में भी सबसे अधिक सफलता गेहूँ को मिली है। पुराने बीजो से गेहूँ की उत्पत्ति सिंचित क्षेत्रो मे प्राय २ टन प्रति हेक्टर होती थी। नयी बौनी किस्मो का गेहूँ एक हेक्टर मे ५ से ६ टन तक उत्पत्ति देता है। ज्वार, बाजरा तथा मक्का की सकर किस्मे भी तीन गुनी तक उपज देने लगी हैं परन्तु चावल की उपज के परिणाम विशेष सतोषजनक नही हैं क्योकि नई किस्मो मे कीडा लगने का भय अधिक है। इसीलिए चावल की नयी किस्मो पर अधिक अनुसधान किया जा रहा है।

चतुर्थ योजना की समाप्ति (मार्च १९७४) तक लगभग २ ५ करोड हेक्टर भूमि मे उन्नत किस्म की फसलो के बीज बोये जाने का लक्ष्य रखा गया है। इसमे १ करोड हेक्टर भूमि मे चावल तथा ७७ लाख हेक्टर भूमि मे गेहूँ बोने का प्रावधान है। इतनी अधिक भूमि मे उन्नत किस्म के बीज बोने से देश मे खाद्यान्नो की कमी दूर हो जाने की आशा रखना सर्वथा स्वाभाविक है।

(३) बहु फसल कार्यक्रम—नयी कृषि नीति मे केवल अधिक उपज प्राप्त करने का ही लक्ष्य नही है बल्कि कई-कई फसलें प्राप्त करने का भी लक्ष्य रखा गया है। चावल, मक्का, ज्वार तथा बाजरे की शीघ्र तैयार होने वाली किस्मे निकाल ली गयी हैं। ऐसी व्यवस्था की जाती है कि जल्दी तैयार होने वाली फसल को काटकर उसकी भूमि मे तुरन्त दूसरी फसल बो दी जाती है। इसे फसलो की अदला-बदली (Rotation of crops) कहते हैं। फसलो की अदला-बदली के कार्यक्रम मे ज्वार, रागी, तिलहन, आलू तथा सब्जियो को भी शामिल किया गया है।

बहु फसल कार्यक्रम १९६७-६८ मे आरम्भ किया गया था और १९६८-६९ तक लगभग ६० लाख हेक्टर भूमि मे इसका लाभ उठाया जा रहा था। सन् १९७४ तक लगभग १ २ करोड हेक्टर भूमि मे बहु फसल कार्यक्रम का प्रयोग होने लगेगा।

(iv) निजी क्षेत्र—शेष सभी उद्योग निजी क्षेत्र के लिए छोड दिये गये। इन उद्योगों पर सरकार के सामान्य नियन्त्रण की व्यवस्था की गयी।

(३) कुटीर तथा लघु उद्योग—औद्योगिक नीति प्रस्ताव मे कुटीर उद्योगो के विकास पर विशेष जोर दिया गया ताकि कम पूँजी द्वारा अधिक व्यक्तियों को रोजगार दिया जा सके।

(४) तटकर नीति—प्रस्ताव मे यह कहा गया कि सरकार ऐसी तटकर नीति अपनायगी जिससे भारतीय उद्योगो को विदेशी स्पर्द्धा से बचाया जा सके। उसका भार साधारण नागरिक (उपभोक्ता) पर भी नहीं होना चाहिए।

(५) कर नीति—प्रस्ताव मे यह घोषणा की गयी कि कर नीति मे ऐसे परिवर्तन किये जायेंगे कि देश मे पूँजी लगाने को प्रोत्साहन मिले किन्तु आर्थिक सत्ता के सकेन्द्रण को रोका जायेगा।

(६) श्रम नीति—श्रमिको की मजदूरी तथा आवास सम्बन्धी समस्याओं का समाधान करने की घोषणा की गयी और श्रमिको को उद्योगो के प्रबन्ध मे प्रतिनिधित्व देने की घोषणा की गयी।

(७) विदेशी पूँजी—प्रस्ताव में कहा गया कि आर्थिक विकास के लिए विदेशी पूँजी को प्रोत्साहित किया जायगा किन्तु उद्योगो पर नियन्त्रण भारतीय व्यवसायियों का ही बनाये रखने का प्रयत्न किया जायेगा।

१९४८ की औद्योगिक नीति की आलोचना

औद्योगिक नीति प्रस्ताव का मिश्रित स्वागत किया गया। कुछ व्यक्तियों ने इसे प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद बतलाया जबकि कुछ व्यक्तियों ने इसे ढिलमिल एव अस्पष्ट नीति की सज्ञा दी। इस नीति की मुख्य आलोचनाएँ निम्नलिखित थीं .

(१) मिश्रित अर्थ व्यवस्था—इस प्रस्ताव मे एक मिश्रित अर्थ-व्यवस्था को अपनाने का निश्चय किया गया था। (इसे मिश्रित इसलिए कहा जाता है कि कुछ उद्योग सरकारी क्षेत्र मे, कुछ केवल सरकारी नियन्त्रण में तथा शेष निजी क्षेत्र के लिए निर्धारित कर दिये गये थे)। अनेक व्यक्ति देश मे समाजवादी व्यवस्था लाना चाहते थे, उन्होंने इसे पसद नही किया।

(२) पूँजी विनियोग में हानि—भारत में उस समय उद्योगों मे बहुत अधिक पूँजी लगाने की आवश्यकता थी। पूँजीपतियो का यह मत था कि इस नीति से पूँजी लगाने के प्रति कोई उत्साह उत्पन्न नही होता। वास्तव मे, नयी पूँजी का विनियोग प्राय बन्द हो गया।

(३) राष्ट्रीयकरण का भय—औद्योगिक नीति प्रस्ताव मे यह कहा गया था कि सरकार दस वर्ष बाद उद्योगों को सरकारी स्वामित्व मे ले सकती है। इससे उद्योगपतियों मे भय उत्पन्न हो गया और उद्योगों का विकास रुक गया।

(४) उत्पादन को महत्त्व—औद्योगिक नीति प्रस्ताव मे उत्पादन वृद्धि को विशेष महत्त्व दिया गया था जो सर्वथा उचित था किन्तु वितरण के सम्बन्ध मे कोई

स्पष्ट नीति नही अपनायी गयी। वास्तव मे उत्पादन के साथ-साथ वितरण की रूप-रेखा भी तैयार करनी आवश्यक है।

(५) अस्पष्ट एव असन्तोषजनक—सरकार की इस नीति पर अस्पष्टता का आरोप लगाया गया। उद्योगों का राष्ट्रीयकरण, श्रमिको का प्रबन्ध तथा लाभ मे हिस्सा आदि की बातें कर सरकार ने समाजवादी होने का दावा किया किन्तु आय कर मे छूट देकर तथा करो की चोरी को सहन कर सरकार ने पूँजीपति वर्ग को सतुष्ट करने का प्रयत्न किया। यह दोहरी नीति किसी भी दिशा मे ले जाने मे समर्थ नही थी।

एक समन्वयवादी तथा सन्तुलित नीति—औद्योगिक नीति प्रस्ताव में जिस नीति की घोषणा की गयी वह एक प्रकार की उदार समाजवादी व्यवस्था थी। उस समय देश मे नये-नये उद्योग स्थापित करने तथा उत्पादन मे वृद्धि करने की आवश्यकता थी। इन दोनो दृष्टिकोणो से इस नीति को सर्वथा उपयुक्त कहा जा सकता है।

उद्योग (विकास एव नियमन) अधिनियम १६५१

सन् १६४८ के औद्योगिक नीति प्रस्ताव को कार्यान्वित करने के लिए अक्टूबर १६५१ मे भारतीय ससद ने एक अधिनियम पास किया जिसे ८ मई, १६५२ को लागू किया गया। इस कानून मे उद्योगो के पजीयन की व्यवस्था की गयी। देश मे कोई भी नयी औद्योगिक इकाई सरकार से लाइसेंस लिए बिना स्थापित नही की जा सकती थी। इस कार्य के लिए एक लाइसेंस समिति की स्थापना की गयी। उद्योगो के विकास तथा नियमन के बारे म सरकार को सलाह देने के लिए एक केन्द्रीय सलाहकर समिति भी बनायी गयी।

इस अधिनियम द्वारा सरकार को अपनी नीति पालन करने का अवसर मिल गया क्योंकि सरकार ऐसी औद्योगिक इकाइयो को लाइसेंस देने से मना कर सकती थी जो देश के हित मे नही हो या सरकारी नीति के अनुकूल नहीं हो।

इस अधिनियम द्वारा उद्योगो का किसी खास क्षेत्र मे सकेन्द्रण भी रोका जा सकता था। इस प्रकार प्रादेशिक सन्तुलन का लक्ष्य भी पूरा करना सम्भव था।

१६५६ की नयी औद्योगिक नीति

सन् १६४८ की औद्योगिक नीति की घोषणा होने के पश्चात् देश की आर्थिक राजनीतिक नीतियो मे अनेक परिवर्तन हो गये जिनके कारण १६५६ मे नयी औद्योगिक नीति की घोषणा की गयी।

उद्देश्य—सन् १६५६ की औद्योगिक नीति के उद्देश्य निम्नलिखित थे

(१) आर्थिक विकास की दर मे वृद्धि करना तथा औद्योगिक विकास की गति तेज करना,

(२) लोक क्षेत्र का विस्तार करना,

(३) सरकारी क्षेत्र को सबल बनाने मे सहायता करना,

(४) एकाधिकार तथा आर्थिक सत्ता के सकेन्द्रण को रोकना,

(५) आय तथा सम्पत्ति की असमानता को कम करना।

वास्तव मे कांग्रेस के अवडी सत्र मे समाजवादी नीति अपनाने का प्रस्ताव पास किया गया था। १९५६ की औद्योगिक नीति इस प्रस्ताव को लागू करने का प्रयत्न मात्र था।

औद्योगिक नीति के मुख्य तत्त्व—१९५६ की औद्योगिक नीति के मुख्य तत्त्व निम्नलिखित हैं

(१) उद्योगों का वर्गीकरण—सारे उद्योगो का वर्गीकरण तीन भागो में किया गया .

(i) अनुसूची अ—इसमे उन उद्योगो को सम्मिलित किया गया जो १९४८ की औद्योगिक नीति की प्रथम तथा द्वितीय श्रेणियो मे थे। इन उद्योगो को विकसित करने की जिम्मेदारी पूर्णत सरकार पर डाली गयी।

अनुसूची अ मे १८ उद्योग सम्मिलित किये गये हैं।[1] इनमे जो इकाइयां निजी क्षेत्र मे चल रही थी उनका विकास निजी क्षेत्र द्वारा किया जा सकता था। इनमे नयी इकाइयां स्थापित करते समय सरकार निजी क्षेत्र का सहयोग ले सकती थी।

(ii) अनुसूची ब[2]—इस अनुसूची मे १२ उद्योग सम्मिलित हैं जो धीरे-धीरे राज्य के स्वामित्व मे आ जायेंगे। इनमे नयी इकाइयां सरकार द्वारा ही स्थापित करने की व्यवस्था की गयी।

(iii) अन्य—शेष उद्योगों को तीसरी श्रेणी मे रखा गया और इनकी स्थापना और विकास का काम निजी साहस पर छोड़ा गया। सरकार भी इनमे से कोई उद्योग स्थापित कर सकती है।

(२) कुटीर एव उद्योग—इनको विशेष सहायता देकर विकसित करने का निर्णय किया गया।

---

१ अनुसूची 'अ' मे निम्नलिखित उद्योग हैं—अस्त्र शस्त्र, अणु शक्ति, लोहा व इस्पात, लोहे व इस्पात की भारी ढलाई व तैयारी, भारी मशीनें भारी बिजली के यन्त्र, कोयला व लिगनाइट, खनिज तेल, कच्चा लोहा, मैंगनीज क्रोम, जिप्सम, गन्धक, सोना व हीरों का खनन, तांबा, सीसा, जस्ता, रांगा आदि की खानें खोदना व कच्चा माल सुधारना, अणु शक्ति उत्पादन से सम्बन्धित खनिज, हवाई जहाज बनाना, हवाई यातायात, रेल यातायात, समुद्री जहाज बनाना, टेलीफोन एव उसके तार, तार एव बेतार का सामान (रेडियो रिसीविंग सेट छोड़कर) और बिजली का उत्पादन एव वितरण।

२ अनुसूची 'ब' के उद्योग इस प्रकार हैं—छोटे खनिजों को छोड़कर 'अन्य खनिज पदार्थ', अल्यूमीनियम एव अलोह धातुएँ जो प्रथम सूची मे नहीं हैं, मशीन-औजार, फेरोएलॉयज एव टूल स्टील, रासायनिक उद्योगों की आधारभूत सामग्री, दवाइयां, खाद, कृत्रिम रबर, कोयले का कार्बोनाइजेशन, रासायनिक घोल, सड़क यातायात एव समुद्री यातायात।

(३) क्षेत्रीय सन्तुलन— पिछडे हुए क्षेत्रो मे परिवहन तथा बिजली की सुविधाओं का विस्तार करने की व्यवस्था की गयी ताकि उन क्षेत्रो मे औद्योगिक विकास तेजी से किया जा सके।

(४) श्रम नीति—देश के उद्योगो मे शान्ति का वातावरण बनाये रखने के लिए श्रम कानूनो मे आवश्यक सुधार की व्यवस्था की गयी तथा श्रमिकों को उद्योगो के प्रबन्ध मे भाग देने का निर्णय लिया गया।

(५) तकनीकी शिक्षा—उद्योगो से सम्बन्धित क्षेत्रो मे तकनीकी शिक्षा की व्यवस्था करने का निर्णय किया गया।

(६) निजी क्षेत्र को सहायता—सरकार द्वारा निजी क्षेत्र को आर्थिक सहायता देने का वचन दिया गया।

दोनों प्रस्तावों (१९४८ तथा १९५६) मे अन्तर—औद्योगिक नीति सम्बन्धी दोनो प्रस्तावो मे निम्नलिखित अन्तर दृष्टिगोचर होते हैं

(१) लोक क्षेत्र का विस्तार—सन् १९४८ के प्रस्ताव मे उद्योगो को चार वर्गों मे विभाजित किया था जबकि १९५६ के प्रस्ताव मे उन्हे तीन ही वर्गों मे बाँटा गया। नयी औद्योगिक नीति के अनुसार सार्वजनिक क्षेत्र को बढा कर उसमे उद्योगो की सख्या पहले से अधिक कर दी गयी।

१९४८ की नीति के अनुसार केवल तीन उद्योगो पर सरकार का एकाधिकार था और ६ उद्योग ऐसे थे जिनमे नयी इकाइयो की स्थापना सरकार ही कर सकती थी। इसके अतिरिक्त १८ उद्योगो का सरकार द्वारा नियमन तथा नियन्त्रण होना था शेष उद्योग पूर्णतया निजी क्षेत्र के लिए छोड दिये गये थे। परन्तु सन् १९५६ की नीति के अनुसार किसी भी उद्योग की स्थापना सरकार द्वारा की जा सकती है तथा १७ आधारभूत उद्योगो का विकास केवल सार्वजनिक क्षेत्र मे ही किया जा सकता है।

(२) राष्ट्रीयकरण—सन् १९४८ की नीति मे यह कहा गया था कि द्वितीय श्रेणी के उद्योगो के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर १० वर्ष पश्चात् पुनर्विचार होगा परन्तु सन् १९५६ की नीति मे राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध मे कोई व्यवस्था नही दी गयी है, बल्कि एक प्रकार का आश्वासन दिया गया कि प्रथम श्रेणी से सम्बन्धित निजी उद्योगो का राष्ट्रीयकरण नही किया जायेगा। इस प्रकार दूसरी औद्योगिक नीति मे निजी उद्योगो को राज्य द्वारा लिए जाने के सम्बन्ध मे कुछ भी नही कहा गया है।

(३) निजी क्षेत्र—एक प्रकार से निजी क्षेत्र का भी नयी नीति मे विस्तार किया गया। तीनों श्रेणियो के अन्तर्गत चले आ रहे निजी उद्योग का विकास सार्वजनिक उद्योगो के साथ-साथ होता रहेगा, परन्तु वह राज्य के नियन्त्रण मे रहेगे जिससे कि जनहित की रक्षा हो सके।

(४) सहकारी क्षेत्र—सन् १९४८ की औद्योगिक नीति मे सहकारी क्षेत्र पर

जोर नहीं दिया गया था, जबकि १९५६ की नीति के अनुसार निजी क्षेत्र का विस्तार जहाँ तक सम्भव होगा, सहकारी रूप मे करने की व्यवस्था की गयी है।

(५) शिथिल विभाजन—सन् १९४८ की नीति के अनुसार उद्योगों का वर्गीकरण कठोर ढंग से किया गया था परन्तु सन् १९५६ की नीति में उद्योगों का वर्गीकरण शिथिल है। योजना तथा देश की आवश्यकताओं के अनुसार किसी भी उद्योग की स्थापना किसी भी क्षेत्र मे की जा सकती है।

सन् १९५६ की नीति की समालोचना

सन् १९५६ की औद्योगिक नीति के सम्बन्ध मे विभिन्न मत पाये जाते हैं। इस नीति की विभिन्न क्षेत्रों मे निम्नलिखित आलोचनाएँ की गयी हैं

(१) ऊपरी तौर से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह नीति निजी क्षेत्र के प्रति अधिक उदार है परन्तु वस्तुत. इस नीति द्वारा निजी क्षेत्र को सकुचित करने का प्रयत्न किया गया है। इस नीति मे राष्ट्रीयकरण की धमकी परोक्ष रूप मे विद्यमान है।

(२) लोच—औद्योगिक नीति के प्रस्ताव मे लोच (flexibility) पर जोर दिया गया परन्तु इसका प्रयोग 'सार्वजनिक क्षेत्र' के लिए किया जायेगा क्योंकि सरकार किसी भी उद्योग को प्रारम्भ कर सकती है। इस प्रकार 'अनुसूची ब' के उद्योगों के क्षेत्र मे निजी क्षेत्र का स्थान गौण रहेगा और तृतीय श्रेणी के उद्योगों मे भी सरकार का दखल रहेगा।

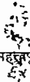
(३) सहकारी क्षेत्र के विस्तार की जो बात प्रस्ताव मे कही गयी है वह भी भ्रामक है। वस्तुत. सहकारी क्षेत्र सरकार के निर्देशन पर ही कार्य करेगा और निजी क्षेत्र के प्रतिनिधियों का स्थान सदैव गौण रहेगा। इस प्रकार भारत मे सहकारिता के नाम पर राजकीय पूँजीवाद (State Capitalism) को बढ़ावा देने का प्रयत्न किया गया है।

(४) औद्योगीकरण के प्रश्न पर सरकार ने सिद्धान्तों का ही ध्यान रखा है, व्यावहारिकता पर ध्यान नहीं दिया है। निजी क्षेत्र के महत्त्व में जो कमी की गयी, वह अवांछनीय थी। प्रथम योजना-काल में निजी क्षेत्र की सफलता को देखते हुए उसे प्रमुख स्थान प्रदान करना चाहिए था।

(५) विदेशी पूँजी के विषय मे प्रस्ताव मे कोई व्यवस्था नहीं की गयी। यदि इसके सम्बन्ध में नीति स्पष्ट होती तथा राष्ट्रीयकरण का क्षेत्र निश्चित कर दिया गया होता तो विदेशी पूँजीपति निशक होकर भारत मे अधिक पूँजी विनियोजन कर सकते थे।

सन् १९५६ की औद्योगिक नीति देश के लिए उत्तम है

उपर्युक्त आलोचनाएँ बहुत कुछ एक-पक्षीय हैं। वास्तव मे, वर्तमान औद्योगिक



नीति देश मे समाजवादी समाज की स्थापना करने की दिशा मे एक महत्वपूर्ण कदम है, जिसका अनुमान निम्नलिखित तथ्यो से हो सकता है :

(१) **सरकारी तथा निजी क्षेत्रों का विकास**—नयी औद्योगिक नीति मे सरकार द्वारा बहुत बडे-बडे तथा कुछ सार्वजनिक हित के उद्योग लेने की घोषणा की गयी है। सरकार द्वारा रेल के इजन, दवाइयाँ, खाद, रसायन, तेल आदि भारी पूँजी वाले उद्योगो के अतिरिक्त कुछ उपभोक्ता समान उत्पन्न करने की इकाइयाँ (सीमेण्ट, चीनी आदि) भी स्थापित की गयी हैं। इससे निजी साहस को किसी प्रकार कम करने का उद्देश्य नही है बल्कि उसके लिए यह अवसर है कि वह सरकारी क्षेत्र के उद्योगो से अधिक कार्यक्षमता प्रदर्शित कर अपने योगदान का अधिकाधिक महत्त्व प्रमाणित करें।

योजना काल मे भारत की सम्पूर्ण उत्पादक सम्पदा मे लोक क्षेत्र का भाग जो १५ प्रतिशत से बढकर ३५% हो गया है। अनेक असफलताओ के होने पर भी सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार से देश मे इजीनियरिंग, औषध, रसायन, खाद तथा इस्पात उद्योगो का विकास हुआ है।

(२) **निजी उद्योगों पर नियन्त्रण**—विकासशील देशो मे प्रायः योजनाबद्ध विकास करना होता है और इस कार्य के लिए एक ओर तो प्राथमिकताएँ निश्चित करनी पडती हैं, दूसरी ओर सभी उद्योगो का विकास उचित दिशाओ मे हो रहा है यह ध्यान रखना पडता है। इस दृष्टि से भारत मे निजी क्षेत्र के उद्योगो पर नियन्त्रण की जो व्यवस्था की गयी है वह उचित ही नही, आवश्यक भी है। इस कार्य के औचित्य का प्रमाण इस तथ्य से मिलता है कि गत वर्षो मे भारत सरकार तथा राज्य सरकारों द्वारा कई अकुशल एव बन्द फैक्टरियो और मिलो का प्रबन्ध सम्भालकर उन्हें चालू किया गया है। नये उद्योगो के लिए लाइसेंस तथा पूँजी विनियोग के लिए पूर्व अनुमति का उद्देश्य यही है कि देश मे पहले वही उद्योग विकसित हों जिनकी अत्यधिक आवश्यकता है तथा विभिन्न क्षेत्रो मे उद्योगो के विकास मे पर्याप्त सन्तुलन बना रहे। इन सभी दृष्टिकोणों से नयी औद्योगिक नीति के अन्तर्गत सरकार द्वारा सब क्षेत्रों मे औद्योगिक विकास करना तथा नये-पुराने सभी उद्योगों के विकास का नियमन एव नियन्त्रण करना सर्वथा न्यायसगत है।

(३) **एकाधिकार का नियन्त्रण**—प्रो० जे० पी० ल्यूइस ने अपनी पुस्तक *Quiet Crisis in India* मे यह मत प्रकट किया है कि भारत मे औद्योगिक एकाधिकार की प्रवृत्तियाँ बहुत प्रबल हैं। इस मत की पुष्टि राष्ट्रीय आय सकेन्द्रण समिति ने भी की है। इस दृष्टि से भारतीय औद्योगिक नीति ऐसी होनी चाहिए कि औद्योगिक साम्राज्य (Industrial Empire) का अन्त हो सके। १९५६ का औद्योगिक नीति प्रस्ताव इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण कदम है। वास्तव मे, आवश्यकता इस बात की है कि सरकार इस प्रस्ताव की भावना को सही रूप मे कार्यान्वित करने की दिशा मे उचित कदम उठाये। सरकार द्वारा सभी क्षेत्रों मे औद्योगिक

विकास के लिए नये-नये उद्योगपतियों को लाइसेंस देने से औद्योगिक एकाधिकार का अन्त करने में सहायता मिल सकेगी। चीनी, सीमेण्ट तथा दियासलाई उद्योगों में इस एकाधिकार के अन्त के लक्षण प्रकट होने लगे हैं। यह अत्यन्त सन्तोषजनक स्थिति है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि नयी औद्योगिक नीति में एक ओर तो सरकारी क्षेत्र को अधिकाधिक विकसित करने का प्रावधान है, दूसरी ओर निजी क्षेत्र को विकेन्द्रित रूप में विस्तृत करने की व्यवस्था है। अनेक क्षेत्रों में सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्रों का सामञ्जस्य एवं सहयोग किया जा सकता है। इस प्रकार देश के औद्योगिक विकास के लिए सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र में एक ओर तो होड़ लग गयी है, दूसरी ओर उनमें सहयोग का वातावरण बन गया है। तीसरे सहकारी क्षेत्र द्वारा भी औद्योगिक विकास की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम उठाये गये हैं, उदाहरण के तौर पर, देश के शक्कर (चीनी) उत्पादन का लगभग तृतीयांश सहकारी चीनी फैक्टरियों द्वारा किया जाता है। अतः भारत में समाजवादी समाज की स्थापना करने के लिए नयी औद्योगिक नीति के अनुसार औद्योगिक विकास करना सर्वथा श्रेयस्कर होगा।

आधुनिक प्रवृत्तियाँ
[RECENT TRENDS]

गत वर्षों में निरन्तर यह अनुभव किया गया है कि भारत में उद्योगों को लाइसेंस देने की प्रणाली दोषपूर्ण है और लाइसेंस व्यवस्था के कारण पक्षपात और भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलता है। डा० आर० के० हजारी की रिपोर्ट से बिड़ला संस्थाओं को अत्यधिक उदारतापूर्वक लाइसेंस देने के तथ्य प्रकाश में आये हैं। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि देश में औद्योगिक विकास की गति तीव्र करने के लिए औद्योगिक नीति में कुछ उदारता लाने की आवश्यकता है। इन बातों को ध्यान में रखकर ही गत वर्षों में औद्योगिक नीति में निम्नलिखित परिवर्तन किये गये हैं

(१) लाइसेंस की छूट—औद्योगिक विकास और विनियम अधिनियम के अन्तर्गत ४२ उद्योगों को बिना लाइसेंस लिए नयी इकाइयां स्थापित करने तथा पुरानी इकाइयों का विस्तार करने की छूट दी गयी है। इन उद्योगों में सीमेण्ट, लुग्दी, कागज, अखबारी कागज आदि बनाने सम्बन्धी उद्योगों के अतिरिक्त कृषि से सम्बन्धित बहुत से आवश्यक उद्योग जैसे बिजली से चलने वाले पम्प, पानी छिड़कने के यन्त्र, मिश्रित रासायनिक खाद और मशीनी इंजन बनाने के उद्योग तथा बाइसिकिल और सिलाई की मशीन बनाने के उद्योग सम्मिलित हैं। इन उद्योगों को लाइसेंस से छूट देने का एक उद्देश्य देश के निर्यात में वृद्धि करना है।

(२) निर्यात उद्योगों को प्रोत्साहन—इंजीनियरिंग उद्योगों में उत्पादन को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से १९६५ में ही कुछ छूट दी गयी थी जिसे अक्टूबर १९६६ से अन्य कुछ उद्योगों के लिए भी दे दिया गया है इस छूट के अन्तर्गत उन उद्योगों

को जिनके लिए विदेशी मुद्रा की आवश्यकता नही है, जिनके लिए नयी मशीनें लगाना आवश्यक नही है और जिनसे प्राप्त नवीन उत्पादन कुल उत्पत्ति के २५ प्रतिशत से अधिक नही है, उसके लिए लाइसेंस लेना आवश्यक नही है।

जिन उद्योगो द्वारा विदेशी निर्यात के लिए माल निर्माण किया जाता है वह नवीन प्रणालियो का प्रयोग करने के लिए इस सुविधा का लाभ उठा सकते हैं।

(३) उत्पादन वृद्धि—अक्टूबर १६६६ मे यह घोषणा की गयी थी कि औद्योगिक कम्पनियाँ बिना लाइसेंस लिए कुछ शर्तों पर लाइसेंस मे निर्धारित क्षमता से २५ प्रतिशत तक अधिक उत्पादन कर सकती हैं। इस सुविधा का उद्देश्य वर्तमान औद्योगिक क्षमता का अधिकाधिक प्रयोग सम्भव बनाना है।

(४) कल पुर्जों का आयात—जून १६६६ मे भारतीय मुद्रा का अवमूल्यन करने के पश्चात् भारत सरकार ने ५६ उद्योगो की एक सूची प्रकाशित की जिन्हे आवश्यकता पड़ने पर मशीनो के हिस्से, कच्चा माल तथा फालतू पुर्जों के आयात लाइसेंस देने मे प्राथमिकता दी जा रही है। इस सुविधा से जिन औद्योगिक इकाइयो को मशीनो के पुर्जे नहीं होने से उत्पादन कम या बन्द कर देना पड़ा था उन्हे उत्पादन वृद्धि मे सहायता मिलने लगी है। इससे दूसरा लाभ यह हुआ कि इन उद्योगो को अपने पास विदेशी कल पुर्जों का बहुत स्टॉक नही रखना पड़ेगा अत उनकी पूँजी व्यर्थ पड़ी नही रह सकेगी।

(५) पिछड़े क्षेत्रो के लिए विशेष सहायता—१५ जुलाई, १६७१ से अविकसित क्षेत्रों (काश्मीर, असम, मेघालय, नागालैंड, मनीपुर, त्रिपुरा तथा नेफा) मे स्थापित किये जाने वाली नयी औद्योगिक इकाइयो के लिए कच्चे तथा निर्मित माल पर ५० प्रतिशत परिवहन सहायता दी जायगी अर्थात् इनको परिवहन खर्च का केवल आधा भाग चुकाना पड़ेगा, आधा व्यय सरकार देगी। इससे इन क्षेत्रो मे नये उद्योग लगने की सम्भावनाएँ बढ़ गयी हैं।

(६) लाइसेंस की सीमा—१५ जुलाई, १६७१ से ही जिन उद्योगो मे १ करोड रुपये तक की पूँजी लगानी हो तथा १० प्रतिशत भाग तक विदेशी माल मँगाना पड़े, उन्हें सरकार से लाइसेंस लेने की आवश्यकता नही है। इससे भी नयी औद्योगिक इकाइयाँ स्थापित करने को प्रोत्साहन मिलेगा।

सरकार द्वारा औद्योगिक विकास की सुविधाएँ

पिछले कुछ वर्षों मे विभिन्न राज्य सरकारो ने अपने-अपने क्षेत्रो मे औद्योगिक विकास के लिए अनेक सुविधाएँ प्रदान की हैं। उनमे मुख्य सुविधाएँ निम्नलिखित हैं -

(१) सस्ती भूमि—प्राय सभी राज्यो मे नये उद्योगो के लिए भूमि खण्ड अलग रखे गये हैं जो उद्योगपतियो को ६६ वर्ष के पट्टे पर दिये गये हैं। इन पट्टो को आगे नये करने की व्यवस्था भी की गयी है। यह भूमि बहुत ही रियायती मूल्यों पर

देने की व्यवस्था की जाती है। इस प्रकार सभी राज्यों में औद्योगिक क्षेत्रों का अलग से विकास हो गया है।

(२) सड़क, बिजली, पानी—जिन क्षेत्रों को औद्योगिक क्षेत्र घोषित किया जाता है उनमें सड़क, बिजली तथा पानी की सुविधाएँ सरकार देती है। यदि उस क्षेत्र को मिलाने वाली सड़क नहीं है तो सरकार द्वारा सड़कें बनवा दी जाती हैं। इसी प्रकार बिजली की लाइनें डलवा दी जाती हैं तथा पानी की पूर्ति के लिए ट्यूब वैल या पाइप लाइन का प्रबन्ध कर दिया जाता है।

(३) सस्ती बिजली और पानी—औद्योगिक क्षेत्रों में बिजली और पानी की सुविधा तो प्राथमिकता के आधार पर दी जाती है किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। प्रायः सभी राज्यों में नये उद्योगों को कुछ वर्षों के लिए बिजली तथा पानी सस्ती दरों पर दिये जाते हैं। उदाहरण के लिए राजस्थान में नये उद्योगों के लिए लगभग दस वर्ष तक बिजली की दरों में १० से २५ प्रतिशत तक की रियायत देने की व्यवस्था की गयी है। उद्योगों को जल भी रियायती दरों पर दिया जाता है।

(४) करों में रियायत—प्राय सभी राज्यों में नये उद्योगों को करों में छूट दी गयी है। यह छूट मुख्यत निम्नलिखित करों से सम्बन्धित है

(i) चुंगी—नये उद्योगों में काम आने वाले सभी प्रकार के सामान—मशीनें, भवन निर्माण तथा कच्चा माल आदि—पर चुंगी में छूट दी जाती है। यह छूट प्राय सात से दस वर्ष के वास्ते दी जाती है ताकि इस अवधि में उद्योग अपने पैरों पर खड़ा हो सके।

(ii) बिक्री कर—अनेक राज्यों में वस्त्र, शीशा, सीमेण्ट, इञ्जीनियरी, चीनी, तथा खनिज सम्बन्धी उद्योगों द्वारा खरीदे जाने वाले माल पर केवल सांकेतिक (बहुत कम) बिक्री कर देना पड़ता है। कुछ राज्यों में नये उद्योगों को बिक्री कर से सर्वथा मुक्त कर दिया गया है।

(iii) बिजली कर—प्राय सभी राज्यों में बिजली के उपभोग पर एक कर और देना पड़ता है। बहुत से राज्यों में उद्योगों को इस कर से मुक्त कर दिया गया है।

(५) माल की बिक्री—नये उद्योगों के लिए एक समस्या यह रहती है कि उनको माल बेचने में दिक्कत रहती है। आरम्भ में नये उद्योगों में उत्पादन की लागत भी अधिक रहती है अत वह पुराने उद्योगों से स्पर्द्धा नहीं कर सकते। इस कठिनाई से छुटकारा दिलाने के लिए अनेक राज्य सरकारें अपने क्षेत्रों में उत्पन्न माल को थोड़े से अधिक मूल्य (३ प्रतिशत से १५ प्रतिशत अधिक) पर खरीद लेती हैं। राज्यों में स्थापित संस्थाओं ने भी अपने क्षेत्र के उद्योगों को इस प्रकार का संरक्षण प्रदान किया है।

(६) औद्योगिक सम्पदाएँ—प्राय सभी राज्यों में सरकार द्वारा औद्योगिक सम्पदाएं स्थापित की गयी हैं। इन सम्पदाओं में सरकार द्वारा लघु उद्योगों के लिए

भवन बनाकर दिये हैं जिनमें बिजली पानी की सुविधा उपलब्ध है। इन भवनो को बहुत ही सस्ते भाड़े पर उद्योगपतियों को दिया गया है। कुछ वर्षों बाद यह भवन किरायेदारो की सम्पत्ति बन जायेंगे।

(७) कच्चा माल—औद्योगिक सम्पदाओ मे कार्यशील उद्योगो के लिए सरकार द्वारा सस्ती दर पर कच्चे माल की व्यवस्था की जाती है। इन इकाइयो के अतिरिक्त अन्य छोटी इकाइयों को भी सस्ती दर पर कच्चा माल देने का प्रबन्ध किया जाता है। इस कार्य के लिए प्राय सभी राज्यों में लघु उद्योग निगम बनाये गये हैं।

(८) मशीनों की व्यवस्था—राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम द्वारा लघु उद्योगो के लिए विदेशो से मशीनें खरीद कर देने की व्यवस्था की जाती है। इन मशीनो का मूल्य बहुत ही सुविधाजनक शर्तों पर चुकाने का प्रबन्ध किया जाता है ताकि लघु इकाइयों का असुविधा न हो।

(९) पदार्थों की परीक्षण सुविधा—कई राज्यो म सरकारा द्वारा सुव्यवस्थित प्रयोगशालाएँ स्थापित की गयी हैं। इन प्रयोगशालाओ मे जन्तुनाशक पदार्थों, खाद, रगलेप, तेल, साबुन, खली, खनिज तथा कच्चे धातु, रसायन, जल आदि का परीक्षण किया जाता है और यह निश्चित किया जाता है कि यह वस्तुएँ उद्योगो के लिए उपयोगी हैं अथवा नही। इन प्रयोगशालाओ मे उद्योगो मे प्रयुक्त होने वाले कच्चे माल पर शोध कार्य किया जाता है और उद्योगों के लिए तकनीकी सहायता की व्यवस्था की जाती है।

(१०) तकनीकी प्रशिक्षण—भारत के प्राय सभी भागो मे इजीनियरी, चमडा तकनीक तथा अन्य क्षेत्रो से सम्बन्धित तकनीकी शिक्षा देने के लिए अनेक कॉलेज, पोलीटेक्निक सस्थान तथा प्रशिक्षण सस्थाएँ स्थापित की गयी हैं। इस तकनीकी प्रशिक्षण से उद्योगो के विकास मे बहुत सहायता मिली है।

(११) आर्थिक सूचना सेवा—प्रत्येक राज्य मे भारत सरकार द्वारा लघु उद्योग सेवा सस्थान (Small Industries Service Institute) स्थापित किये गये हैं। इन सस्थानो द्वारा उद्योग स्थापित करने के इच्छुक साहसियो को सलाह दी जाती है कि किस क्षेत्र मे कौन से उद्योग सफलतापूर्वक चलाये जा सकते हैं। इन सस्थानो द्वारा विभिन्न क्षेत्रो की औद्योगिक सम्भावनाओ सम्बन्धी सर्वेक्षण किये गये हैं जिनके परिणाम उद्योगपतियो को उपलब्ध किये जा सकते हैं ताकि वह नये उद्योग सरलतापूर्वक स्थापित कर सकें। इन सस्थानो द्वारा तकनीकी सहायता भी दी जाती है।

प्रत्येक राज्य मे औद्योगिक निदेशालय भी हैं जो समय-समय पर बुलेटिन प्रकाशित करते हैं जिनमे उद्योगो को दी जाने वाली सहायता के बारे मे सूचना प्रकाशित की जाती है। इस सूचना से भी उद्योगपतियो को नये उद्योग स्थापित करने मे सहायता मिलती है।

(१२) निर्यात संवर्द्धन—राज्य सरकारों द्वारा लघु उद्योगों द्वारा उत्पन्न माल का प्रचार करने के लिए प्रदर्शनियाँ लगायी जाती हैं विदेशी प्रदर्शनियों में भाग लेने के लिए सहायता दी जाती है तथा विदेशी भ्रमणार्थियों के लिए विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ दी जाती हैं।

जो उद्योगपति निर्यात संवर्द्धन परिषदों के सदस्य बनना चाहते हैं अथवा निर्यात गारन्टी साख निगम से सहायता प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें राज्य सरकारों द्वारा सहायता एवं सुविधाएँ देने का प्रयत्न किया जाता है। इससे उद्योगों का माल विदेशों में बेचने में सहायता की जाती है।

(१३) आर्थिक सहायता—भारत में १९४८ के बाद अनेक संस्थाओं की स्थापना की गयी है जो उद्योगों के लिए अनेक प्रकार की आर्थिक सहायता करते हैं। इन संस्थाओं में मुख्य निम्नलिखित हैं :

(i) औद्योगिक वित्त निगम—इसकी स्थापना १९४८ में की गयी। यह बड़े पैमाने के उद्योगों को दीर्घकाल के लिए ऋण देता है। इस संस्था की पूरी पूँजी औद्योगिक विकास बैंक द्वारा खरीद ली गयी है। यह निगम उद्योगों के लिए रकम का अभिगोपन करता है तथा ऋणों की गारन्टी भी करता है।

(ii) औद्योगिक विकास बैंक—इसकी स्थापना १९६४ में की गयी। इसका प्रबन्ध तथा पूँजी रिजर्व बैंक के अधीन है। यह बैंक उद्योगों को ऋण देता है, निर्यात बिलों की कटौती करता है तथा व्यापारिक बैंकों को उद्योगों की सहायता के लिए मदद करता है। यह मुख्यतः भारी और बहुत बड़े उद्योगों की आर्थिक सहायता करता है।

(iii) राज्य वित्त निगम—उद्योगों की आर्थिक सहायता के लिए प्रत्येक राज्य में एक-एक वित्त निगम बनाया गया है जो मध्यम तथा बड़े आकार के उद्योगों को ऋण देते हैं। यह निगम अपने-अपने राज्य के उद्योगों के विकास में बहुत सहायक हुए हैं।

(iv) राज्य सरकार—प्रत्येक राज्य में सरकार लघु उद्योगों के विकास के लिए ऋण तथा अनुदान देती है। यह ऋण प्रायः ५-७ वर्ष के वास्ते दिये जाते हैं। इनका वितरण उद्योगों के लिए राजकीय सहायता अधिनियम (State Aid to Industries Act) के अन्तर्गत किया जाता है।

(v) व्यापारिक बैंक—भारत के सभी व्यापारिक बैंक बड़े तथा छोटे दोनों प्रकार के उद्योगों को अल्पकालीन ऋण देते हैं। लघु उद्योगों को तो दस वर्ष तक के ऋण दिये जा सकते हैं। लघु उद्योगों को बैंकों द्वारा दिये गये ऋणों की साख गारन्टी संगठन (जो रिजर्व बैंक में स्थापित किया गया है) गारन्टी करता है।

इस प्रकार भारत में स्थापित होने वाले सब प्रकार के उद्योगों को आर्थिक सहायता देने के लिए अनेक संस्थाएँ काम कर रही हैं।

(१४) औद्योगिक विकास निगम—प्रायः प्रत्येक राज्य में उद्योगों की तकनीकी,

प्रबन्ध व्यवस्था तथा अन्य प्रकार की सहायता तथा सलाह के लिए औद्योगिक विकास निगम स्थापित किये गये हैं। यह निगम नये साहसियों को उद्योग लगाने के लिए प्रेरणा देते हैं।

(१५) विकास छूट—भारतीय आय कर अधिनियम मे नये उद्योगो के लिए पाँच वर्ष तक आय कर की छूट दी जाती रही है। यह छूट ३१ मई, १९७४ के पश्चात् लगाये गये उद्योगो को नही मिल सकेगी।

अभ्यास प्रश्न

१. वर्तमान युग मे औद्योगिक विकास का क्या महत्त्व है? भारत मे औद्योगिक विकास के लिए सरकारी हस्तक्षेप की क्यो आवश्यकता है?
२. भारत सरकार की औद्योगिक नीति के मूल तत्वो का विवेचन कीजिए।
३. भारत सरकार की १९४८ तथा १९५६ मे घोषित औद्योगिक नीतियो मे अन्तर स्पष्ट कीजिए।
४. भारत की १९५६ की औद्योगिक नीति की आलोचना कीजिए।
५. भारत की औद्योगिक नीति की आधुनिक प्रवृत्तियो का विवेचन कीजिए।
६. भारत मे उद्योगो के विकास के लिए राज्य ने क्या-क्या सुविधाएँ दी हैं? आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
७. भारत मे उद्योगो की आर्थिक सहायता के लिए सरकार द्वारा क्या कदम उठाये गये हैं?

१२ लोक क्षेत्र में उद्योग

(INDUSTRIES IN THE PUBLIC SECTOR)

पिछले अध्याय मे यह स्पष्ट किया जा चुका है कि भारत सरकार की औद्योगिक नीति मे कुछ उद्योग पूरी तरह सरकारी क्षेत्र के लिए सुरक्षित किये गये हैं, कुछ उद्योगों को सरकारी नियन्त्रण मे रखने की व्यवस्था की गयी है तथा कुछ उद्योगों को निजी क्षेत्र के लिए निश्चित कर दिया गया है। इस नीति पर निरन्तर समाजवादी प्रभाव बढ़ता जा रहा है। अत भारत मे सरकारी क्षेत्र मे उद्योगो की सख्या और उनमे लगायी गयी पूँजी की मात्रा में तेजी से वृद्धि हो रही है। सरकारी क्षेत्र को ही लोक क्षेत्र कहा जाता है।

लोक क्षेत्र के उद्देश्य—लोक क्षेत्र मे वृद्धि का मुख्य उद्देश्य भारत मे समाजवादी समाज की स्थापना करना है। इसके उद्देश्यो को अधिक स्पष्ट रूप मे निम्न प्रकार बतलाया जा सकता है

(१) तीव्र गति से आर्थिक विकास—औद्योगिक ढाँचे मे जो महत्त्वपूर्ण दरारें हैं उन्हें पाट कर आर्थिक विकास की गति को तेज करना लोक क्षेत्र का पहला उद्देश्य है। यह दरारें मुख्य रूप मे आधारभूत उद्योगों (इस्पात, कोयला, भारी इजीनियरी, भारी रसायन आदि) मे रही हैं जिनके विकास में निजी क्षेत्र ने कोई रुचि प्रकट नही की।

(२) बुनियादी साज-सज्जा की व्यवस्था—उद्योगो के विकास के लिए सड़कों का विकास, पानी तथा बिजली की पर्याप्त सुविधाएँ तथा सिंचाई आदि की यथेष्ट व्यवस्था करना आवश्यक होता है। यह बुनियादी आवश्यकताएँ हैं जिनका भारत मे अभाव रहा है।

(३) सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक क्षेत्रों का विकास—तीसरा उद्देश्य उन उद्योगो का विस्तार करना है जो सुरक्षा की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं तथा जिन्हें निजी क्षेत्र मे रहने देने से देश की सुरक्षा नीति में गड़बड़ हो सकती है। वायुयान,

जलयान, टेलीफोन तथा बिजली के महत्त्वपूर्ण सयन्त्रो का उत्पादन इसके महत्वपूर्ण उदाहरण है।

(४) सन्तुलित प्रादेशिक विकास—देश के औद्योगिक विकास को ऐसा मोड देना कि पिछडे हुए क्षेत्रो को विकसित होने का अधिक अवसर मिल सके। इसके लिए देश के प्राकृतिक साधनो की उचित खोज तथा लेखा-जोखा भी करना आवश्यक है।

(५) आर्थिक विषमता कम करना—लोक क्षेत्र का एक उद्देश्य आय सम्बन्धी विषमताएँ दूर करना है ताकि सभी वर्गों की आर्थिक स्थिति में उचित सन्तुलन उत्पन्न हो सके। आय सम्बन्धी विषमताएँ कम करने के लिए लोक क्षेत्र अपने कर्मचारियों के वेतन का ढांचा अधिक समाजवादी बना सकता है जिसका प्रभाव सभी क्षेत्रो पर पडता है। सामान्य रूप मे, लोक क्षेत्र मे विभिन्न वर्गों के कर्मचारियो की आय मे कम अन्तर होता है। निजी क्षेत्र मे यह अन्तर अत्यधिक होता है।

(६) आर्थिक सत्ता का सकेन्द्रण रोकना—लोक क्षेत्र का एक उद्देश्य यह है कि आर्थिक सत्ता कुछ इने गिने व्यक्तियो के हाथो मे सकेन्द्रित नही हो जानी चाहिए। यदि निजी क्षेत्र म उद्योगो को सीमित कर दिया जाय तो यह सकेन्द्रण नही हो सकेगा।

(७) अधिक सवेदनशील क्षेत्रों पर नियन्त्रण—लोक क्षेत्र का एक उद्देश्य यह है कि जिन क्षेत्रो मे मूल्यो के उतार-चढाव जल्दी-जल्दी होने की आशका हो उन क्षेत्रों को अपने नियन्त्रण मे लाना चाहिए। कृषि पदार्थों का व्यापार इसका एक उदाहरण है।

(८) वित्त व्यवस्था पर नियन्त्रण—देश के विभिन्न उत्पादक क्षेत्रो को ऋण पूँजी उचित ढग से वितरित होनी चाहिए। यह काम वित्त निगमो पर सामाजिक नियन्त्रण या राष्ट्रीयकरण द्वारा ही हो सकता है। इस प्रकार लोक क्षेत्र का उद्देश्य आर्थिक साधनो के न्यायपूर्ण वितरण की व्यवस्था करना भी है।

(९) तकनीकी जानकारी मे आत्मनिर्भरता—लोक क्षेत्र का एक उद्देश्य देश मे आवश्यक तकनीकी जानकारी का विकास करना है ताकि नये उद्योगो के डिजाइन तैयार कर मशीनो का निर्माण किया जा सके। इससे मशीनो के बारे मे देश को आत्मनिर्भर होने मे सहायता मिलेगी।

(१०) रोजगार के अवसर उत्पन्न करना—लोक क्षेत्र द्वारा उद्योग, परिवहन तथा सचार आदि क्षेत्रो म जितनी पूँजी लगायी जायगी उतने हो रोजगार के अवसरो मे वृद्धि होगी। एक समाजवादी व्यवस्था मे रोजगार के अधिक से अधिक अवसर उत्पन्न करना बहुत आवश्यक है। यह कार्य लोक क्षेत्र ही अधिक खूबी से कर सकता है।

(११) निर्यातों मे वृद्धि—लोक क्षेत्र का एक उद्देश्य निर्यातो मे वृद्धि कर विदेशी मुद्रा कमाना है ताकि भुगतान सन्तुलन पर दबाव कम किया जा सके।

सभी उद्देश्य समाजवाद की स्थापना से सम्बन्धित हैं

यह सब उद्देश्य ऐसे हैं जो देश में समाजवादी व्यवस्था लाने के लिए बहुत आवश्यक हैं। इनके पीछे देश में एक नया जागरण उत्पन्न करने की भावना है जो अंग्रेजी राज्य में सो गयी थी। लोक क्षेत्र असंख्य जनों के सहयोग से एक आत्म-निर्भर तथा क्रियाशील अर्थतन्त्र की स्थापना करने का व्रत लेकर चलता है। इस दृष्टि से लोक क्षेत्र के सामने अधिक से अधिक व्यक्तियों के हित के लिए अधिक से अधिक परिश्रम द्वारा अधिक से अधिक उत्पत्ति प्राप्त करना तथा देश में समृद्धि तथा सम्पन्नता का ऐसा वातावरण तैयार करना है जिसमें किसी का शोषण न हो।

लोक क्षेत्र का संगठन

भारत में लोक क्षेत्र के उद्योगों को तीन वर्गों में रखा गया है :

(१) विभागीय संस्थान (Departmental Undertakings)—इस वर्ग में वह संस्थान सम्मिलित हैं जिनका प्रबन्ध भारत सरकार के उद्योग मन्त्रालय द्वारा होता है। इसमें रेल, डाक-तार, चितरंजन का इंजन कारखाना, पेराम्बूर का रेल के डिब्बे बनाने का कारखाना आदि सम्मिलित हैं। इस प्रकार इन संस्थानों का प्रबन्ध प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों की देख रेख में होता है। यह अधिकारी प्रायः अपने ही कार्यों में बहुत व्यस्त रहते हैं अतः इन औद्योगिक संस्थानों की समुचित देख रेख होना सम्भव नहीं है।

(२) स्वतन्त्र निगम (Corporations)—बहुत से सरकारी उद्योग ऐसे हैं जिनके संचालन के लिए अलग निगम बना दिये गये हैं। यह निगम सम्बन्धित औद्योगिक इकाइयों की व्यवस्था करते हैं परन्तु यह किसी-न किसी मन्त्रालय के अधीन हैं और इनकी नीति तथा प्रगति पर संसद का नियन्त्रण रहता है। इस प्रकार के निगमों में जीवन बीमा निगम, दामोदर घाटी निगम, राष्ट्रीय कोयला विकास निगम आदि के नाम लिए जा सकते हैं।

इन निगमों के अध्यक्ष पद पर प्रायः भारतीय प्रशासनिक सेवा (I A S) के अधिकारियों को नियुक्त किया गया है। जिनको उद्योग या व्यापार का कोई अनुभव नहीं होता। यह व्यक्ति नौकरशाही की परम्पराओं में पलते हैं। अतः प्रत्येक निर्णय में देर होती है, व्यर्थ की औपचारिकता में बहुत समय नष्ट होता है और प्रबन्ध का ढाँचा शिथिल बना रहता है। इसीलिए इनमें से बहुत से निगमों को निरन्तर हानि होती रहती है।

(३) निजी कम्पनियाँ (Private Companies)—बहुत से उद्योगों का संचालन करने के लिए सरकार ने भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत निजी कम्पनियाँ रजिस्टर करवायी हैं। हिन्दुस्तान स्टील, हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट, भारत इलेक्ट्रिकल्स, हैवी इलेक्ट्रिकल्स आदि कारखाने इस श्रेणी के कुछ उदाहरण हैं।

प्रबन्ध व्यवस्था—लोक क्षेत्र के उद्योगो की सबसे बडी दुर्बलता यही है कि इनका प्रबन्ध बदनाम नौकरशाही के हाथ मे है जिन्हें न तो औद्योगिक क्षेत्र का अनुभव है, न समाजवाद मे विश्वास है। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति है कि सरकार प्रशासनिक सेवाओ के अधिकारियो को सभी प्रकार के तकनीकी उपक्रमो का प्रबन्ध करने के योग्य समझती है। आज जो व्यक्ति तेल निगम का अध्यक्ष है कल वह एयर इण्डिया का अध्यक्ष हो सकता है। इस धारणा के कारण ही अनेक लोक क्षेत्रीय उद्योग हानि उठा रहे हैं। अत सरकार को इन उद्योगो की प्रबन्ध व्यवस्था के लिए उचित योग्यता वाले प्रशिक्षित व्यक्तियो की नियुक्ति करनी चाहिए।

लोक क्षेत्रीय उपक्रमों का विकास

केन्द्रीय सरकार १९५१ से ही कृषि, सिंचाई, उद्योग, परिवहन तथा अन्य क्षेत्रो मे पूँजी लगा रही है। यह पूँजी लगाने का मुख्य उद्देश्य भारत मे विकास का बुनियादी ढाँचा मजबूत कर अर्थतन्त्र को आत्मनिर्भर तथा क्रियाशील बनाना रहा है।

लोक क्षेत्र द्वारा पूँजी विनियोग

(करोड रुपये मे)

	इकाइयो की सख्या	कुल पूँजी
(i) १ अगस्त, १९५१	५	२९
(ii) १ अप्रैल, १९५६	२१	८१
(iii) १ अप्रैल, १९६१	४८	९५३
(iv) ३१ मार्च, १९६६	७४	२,४१५
(v) ३१ मार्च, १९७०	९१	४,३०१

इससे स्पष्ट है कि योजना के आरम्भ मे भारत सरकार तथा राज्य सरकारो द्वारा आर्थिक क्षेत्र मे कुल २९ करोड रुपये की पूँजी विनियोग की हुई थी जिसकी रकम १९७० मे बढकर ४,३०१ करोड रुपये हो गयी।

उल्लेखनीय तत्त्व—लोक क्षेत्र मे पूँजी विनियोग की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं

(१) **तीव्र गति से वृद्धि**—लोक क्षेत्र मे पूँजी की रकम मे बहुत तेजी से वृद्धि की गयी है। यह वृद्धि मुख्यत दूसरी और तीसरी योजना के दस वर्षो मे हुई है जबकि कुल विनियोगो की रकम ८१ करोड रुपये से बढकर २,४१५ करोड रुपये तक पहुँच गयी। इसका मुख्य कारण यह है कि इन दस वर्षों मे देश की आर्थिक व्यवस्था को एक शक्तिशाली आधार देने का प्रयत्न किया गया और लोहा इस्पात, मशीनें, खाद, तेल, कोयला, वायुयान आदि बुनियादी उद्योगो मे इस काल मे ही पूँजी लगायी गयी।

(२) **अधिकतर केन्द्रीय सरकार द्वारा**—लोक क्षेत्र के उद्योगो मे जो पूँजी लगी हुई है उसका अधिकाश भाग केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाया गया है। इसका

(४) कृषि अनुसन्धान—कृषि की नयी नीति में नये तकनीकों को बहुत महत्व दिया गया है। फसलों को किस समय, किस तरह बोना तथा कब-कब खाद, पानी आदि देना अधिक उत्पत्ति के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कृषि प्रणालियों में अनुसन्धान की बहुत आवश्यकता है। अतः १९६५ में भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् को फिर से संगठित किया गया। भारत में जो अनुसन्धान संस्थान कार्यशील थे उन्हें इस परिषद् के अधीन कर दिया गया। वर्तमान में इस परिषद् के अधीन २५ शोध संस्थान काम कर रहे हैं।

कृषि अनुसन्धान की दिशा में एक बहुत ही महत्वपूर्ण कदम यह उठाया गया कि देश में ९ कृषि विश्वविद्यालय स्थापित किये गये हैं। जिनमें खेती की नयी तकनीक, नये बीज, खाद आदि के विषय में अत्यन्त लाभदायक अनुसन्धान हुए हैं। इस सम्बन्ध में पंजाब में लुधियाना कृषि विश्वविद्यालय ने अनेक उन्नत किस्मों के बीज निकाले हैं तथा कृषि प्रणालियों में सुधार के उपायों की खोज की है।

कृषि अनुसन्धान परिषद् वर्तमान में ३८ परियोजनाओं पर काम कर रही है जिनके परिणामों से कृषि क्षेत्र में अधिक क्रान्ति आने की सम्भावना है।

(५) कृषि पड़त—खेती की सुधरी हुई प्रणालियों का विकास करने के लिए अनेक पड़तों (साधनों) की आवश्यकता होती है जिसमें मुख्य निम्नलिखित हैं

(i) रासायनिक खाद, (ii) सुधरे हुए बीज, (iii) औजार तथा मशीनें; (iv) सिंचाई सुविधाएँ तथा (v) कृषि साख।

इनकी पर्याप्त व्यवस्था करने के लिए विशेष संस्थाओं तथा उत्पादक एजेंसियों की आवश्यकता थी जिसकी व्यवस्था सरकार ने की है। इनका संक्षिप्त ब्यौरा नीचे दिया जा रहा है

रासायनिक खाद—विशेषज्ञों का अनुमान है कि भूमि में रासायनिक खाद देने से उपज को तीन से चार गुना किया जा सकता है। इसी दृष्टि से सिन्द्री, नागल, ट्राम्बे तथा अलवे में खाद बनाने की सरकारी फैक्टरियाँ स्थापित की गयी हैं। १९६८-६९ में इन फैक्टरियों से उत्पन्न तथा विदेशों से मगाये हुए खाद की कुल खपत लगभग १६ लाख टन थी। १९७४ में रासायनिक खाद की खपत का लक्ष्य ५५ लाख टन रखा गया है।

भूमि-परीक्षण—रासायनिक खाद का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग तभी सफल हो सकता है जबकि भूमि के उचित परीक्षण की व्यवस्था हो। यदि भूमि-परीक्षण बिना खाद दे दी जाय तो फसल के सर्वथा नष्ट होने का भी भय रहता है क्योंकि खाद प्रत्येक भूमि के लिए समान रूप से मुआफिक नहीं होता। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए भारत में ९५ भूमि-परीक्षण सम्बन्धी प्रयोगशालाएँ स्थापित की गयी हैं जो प्रति वर्ष लगभग ११ लाख नमूनों का परीक्षण कर अपनी राय देने की क्षमता रखती हैं। अभी तक इस सुविधा का पूरा लाभ नहीं उठाया जा रहा है।

चतुर्थ योजना काल मे शहरी गदगी को कम्पोस्ट खाद मे बदलने के लिए मशीनें लगायी जायेंगी। उस खाद का कृषि विकास मे लाभदायक प्रयोग किया जा सकेगा।

बीज—सुधरे हुए बीजो की उपज करने के लिए १९६३ मे राष्ट्रीय बीज निगम की स्थापना की गयी थी। बीज निगम सुधरी हुई प्रारम्भिक किस्म उत्पन्न कर अन्य उत्पादको को बाँट देता है। चतुर्थ योजना काल मे लगभग १४० हेक्टर भूमि मे प्रारम्भिक बीज उत्पन्न करने की योजना है।

बीज उत्पन्न करने के लिए प्रथम योजना काल मे ही सरकारी भूमि खण्डो को निर्धारित किया गया था। चतुर्थ योजना काल मे तराई बीज विकास परियोजना पूरी करने का लक्ष्य है। इस योजना मे १६००० हेक्टर भूमि मे प्रति वर्ष लगभग ५६००० टन उन्नत किस्म का बीज उत्पन्न किया जायगा। यह परियोजना १९७३ मे पूरी हो जायगी।

चतुर्थ योजना मे लगभग ७ करोड हेक्टर भूमि मे सुधरे हुए बीजो द्वारा उपज प्राप्त करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है।

निगम - मशीनें आदि के लिए—किसानो तथा अन्य खेती करने वालो को खेती के औजार तथा मशीनें पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध कराने के लिए १५ राज्यो मे कृषि-उद्योग निगम (Agro-Industries Corporations) स्थापित किये गये हैं। इनमे केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारो की पूँजी लगायी गयी है। इनका मुख्य उद्देश्य कृषि मशीनो की पूर्ति तथा मरम्मत की व्यवस्था करना है। इन निगमो का काम ट्रैक्टरो तथा कृषि मशीनो के हिस्से वितरित करना है।

वर्तमान मे कृषि मशीनो की पर्याप्त माँग है। १९७४ मे ट्रैक्टरो की माँग १ लाख वार्षिक तक बढ जाने की आशा है। ट्रैक्टरो की उत्पत्ति बढाने के लिए पहिये वाले ट्रैक्टर बनाने वाले उद्योग को लाइसेंस की शर्त से मुक्त कर दिया गया है। हिसार और बदनी मे ट्रैक्टर प्रशिक्षण केन्द्र खोले गये हैं और उनका विस्तार किया जा रहा है। अनेक सहायक प्रशिक्षण केन्द्र खोलने की व्यवस्था की जा रही है।

पौध सरक्षण—कृषि की एक अत्यन्त गम्भीर समस्या यह है कि बहुत बार पौधो को कीडे या बीमारियाँ लग जाती हैं। इसके लिए पहली व्यवस्था यह की गयी है कि बीज को ही ऐसे रसायनो से युक्त कर दिया जाता है कि उसमे कीडे नहीं लग सकते। जन्तुनाशक दवाओ का छिडकाव भी किया जाता है।

पौधो मे जगली तथा अनावश्यक झाडियाँ भी उग आती हैं। इनको नष्ट करने के लिए रसायनो का निर्माण किया गया है। चतुर्थ योजना मे २० लाख हेक्टर भूमि में जगली पौधो को नष्ट करने की व्यवस्था की गयी है।

लघु सिंचाई योजना—खेती की उपज मे वृद्धि के लिए पर्याप्त मात्रा मे जल की आवश्यकता होती है। इसके लिए पम्पिग सेट, ट्यूब वेल आदि लघु सिंचाई

योजना के अन्तर्गत आते हैं। १९६८-६९ तक लगभग २ करोड़ हेक्टर भूमि में लघु योजनाओं द्वारा सिंचाई हो रही थी। १९७४ तक लघु सिंचाई योजनाओं से ४८ लाख हेक्टर नयी भूमि को जल मिलना सम्भव हो सकेगा।

ऋण—कृषि विकास के लिए अधिक उदार शर्तों पर पर्याप्त मात्रा में ऋण मिलना भी बहुत आवश्यक है। भारतीय किसान अब तक साहूकार के चगुल में रहा है जिससे निकलना बहुत कठिन है।

किसानों को ऋण देने के लिए सहकारी साख संस्थाओं का संगठन किया गया है जो १९६८-६९ में कृषि के लिए ४५० करोड़ रुपया वार्षिक ऋण दे रही थीं। चतुर्थ योजना के अन्तिम वर्ष में यह समितियाँ ७८० करोड़ रुपया वार्षिक उधार देने लगेंगी।

व्यापारिक बैंक भी कृषि को अधिक मात्रा में ऋण देने लगे हैं। जून १९६९ तक इनके द्वारा कृषि को केवल ५४ करोड़ रुपये के ऋण दिये हुए थे, किन्तु १९७४ तक यह राशि ४०० करोड़ रुपये तक पहुँच जायगी।

१९६३ में कृषि पुनर्वित्त निगम की स्थापना की गयी थी जो कृषि के लिए उधार देने वाली संस्थाओं के लिए पुनर्वित्त की व्यवस्था करता है। १९६८-६९ तक पुनर्वित्त निगम कृषि विकास की २३३ योजनाओं के लिए पुनर्वित्त की व्यवस्था कर चुका था जिसकी राशि १५६ करोड़ रुपये थी। इनमें से अधिकांश योजनाएँ लघु सिंचाई से सम्बन्धित हैं।

१९६८ में व्यापारिक बैंकों ने एक कृषि वित्त निगम स्थापित किया है जो खेती के विकास के लिए प्रत्यक्ष ऋण देता है।

इस प्रकार कृषि के लिए वित्त व्यवस्था करने की दृष्टि से संस्थाओं का एक जाल सा बिछ गया है जो विभिन्न कार्यों के लिए सरल ऋण देने की व्यवस्था करती हैं।

(६) गोदाम व्यवस्था—भारतीय कृषि की एक गम्भीर समस्या यह रही है कि खेती के पदार्थों को सुरक्षित रखने के लिए गोदामों का अभाव रहा है जिससे बहुत सा माल खराब होता रहा है। अच्छे गोदामों की व्यवस्था करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने केन्द्रीय गोदाम निगम तथा राज्य सरकारों ने राज्य गोदाम निगम बनाये हैं। १९६८-६९ के देश में लगभग १ करोड़ टन माल सुरक्षित रखने के लिए बढ़िया गोदाम थे। चतुर्थ योजना में केन्द्रीय गोदाम निगम के लिए १२ करोड़ रुपये तथा राज्यों के गोदामों के लिए ६ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गयी है जिससे १५ लाख टन अतिरिक्त माल सुरक्षित रखने के लिए गोदाम बनाये जा सकेंगे।

सहकारी संस्थाएँ भी माल सुरक्षित रखने के लिए गोदाम बनवाने का कार्य करती हैं। १९६८-६९ में सहकारी संस्थाओं के स्वामित्व में २६ लाख टन माल रखने लायक गोदाम थे। १९७४ तक इन संस्थाओं के पास कुल ४६ लाख टन

माल रखने लायक गोदाम हो जायेंगे। इस प्रकार नयी कृषि नीति मे माल को सुरक्षित रखने पर विशेष ध्यान दिया गया है।

(७) कृषि विक्री व्यवस्था—भारतीय किसान अपनी उपज का बहुत सा भाग गाँव मे ही बेच देता है क्योंकि मण्डियो में महाजन आदि माल खरीदने मे बहुत सी अवाछनीय क्रियाएँ करते हैं जिनसे किसानो को अपनी उपज का पूरा मूल्य नहीं मिलता। इस व्यवस्था मे सुधार के लिए व्यवस्थित एव सगठित मण्डियो की स्थापना की गयी है जिनमे खरीद और विक्री की क्रियाओ का नियन्त्रण सरकार द्वारा किया जाता है। इस प्रकार की मण्डियाँ नियन्त्रित मण्डियाँ कहलाती हैं।

भारत मे ६ राज्यो मे मण्डी नियन्त्रण सम्बन्धी कानून लागू हैं जिनके अधीन लगभग १६०० मण्डियो का नियन्त्रण होता है। अभी लगभग १३०० मण्डियाँ सरकारी नियन्त्रण से मुक्त हैं। इन मण्डियो को सरकारी नियन्त्रण मे लाने के लिए अन्य राज्यो मे भी कानून पास किये जा रहे हैं। सभी मण्डियाँ सरकारी नियन्त्रण मे आने से बाजार मे माल की कमी नहीं रहेगी, मूल्यो मे अधिक उतार-चढाव नही होंगे तथा किसानो को उचित मूल्य मिल सकेगा।

(८) मूल्यों की गारन्टी—कभी कभी अच्छी फसल हो जाने से मूल्य बहुत अधिक गिर जाने का भय रहता है जिससे किसानो को हानि होती है और भविष्य मे वह वस्तुएँ उत्पन्न करने का उत्साह नही रहता। इसलिए राज्य सरकारें प्रति वर्ष न्यूनतम कीमत की गारन्टी देती हैं जिसके अनुसार यदि बाजार मे कीमत निर्धारित दर से कम हो जाय तो सरकार निर्धारित दर पर माल खरीदने के लिए बाध्य रहती है। पिछले ५-६ वर्षों से खाद्यान्न, गन्ना, पटसन, रूई आदि वस्तुओ के मूल्यो की सरकार द्वारा घोषणा की जाती है। इन वस्तुओ के मूल्य निर्धारित मूल्य से नीचे नही गिर सकते क्योंकि निर्धारित भाव से कम होने पर सरकार उन वस्तुओ को खरीदने लगती है।

भारत में खाद्यान्न खरीदने के लिए खाद्यान्न निगम बनाया गया है जो प्रति वर्ष कुछ खाद्यान्न भण्डार बनाने के लिए निश्चित मूल्य पर खरीदता है।

गहन कृषि जिला कार्यक्रम

(Intensive Agricultural District Programme)

यह कार्यक्रम १९६०-६१ मे आन्ध्र प्रदेश, बिहार, मद्रास, मध्य प्रदेश, पजाब, राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश के सात जिलो मे लागू किया गया था। इसके बाद १९६२-६३ मे छह तथा १९६३-६४ मे तीन और जिले इस कार्यक्रम मे शामिल कर लिए गये हैं। सन् १९६५-६६ तक यह कार्यक्रम देश के ३०८ विकास खण्डों पर लागू था, जिनका क्षेत्रफल देश मे कुल जोती जाने वाली भूमि का ५% था। इन सभी जिलो को फोर्ड फाउण्डेशन की सहायता से विकसित किया जा रहा है। हिमाचल प्रदेश का एक जिला पश्चिमी जर्मनी की सहायता प्राप्त कर रहा है।

उल्लेखनीय तथ्य—गहन कृषि कार्यक्रम से तात्पर्य यह है कि जिन क्षेत्रों में भूमि अच्छी है तथा सिंचाई की सुविधाएँ पर्याप्त हैं वहाँ अधिक शक्ति और श्रम की सहायता से कृषि विकास किया जाना चाहिए। जिन क्षेत्रों में गहन कृषि कार्यक्रम आरम्भ किये गये हैं वहाँ कुछ विशेष बातों पर ध्यान देना बहुत आवश्यक है

(क) कृषि विकास में पंचायतों का अधिकाधिक सहयोग प्राप्त करना चाहिए।

(ख) प्रत्येक गाँव के लिए कृषि उत्पादन योजना बनानी चाहिए ताकि प्रत्येक किसान के लिए भी उत्पादन लक्ष्य निर्धारित किये जा सकें।

(ग) सहकारी आन्दोलन में सम्पूर्ण गाँव को सम्मिलित कर उसे सफल बनाना चाहिए।

(घ) पशु-पालन तथा दुग्ध वितरण के कार्यक्रम को विकसित करना चाहिए।

(ङ) प्रत्येक क्षेत्र के लिए फसल योजनाएँ बनायी जानी चाहिए और इन फसल योजनाओं को कृषि योजना से सम्बन्धित करना चाहिए।

(च) कृषि से सम्बन्धित कार्यक्रम (भूमि-सुधार, वनरोपण, सिंचाई आदि) आरम्भ किये जाने चाहिए।

सन् १९६६-६७ में यह कार्यक्रम १८ जिलों में लागू था। सन् १९६५-६६ में व १९६६-६७ में इस कार्यक्रम के अन्तर्गत क्रमश: २९ लाख हक्टर्स व ३२ लाख हक्टर्स भूमि थी।

गहन कृषि क्षेत्रीय कार्यक्रम

(Intensive Agricultural Area Programme)

यह कार्यक्रम तृतीय पंचवर्षीय योजना काल में आरम्भ किया गया। कार्यक्रम, सर्वप्रथम सन् १९६४ में देश में चुने हुए जिलों के कुछ विकास खण्डों में प्रारम्भ किया गया। इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण देश के ७२ जिलों में ६४६ विकास खण्ड धान की खेती के लिए, ५४ जिलों में ३५६ विकास खण्ड ज्वार बाजरे की खेती के लिए, ३० जिलों में ७०० विकास खण्ड गेहूँ की खेती के लिए चुने गये हैं। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत भी खेती सम्बन्धी विकास कार्य गहन कृषि जिला कार्यक्रम की ही भाँति चलाये जाते हैं। दोनों कार्यक्रमों में प्रमुख अन्तर यह है कि विकास कार्य 'गहन कृषि क्षेत्रीय कार्यक्रम' के अन्तर्गत 'गहन कृषि जिला कार्यक्रम' की अपेक्षा छोटे पैमाने पर चलाये जाते हैं तथा इनमें अपेक्षाकृत व्यय कम होता है। चतुर्थ योजना काल में सम्पूर्ण IADP तथा IAAP क्षेत्रों में कृषि के उन्नत तरीकों तथा सभी फसलों के उन्नत बीजों का प्रयोग करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है।

कृषि शिक्षा तथा शोध

[AGRICULTURAL EDUCATION AND RESEARCH]

देश में कृषि विकास की उन्नति करने के लिए कृषि कार्य में शोध करना बहुत आवश्यक है ताकि उत्पादन तथा विकास की नवीनतम पद्धति का प्रयोग किया जा सके। इसके लिए विद्यालय शोध संस्थान आदि स्थापित करना आवश्यक है।

द्वितीय योजना के अन्त तक भारत मे कृषि कॉलेजो की सख्या ५३ थी, जिनमे प्रति वर्ष ५,६०० विद्यार्थी प्रशिक्षित होते थे। तृतीय योजना के अन्त तक इनकी सख्या ५७ और शिक्षण क्षमता ६,२०० विद्यार्थी प्रति वर्ष करने का प्रावधान था परन्तु कुछ निजी कॉलेज स्थापित होने के कारण अब कृषि कॉलेजो की सख्या ६५ हो गयी है, जिनमे ७,५०० विद्यार्थी प्रति वर्ष प्रशिक्षित हो रहे हैं। इसके अतिरिक्त देश मे ६ कृषि विश्वविद्यालय स्थापित किये जा चुके हैं जिनमे पन्तनगर (उत्तर प्रदेश), लुधियाना (पजाब), उदयपुर (राजस्थान) तथा भुवनेश्वर (उडीसा) कृषि विश्वविद्यालय मुख्य हैं। चतुर्थ योजना मे इन विश्वविद्यालयो के साधन तथा क्रियाशीलता मे वृद्धि की जायगी तथा चार नये कृषि विश्वविद्यालय स्थापित किये जायेंगे। इन विश्वविद्यालयो मे कृषि अनुसन्धान कार्यक्रमो को विशेष प्रोत्साहन देने की व्यवस्था है।

भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद्, भारतीय कृषि अनुसन्धान सस्था तथा विभिन्न वस्तुओ से सम्बन्धित समितियो के द्वारा कृषि सम्बन्धी शोध कार्य किया जा रहा है। इन अनुसन्धानो के फलस्वरूप चावल तथा गेहूँ की नयी किस्मे ज्ञात की गयी हैं, तथा ज्वार, बाजरा और दालो पर किये गये प्रयोग बहुत सफल रहे हैं। मक्का की कई सुधरी हुई किस्मो की खेती आरम्भ हो चुकी है। रुई, तिलहन, पटसन, तम्बाकू तथा मसालो पर शोध कार्य चालू है तथा फसलो के रोग दूर करने सम्बन्धी अनुसन्धानो की गति तीव्र कर दी गयी है।

उपसहार—भारत सरकार देश मे समाजवादी अथवा लोकतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना करना चाहती है, जिसका तात्पर्य यह है कि जनता के सामान्य अधिकार न छीनते हुए एक शोषणहीन समाज का निर्माण किया जायेगा। जहाँ तक कृषि का प्रश्न है, शोषण के यन्त्र जमीदार को अधिकारहीन कर दिया गया है और भूमि किसान की हो गयी है। सरकार सामान्यत कृषि कार्यों मे किसी प्रकार का आदेश नही देती, न ही हस्तक्षेप करती है। जिन मदो मे किसान को कठिनाई होती है उनमे सरकार विस्तृत सहायता देने का प्रयत्न कर रही है।

इस प्रकार सामुदायिक विकास योजनाओ, पचायत राज तथा सरकारी समितियो की समन्वयात्मक नीति के आधार पर कृषि विकास किया जा रहा है और जहाँ जितनी आवश्यकता है वहाँ उतना धन, प्राविधिक ज्ञान अथवा उपकरण उपलब्ध कराने का प्रयत्न किया जाता है। यह नीति लोकतान्त्रिक समाजवाद तथा जन-जन की भावना के सर्वथा अनुकूल एव आदर्श है। यदि सरकार अपनी प्रशासन व्यवस्था को तनिक कुशल बनाकर घोषित सहायता यथा समय एव जरूरतमन्द व्यक्ति को देने का प्रबन्ध कर सके तो देश की कृषि को जडता के दलदल से निकालकर समृद्ध करने मे कोई समय नही लगेगा और यह धरती पुन 'सुजला सुफला शस्य श्यामला' बन सकेगी, इसमे तनिक भी सन्देह नहीं है।

यन्त्रीकृत कृषि

(MACHINIZED AGRICULTURE)

आजकल एक नया विवाद उत्पन्न हो गया है कि भारतीय कृषि का यन्त्रीकरण किया जाय या नहीं। इस सम्बन्ध में कुछ व्यक्तियों का यह मत है कि अन्य विकसित देशों की भाँति भारत में गहन खेती की जानी चाहिए, उसमें अधिकाधिक रासायनिक खाद का प्रयोग किया जाना चाहिए तथा खेती करने में ट्रैक्टर तथा अन्य यन्त्रों का सहयोग प्राप्त करना चाहिए। इससे खेती की उपज में अत्यधिक वृद्धि सम्भव हो सकेगी और देश की कृषि दरिद्रता के दलदल से निकलकर सम्पन्नता का सुख प्राप्त कर सकेगी।

यन्त्रीकरण आवश्यक

इसके विपरीत, एक दूसरा वर्ग है जो भारतीय कृषि के यन्त्रीकरण करने के पक्ष में नहीं है। इस वर्ग का विचार है कि यन्त्रीकरण भारतीय कृषि के लिए हितकर नहीं होगा। इस पक्ष के तर्क निम्नलिखित हैं :

(१) **महँगा**—यन्त्रीकरण भारतीय कृषि के लिए बहुत महँगा पड़ेगा क्योंकि एक ट्रैक्टर का कम से कम मूल्य १०,००० रुपये है। कृषि कार्यों में इसका प्रयोग २-३ महीने से अधिक नहीं होगा अतः शेष समय में इतनी महँगी वस्तु बेकार पड़ी रहेगी। यदि सरकारी समितियों द्वारा भी ट्रैक्टर दिये जायें अथवा सहकारी आधार पर ट्रैक्टर खरीदे जायें तो भी वह बहुत महँगे पड़ेंगे।

यन्त्रीकरण एक और दृष्टि से भी महँगा पड़ेगा। ट्रैक्टर चलाने के लिए पैट्रोल तथा डीजल तेल की आवश्यकता पड़ती है जो भारत में अमरीका से दुगुना महँगा है। इसके अतिरिक्त, भारत में न तो ट्रैक्टर यथेष्ट संख्या में निर्मित होते हैं और न ही यथेष्ट मात्रा में तेल तथा पैट्रोल उपलब्ध होता है। अतः खेती में प्रयोग करने के लिए इन्हें अधिक मात्रा में आयात करना पड़ेगा जिससे देश को विदेशी विनिमय की स्थिति में अधिक कठिनाई उत्पन्न होगी।

(२) **टूट-फूट की मरम्मत**—कृषि का यन्त्रीकरण करने से एक अन्य कठिनाई का सामना करना पड़ेगा, वह यह है कि ट्रैक्टरों के खराब होने पर उन्हें नगर में मरम्मत के लिए ले जाना बहुत असुविधाजनक होगा क्योंकि देश के प्रत्येक भाग में तो ट्रैक्टर अथवा अन्य यन्त्रों की मरम्मत करने के लिए मिस्त्रीखाने स्थापित करना सम्भव नहीं होगा।

(३) **ट्रैक्टर बनाम बैल**—उपर्युक्त कठिनाइयों के अतिरिक्त ट्रैक्टर बैल की भाँति गोबर या मूत्र की खाद नहीं देता अतः किसानों को खाद सम्पूर्ण रूप से अलग से खरीदनी होगी। रासायनिक खाद गोबर की अपेक्षा बहुत महँगी भी है तथा देश की सम्पूर्ण भूमि के लिए उसकी पूर्ति भी पर्याप्त नहीं है। यदि आवश्यक मात्रा में रासायनिक खाद भी विदेशों से आयात की जाय तो इसका तात्पर्य यह होगा कि यन्त्रीकरण पूर्णतः विदेशी साधनों द्वारा ही सम्पन्न किया जा सकेगा क्योंकि ट्रैक्टर

पैट्रोल, डीजल तेल तथा रासायनिक खाद विदेशों से आयात करने पड़ेंगे। इससे देश की विदेशी भुगतान स्थिति पर अत्यधिक भार पड़ने की आशंका है।

(४) प्रयोग हानिकारक—कृषि विशेषज्ञों का यह मत है कि ट्रैक्टर भूमि को अत्यधिक गहरा खोद देता है और भूमि में स्थित फंगी तथा बैक्टीरिया जैसे उपजाऊ तत्वों का नाश कर देता है। इसके एक दो बार में ही भूमि की सम्पूर्ण जीवन शक्ति समाप्त हो जाती है, फलतः उसे पुनर्जीवन देने के लिए हर बार पहले से अधिक खाद देने की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार भूमि पर खेती करना निरन्तर अधिक खर्चीला काम होता जाता है।

(५) कम फसलें—रिचर्ड ग्रेग का मत है कि भूमि जीवन शक्ति बनाये रखने के लिए प्रायः कई प्रकार की फसलें एक साथ (उदाहरणतः अन्न के साथ दालें) बोयी जाती हैं जिससे एक फसल द्वारा नष्ट किये गये तत्वों की पूर्ति दूसरी फसल द्वारा दिये गये तत्वों से हो जाती है। यह क्रम यन्त्रीकृत कृषि-व्यवस्था के अन्तर्गत सम्भव नहीं है क्योंकि इसकी व्यवस्थानुसार एक बहुत बड़े खेत में एक ही प्रकार की फसल बोयी जाती है जिससे भूमि निर्बल हो जाती है और उसमें विनाशकारी जीव-जन्तु तथा कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं।

(६) प्रयोग में कठिनाई—जैसा कि इससे पूर्व लिखा जा चुका है, भारत में अधिकांश खेत बहुत छोटे हैं अतः उनमें ट्रैक्टरों द्वारा खेती तथा अन्य यन्त्रों द्वारा फसल की कटाई न तो सम्भव ही है और न उपयुक्त। अतः भारतीय कृषि में यन्त्रीकरण अपनाना उपादेय नहीं कहा जा सकता।

(७) अत्यधिक बरबादी—यन्त्रीकृत खेती के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि फसल को काटने वाले यन्त्र उपकरण फसल का पूरा भाग काट लेने में समर्थ नहीं हैं। उनके द्वारा फसल का कुछ भाग सदा पौधों पर ही छूट जाता है जिससे कृषक को हानि होती है।

(८) बेरोजगार—भारत जैसे जनाधिक्य वाले देश में यन्त्रीकृत खेती अपनाने का तात्पर्य यह होगा कि देश के बहुत से किसान बेरोजगार हो जायेंगे। जब तक अतिरिक्त व्यक्तियों के लिए रोजगार की व्यवस्था न की जाय, यन्त्रीकरण करना सर्वथा अनुचित होगा।

यन्त्रीकरण के लाभ

रासायनिक खाद तथा यन्त्रीकरण के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि इनके सहयोग से कृषि उत्पादन में आशातीत वृद्धि की जा सकती है और इस प्रकार खाद्यान्न तथा कच्चे माल की कमी का अन्त किया जा सकता है। यह बात सैद्धान्तिक दृष्टि से सही हो सकती है किन्तु वास्तव में सर्वथा सत्य नहीं है।

कीटाणु एवं रोगों से मुक्ति—यन्त्रचालित कृषि एवं रसायनों के प्रयोग के सम्बन्ध में दूसरा प्रचलित भ्रम यह है कि इनकी सहायता से फसलों के रोग तथा

कीटाणुओं को नष्ट किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के कृषिशास्त्र के डीन फीवोर्न का मत उल्लेखनीय है। उनका कथन है

"कीटाणुओं को नष्ट करने वाले रसायनों का निरन्तर प्रयोग करते रहने पर भी अमरीका में कीड़ों तथा कीटाणुओं द्वारा प्रति वर्ष लगभग ४ अरब डालर मूल्य की फसलें नष्ट कर दी जाती हैं। इसके अतिरिक्त फगी तथा अन्य रोग भी लगभग ४ अरब डालर मूल्य की फसलें नष्ट करने के लिए उत्तरदायी हैं।"

इससे स्पष्ट है कि रासायनिक खाद तथा रसायन तत्त्व कृषि फसलों की उत्पत्ति तथा विकास के लिए बहुत उपयोगी नहीं हैं और वह प्राकृतिक विनाश को रोकने में विशेष सफल नहीं हो सके हैं। इसके विपरीत, रसायन तथा यन्त्रीकृत उपकरणों द्वारा उत्पन्न पदार्थ स्वास्थ्य की दृष्टि से उतने उपयोगी तथा पुष्टिकारक नहीं होते जितने कि प्राकृतिक रीतियों द्वारा उत्पन्न पदार्थ होते हैं।

कौन-सा मार्ग उचित है ?—ऊपर दिये विचारों से स्पष्ट है कि भारत की परिस्थितियों एवं साधनों का ध्यान रखते हुए भारत के लिए कृषि की प्राकृतिक रीतियों का प्रयोग करना ही अधिक उचित है। जहाँ तक उत्पादन में वृद्धि करने का प्रश्न है, उत्तम बीज, कम्पोस्ट तथा गोबर की खाद, फसलों के अदल-बदल, भू शक्ति के ह्रास में रोक तथा सिंचाई की यथेष्ट सुविधाओं के द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति की जा सकती है।

चेस्टर वोल्स का कथन है कि जापान में प्रत्येक व्यक्ति हाथ से खेती करता है और यह कार्य इस सावधानी से किया जाता है कि कोई भी पौधा नष्ट नहीं हो सकता। फलत जापान में प्रति एकड़ उत्पादन अमरीका से अधिक है। आगे चलकर वह कहते हैं कि भारत में, "जब तक स्थानीय उद्योग का विकास सम्पूर्ण ग्रामीण जनता को रोजगार देने लायक न हो जाय, कृषि का यन्त्रीकरण, जिसका मुख्य उद्देश्य श्रम में बचत करना होता है, अधिकांश क्षेत्रों में अनार्थिक प्रमाणित होगा। बैलों की एक अच्छी जोड़ी को अतिरिक्त पुर्जों तथा गैसोलीन की आवश्यकता नहीं होती, उसके खराब होने का भय बहुत कम होता है तथा वह प्रचुर मात्रा में खाद उत्पन्न करती है।"

वोल्स के शब्दों में, भारतीय ग्रामीण अर्थतन्त्र का वास्तविक समाधान उभरता हुआ प्रकट होता है। सावधानीपूर्वक जापानी अनुकरण से की गयी खेती भारत के निर्धन, अशिक्षित, किन्तु परिश्रमी किसान के लिए निश्चय ही अधिक उपयुक्त है और यदि उसे कृषि सम्बन्धी सामान्य सुविधाएँ सुलभ करा दी जायें तो वह निश्चय ही अपना और देश का भाग्य बदल सकता है।

फसलों का बीमा
[CROP INSURANCE]

अमरीका, ब्रिटेन तथा कुछ अन्य देशों में फसल के बीमा की व्यवस्था है।

इसका तात्पर्य यह है कि बीमा कम्पनी किसान को फसल की एक निश्चित मात्रा की गारण्टी देती है और फसल कम होने पर उसकी क्षति-पूर्ति करती है। इस गारण्टी के लिए किसान कुछ बीमा शुल्क देने का उत्तरदायी होता है।

भारत मे फसलो के बीमे की प्रथा प्रचलित नही है क्योकि

(१) फसलें मानसून के कारण अनिश्चित रहती है,

(२) सिंचाई सुविधाओ का अभाव है,

(३) कृषि-पद्धतियाँ यथेष्ट विकसित नही हैं,

(४) कृषि एक व्यवसाय न होकर केवल जीवन-निर्वाह का साधन है, और

(५) किसान निर्धन है, उसे बीमा का शुल्क (premium) चुकाने मे बहुत कठिनाई होती है।

पजाब मे प्रयोग—उपर्युक्त सब कठिनाइयो के होते हुए भी पजाब मे फसल बीमा योजना लागू की गयी है। यह योजना प्रारम्भ मे केवल ६ जिलो मे १२ केन्द्रो मे प्रयोगात्मक रूप मे सचालित की जा रही है। इन केन्द्रो मे १००-१०० ग्राम हैं और अधिकतर विकास खण्डो में हैं। आगामी दो वर्षों मे ६ जिले और सम्मिलित करने का कार्यक्रम निश्चित किया गया है। प्रारम्भ मे बीमा योजना केवल चार फसलो अर्थात् गेहूँ, चना, रुई तथा गन्ने पर लागू की गयी है और यह लागू किये जाने वाले क्षेत्रो के लिए अनिवार्य है। इस योजना द्वारा बाढ, ओले, सूखा, टिड्डी दल अथवा अन्य जीव-जन्तु तथा मनुष्य के नियन्त्रण में न होने वाली प्रत्येक दुर्घटना के वरुद्ध बीमा किया गया है और सरकार इन घटनाओ से उत्पन्न हानियो की क्षति पूर्ति करने के लिए उत्तरदायी है।

क्षति-पूर्ति—सरकार केवल उन परिस्थितियो मे क्षति-पूर्ति की व्यवस्था करेगी जबकि बीमा किये गये केन्द्र की फसल की औसत उत्पत्ति प्रमाणित उत्पत्ति के ७५ प्रतिशत से भी कम होगी। प्रत्येक किसान को अपनी सारी भूमि (जिसमें फसल बोयी गयी है) का बीमा करवाना पड़ेगा और निर्धारित शुल्क चुकाने पड़ेंगे। प्रारम्भ मे प्रत्येक क्षेत्र का पाँच वर्ष के लिए बीमा किया जायगा। भारत सरकार इस योजना पर आने वाली कुल लागत का ५० प्रतिशत वहन करेगी।

पजाब मे भाखरा नहरो के कारण अधिकाश कृषि-योग्य भूमि सिंचाई के अन्तर्गत आ गयी है और वहाँ की कृषि अन्य राज्यो की तुलना मे अधिक विकसित भी है। अत सिंचाई वाले क्षेत्रो मे फसल बीमा योजना लागू करने मे विशेष जोखिम नही है। देश के अन्य भागो मे यह योजना लागू करने से पूर्व बहुत-सी सुविधाओ की व्यवस्था करना आवश्यक होगा।

अभ्यास प्रश्न

१. भारतीय कृषि की विशेषताएँ लिखिए। उसमें राज्य का हस्तक्षेप क्यो आवश्यक है?

२. योजना काल मे भारतीय कृषि नीति की मुख्य प्रवृत्तियो का विवेचन कीजिए।
३. नयी कृषि नीति से क्या तात्पर्य है ? उसके मूल तत्वों का संक्षिप्त ब्यौरा दीजिए।
४. भारत मे हरित क्रान्ति पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए।
(संकेत : नयी कृषि नीति के कारण ही हरित क्रान्ति हुई है, उसमे उत्पादन सम्बन्धी सभी बातें लिखिए)
५. टिप्पणी लिखिए :
फसल बीमा, गहन जिला कृषि कार्यक्रम, गहन कृषि क्षेत्रीय कार्यक्रम।

औद्योगिक विकास के कारण अधिक सजग, सतर्क और सक्रिय हो जाती है। इस प्रकार औद्योगिक विकास सरकारी प्रशासन को निष्क्रिय नहीं रहने देता। उद्योगों की नित नयी उठने वाली समस्याएँ सरकार को भी अधिक क्रान्तिकारी नीतियाँ अपनाने के लिए बाध्य कर देती हैं।

औद्योगिक विकास के लिए सरकारी हस्तक्षेप क्यों और कितना ?

भारत मे प्रजातान्त्रिक समाजवाद की स्थापना का निश्चय किया गया है। अत सरकारी नीतियों मे एक ओर तो जन-भावना का ध्यान रखा जाना आवश्यक है, दूसरी ओर आर्थिक विषमता तथा प्रादेशिक असन्तुलनो को कम करना अनिवार्य है। इन उद्देश्यो की सफलता के लिए सरकार को सक्रियता से कदम उठाने पड़ेंगे और औद्योगिक विकास में हस्तक्षेप (नियन्त्रण तथा सहायता) करना पडेगा। यह हस्तक्षेप निम्नलिखित कारणो से आवश्यक हैं

(१) **पूँजी और साहस**—भारत मे औद्योगिक विकास के लिए पर्याप्त मात्रा मे पूँजी की सदा कमी रही है। उद्योगो का अनुभव न होने के कारण भारतीय उद्योगपतियो मे साहस का भी अभाव रहा है अत नयी औद्योगिक इकाइयो की स्थापना सीमित ही रही है। इसलिए पूँजी और औद्योगिक साहस अभाव की पूर्ति के लिए सरकार द्वारा कदम उठाया जाना आवश्यक है।

(२) **तकनीकी जानकारी**—विकासशील देशो मे प्राय तकनीकी जानकारी का अभाव रहा है। इसलिए उद्योगो के नये क्षेत्रो मे पूँजी और साहस नहीं जुटाया जा सका। भारत मे भी प्राय यह स्थिति रही है। अत सरकार के सहयोग और सक्रिय सहायता बिना औद्योगिक विकास सम्भव नहीं था। अब भी तकनीकी जानकारी पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध नही है। सरकारी सहयोग से तकनीकी जानकारी को विदेशो से प्राप्त किया जा सकता है।

(३) **लम्बे प्रसव काल वाले उद्योग**—कुछ उद्योग ऐसे होते हैं जिनका प्रसव काल बहुत लम्बा होता है अर्थात् उनको स्थापित करने मे बहुत समय लगता है तथा उनसे लाभ (या उत्पादन भी) बहुत देर से मिलने लगता है। इस्पात उद्योग, भारी रसायन, भारी इन्जीनियरी आदि उद्योगो मे बहुत समय तक पूँजी बन्द पडी रहती है क्योंकि वह उद्योग ७ से दस वर्ष बाद लाभ देने लगते हैं। ऐसे उद्योगो मे सरकार को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे पूँजी लगानी पडती है या प्रारम्भिक वर्षों मे अनेक प्रकार की सहायता करनी पडती है।

(४) **सन्तुलित विकास के लिए**—निजी पूँजीपति प्राय ऐसे केन्द्रों या स्थानो पर उद्योग स्थापित करते हैं जहाँ विकास करना सरल है और सभी प्रकार की सुविधाएँ आसानी से मिल जाती हैं। ऐसी स्थिति मे आर्थिक दृष्टि से पिछडे हुए प्रदेश तो बहुत समय तक पिछडे हुए ही रह जाते हैं। एक प्रजातन्त्रीय समाजवादी देश मे पिछडे हुए प्रदेशो का आर्थिक विकास करने मे पहल करना आवश्यक है ताकि यह भाग अन्य भागो के समान आ जायें। अत सरकार द्वारा इन क्षेत्रो में

उद्योग स्थापित कर दिये जाते हैं क्योंकि सरकार का उद्देश्य केवल लाभ कमाना नहीं, पिछड़े हुए भागों का आर्थिक विकास करना है।

(५) एकाधिकार पर रोक —विकासशील देशों में प्राय शक्तिशाली पूँजीपति नये-नये उद्योग स्थापित कर उन पर एकाधिकार कर लेते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक सत्ता का कुछ हाथों में सकेन्द्रण होने लगता है। भारत मे उद्योगों की लाइसेंस नीति कुछ इस प्रकार की रही है कि आर्थिक सत्ता धीरे-धीरे इने गिने हाथों में सकेन्द्रित हो गयी है। इस रोकने के लिए सरकार का वास्तविक हस्तक्षेप होना आवश्यक है।

(६) समाजवाद के लिए—भारत मे समाजवादी समाज की स्थापना का लक्ष्य अपनाया गया है। समाजवाद में उत्पादन के तत्वों पर सरकार का स्वामित्व नहीं तो उचित नियन्त्रण करना तो अत्यन्त आवश्यक है ताकि वितरण और उत्पादन का ढाँचा सरकारी नीतियों के अनुसार बन सके।

भारत सरकार की औद्योगिक नीति

आजादी से पहले भारत सरकार ने औद्योगिक विकास के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया। विदेशी सरकार ने भारत के औद्योगिक विकास की इतनी अवहेलना की कि न तो स्वय कोई उद्योग स्थापित किये, न भारतवासियों को उद्योग स्थापित करने का प्रोत्साहन दिया। इसलिए उद्योगो सम्बन्धी नीति निर्धारित करने की बात सोचना ही व्यर्थ था। यदि ब्रिटिश शासन की कोई औद्योगिक नीति थी तो यह थी कि भारत मे औद्योगिक विकास के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया जाय। जो कुछ उद्योग लगाये गये उनमे से अधिकाश विदेशियों द्वारा लगाये गये और उनके लाखों रुपये के लाभ प्रति वर्ष अपने देश मे ले जाते रहे। भारतवासियों द्वारा स्थापित उद्योगों का अंग्रेजी शासन ने सक्रिय विरोध किया अथवा उपेक्षा के मीठे जहर से उन्हे नष्ट करने का प्रयत्न किया।

१९४८ का औद्योगिक नीति प्रस्ताव

आजादी प्राप्त करने के पश्चात् भारत सरकार ने अपने औद्योगिक विकास का निश्चय किया और ६ अप्रैल, १९४८ को भारत के तत्कालीन उद्योग मन्त्री डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने भारत की औद्योगिक नीति की घोषणा की। इस घोषणा को १९४८ का औद्योगिक नीति प्रस्ताव कहा जाता है। इस प्रस्ताव की मुख्य बातें निम्नलिखित थी

(१) उद्देश्य—औद्योगिक नीति के निम्नलिखित उद्देश्य निश्चित् किये गये.

(i) ऐसे समाज की रचना जिसमे सब नागरिकों को समान अवसर तथा न्याय प्राप्त हो सके।

(ii) उत्पादन मे वृद्धि के लिए अधिक से अधिक प्रयत्न करना।

(iii) वर्तमान धन के वितरण के स्थान पर नये धन का उत्पादन कर उसके उचित वितरण की व्यवस्था करना।

इस प्रकार औद्योगिक नीति का उद्देश्य अधिक उत्पादन तथा न्यायपूर्ण वितरण रखा गया।

(२) उद्योगों का वर्गीकरण—नये उद्योगों का विकास सरकार द्वारा किया जाना चाहिए या इस काम को निजी क्षेत्र पर छोड़ देना चाहिए, यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न था जिस पर उचित निर्णय लेना बहुत आवश्यक था। अत सरकार ने देश के सारे उद्योगों को निम्नलिखित चार वर्गों में बाँट दिया

(i) सरकार का एकाधिकार—पहले वर्ग में ऐसे उद्योगों को सम्मिलित किया गया जिनके विकास का सरकार को एकाधिकार दिया गया। इस वर्ग में (क) अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण, (ख) अणु शक्ति का उत्पादन तथा नियन्त्रण, तथा (ग) रेलवे परिवहन। इन उद्योगों में निजी पूँजीपतियों को रकम लगाने की मनाही कर दी गयी।

(ii) जिनके और आगे विस्तार का अधिकार केवल सरकार को दिया गया—दूसरे वर्ग में ऐसे उद्योगों को रखा गया जो उस समय निजी पूँजीपतियों के अधिकार में थे। इन उद्योगों की जो इकाइयाँ उस समय पूँजीपतियों के हाथ में थीं उन पर पूँजीपतियों का अधिकार बना रहने दिया गया किन्तु यह व्यवस्था की इन क्षेत्रों का आगे विस्तार केवल सरकार ही कर सकेगी।

इस श्रेणी में कोयला, लोहा तथा इस्पात, हवाई जहाज निर्माण, समुद्री जहाज निर्माण, टेलीफोन, तार तथा बेतार सम्बन्धी सामान का उत्पादन और खनिज तेल को सम्मिलित किया गया। इन उद्योगों के बारे में तीन बातें मुख्य थी

(क) इन उद्योगों में नयी इकाइयाँ केवल सरकार द्वारा ही स्थापित की जा सकती थीं।

(ख) इन उद्योगों में पहले से कार्यशील इकाइयों को दस वर्ष का समय देने की घोषणा की गयी। दस वर्ष बाद इनका राष्ट्रीकरण किया गया तो उसका उचित मुआवजा देने की व्यवस्था होगी।

(ग) सरकार द्वारा स्थापित उद्योगों का प्रबन्ध सरकारी निगमों द्वारा चलाया जायेगा।

(iii) सरकार द्वारा नियन्त्रित उद्योग—तीसरे वर्ग में ऐसे उद्योगों को रखा गया जिनका नियन्त्रण राष्ट्रीय हित में आवश्यक है। इस श्रेणी में १८ उद्योग रखे गये जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं

नमक, मोटर, ट्रैक्टर, बिजली, इन्जीनियरी, भारी रसायन, दवाएँ, खाद, पावर अल्कोहल, रबड़, सीमेंट, चीनी, कागज, सूती वस्त्र, वायु परिवहन, जल परिवहन।

यह उद्योग ऐसे हैं जिनमें अधिक पूँजी तथा ऊँचे तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता होती है। इन उद्योगों को निजी क्षेत्र के लिए छोड़ दिया गया किन्तु इन पर सरकारी नियन्त्रण की व्यवस्था की गयी। सरकार को यह अधिकार भी दिया गया कि वह चाहे तो इन उद्योगों से सम्बन्धित नयी इकाइयाँ स्थापित कर सकती है।

अनुमान इस बात से लगता है कि ४,३०१ करोड रुपये की कुल पूँजी मे से ३,८६७ करोड रुपया केन्द्रीय सरकार द्वारा तथा केवल १० करोड रुपया राज्य सरकारो द्वारा विनियोजित है। शेष रकम भारत तथा विदेशो के पूँजीपतियों द्वारा लगायी गयी है।

(३) पहले दस का महत्त्व—लोक क्षेत्र मे लगी हुई पूँजी की तीसरी उल्लेखनीय बात यह है कि केन्द्रीय सरकार द्वारा लगायी गयी पूँजी का लगभग ८० प्रतिशत तो दस औद्योगिक इकाइयो मे लगाया गया है जिनके नाम निम्नलिखित हैं :

	लोक क्षेत्र मे पूँजी विनियोग	(करोड रुपये में)
१	हिन्दुस्तान स्टील लि०	१,०६३
२	बोकारो स्टील लि०	३५६
३	भारतीय खाद्य निगम	२६२
४	हैवी इजीनियरिंग कार्पोरेशन लि०	२४७
५	हिन्दुस्तान एयरोनॉटिक्स लि०	२१२
६	फर्टिलाइजर कार्पोरेशन ऑफ इण्डिया लि०	२०५
७	ऑयल एण्ड नेच्युरल गैस कमीशन	२०३
८	नेशनल कोल डेवलपमेण्ट कार्पोरेशन लि०	१८५
९	भारत हैवी इलैक्ट्रिकल्स लि०	१७४
१०	नीवेली लिगनाइट कार्पोरेशन लि०	१७०
	योग	३,१०७

इससे स्पष्ट है कि लोक क्षेत्र मे जो पूँजी लगी हुई है उसका अधिकाश भाग इस्पात, इजीनियरी, खाद, तथा गैस, कोयला और भारी मशीन एव वायुयान उद्योगों में लगा हुआ है। केन्द्रीय सरकार की कुल विनियोजित पूँजी का लगभग ३७ प्रतिशत भाग इस्पात उद्योग मे लगा हुआ है। इस्पात उद्योग एक बुनियादी उद्योग है जो सभी प्रकार की मशीनो के लिए कच्चा माल देता है। इसलिए इसमे अधिक पूँजी लगाना सर्वथा उचित है।

(४) पिछड़े हुए क्षेत्रों मे पूँजी—लोक क्षेत्र मे पूँजी विनियोग की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसका काफी भाग पिछड़े हुए प्रदेशों मे लगाया गया है। इस तथ्य का अनुमान निम्नलिखित अको से लग सकता है

विभिन्न राज्यों मे लगी सरकारी पूँजी का प्रतिशत

राज्य	बिहार	मध्य प्रदेश	उडीसा	प० बगाल	तमिलनाडू	उत्तर प्रदेश
प्रतिशत	१७ ६	१५ ७	१२ २	११ ६	७ ६	४,१

इन आँकड़ों से स्पष्ट है कि बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा तथा उत्तर प्रदेश में सरकार द्वारा काफी पूँजी लगायी गयी है। इनमें जन संख्या, आकार तथा औद्योगिक पिछड़ेपन को देखते हुए उत्तर प्रदेश में विनियोजित पूँजी बहुत कम है। पश्चिमी बंगाल तथा तामिलनाडु पिछड़े हुए राज्य नहीं हैं किन्तु इनमें प्राकृतिक साधनों का प्रयोग करने के लिए अधिक पूँजी लगायी गयी है।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि असम, हिमाचल प्रदेश तथा राजस्थान भी बहुत कम विकसित राज्य हैं। इनमें केन्द्रीय सरकार द्वारा बहुत कम पूँजी लगायी गयी है। असम में कुल सरकारी पूँजी का १ ८ प्रतिशत, हिमाचल प्रदेश में केवल ० १ प्रतिशत तथा राजस्थान में केवल ० ८ प्रतिशत भाग लगाया गया है। अतः इन राज्यों में अधिक लोक क्षेत्रीय उद्योगों की स्थापना करना आवश्यक है। ताकि इनके आर्थिक विकास की गति तेज हो सके।

लोक क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण औद्योगिक इकाइयाँ
(IMPORTANT INDUSTRIAL UNITS OF PUBLIC SECTOR)

लोक क्षेत्र की औद्योगिक इकाइयों का अध्ययन उद्योग के अनुसार करना उचित होगा। अतः उद्योग की दृष्टि से उन पर विचार किया जा रहा है।

(१) इस्पात उद्योग
(Steel Industry)

भारत सरकार द्वारा लोक क्षेत्र के उद्योगों में लगायी गयी कुल पूँजी का लगभग ३७ प्रतिशत भाग इस्पात उद्योग में लगाया गया है। इस उद्योग की केन्द्रीय सरकार के अधीन दो इकाइयाँ हैं। पहली हिन्दुस्तान स्टील लि० (Hindustan Steel Ltd.) तथा दूसरी बोकारो स्टील लि० (Bokaro Steel Ltd)।

हिन्दुस्तान स्टील कम्पनी १९५३ में स्थापित की गयी थी। इसकी अधिकृत पूँजी १०० करोड़ रुपये निश्चित की गयी। इस कम्पनी की स्थापना राउरकेला स्टील प्लांट का निर्माण एवं प्रबन्ध करने के वास्ते की गयी थी। बाद में दुर्गापुर तथा भिलाई में इस्पात के कारखाने स्थापित कर दिये गये। अप्रैल, १९५७ में इन दोनों इकाइयों को भी हिन्दुस्तान स्टील के अधीन कर दिया गया और इसकी अधिकृत पूँजी बढ़ा कर ३०० करोड़ रुपये कर दी गयी।

पूँजी—मार्च, १९६२ में इन तीनों इस्पात कारखानों की क्षमता में वृद्धि का निश्चय किया गया और हिन्दुस्तान स्टील की अधिकृत पूँजी बढ़ाकर ६०० करोड़ रुपये कर दी गयी।

३१ मार्च, १९७१ को हिन्दुस्तान स्टील में सरकार की कुल १,०२६ करोड़ रुपये की रकम विनियोजित थी। इस रकम में से ५५७ करोड़ रुपये अंश पूँजी तथा शेष ४६९ करोड़ रुपये के ऋण थे। १९७१-७२ में ९ करोड़ रुपये की अंश पूँजी बढ़ाने की व्यवस्था है ताकि कम्पनी नयी योजनाएँ अपने हाथ में ले सके।

उत्पादन—१९७०-७१ मे हिन्दुस्तान स्टील के अधीन तीनो कारखानो मे तैयार इस्पात का उत्पादन निम्नलिखित था :

भिलाई	१५.५	लाख टन
राउरकेला	६ ८	" "
दुर्गापुर	४.१	" "
	२६ ४	" "

इन तीनो कारखानो की उत्पादन क्षमता तो ४० लाख टन की है परन्तु पूरी क्षमता का उपयोग नही हो रहा है अत. उत्पादन केवल २६ लाख टन से कुछ अधिक ही रहा है। इतने कम उत्पादन का मुख्य कारण यह है कि राउरकेला तथा दुर्गापुर कारखानों मे मजदूरो के उपद्रव नियमित रूप मे होते रहे हैं। भिलाई का उत्पादन तेजी से बढ रहा है।

बोकारो स्टील—बोकारो स्टील लि० जनवरी १९६४ मे स्थापित की गयी थी। इसका उद्देश्य लोक क्षेत्र मे चौथा इस्पात कारखाना लगाना है। इसमे सोवियत सघ द्वारा तकनीकी तथा वित्तीय सहायता दी जायगी। रूसियन सरकार ने इस निर्णय के अनुसार २० करोड रूबल का ऋण दिया है।

बोकारो स्टील की क्षमता ४० लाख टन इस्पात तैयार करने की होगी। पहले चरण मे १७ लाख टन स्टील तैयार होगा। यह चरण १९७४ मे पूरा हो जायगा। इस चरण में ही उत्पादन २५ लाख टन करने का निश्चय किया गया है। प्रथम चरण के पूरा होने मे ७६० करोड रुपया खर्च होने का अनुमान लगाया गया है।

बोकारो स्टील की अधिकृत पूँजी ३८५.करोड रुपये निश्चित की गयी थी जो बढा कर अब ५०० करोड रुपये कर दी गयी है। ३१ मार्च, १९७१ तक भारत सरकार ने इसमे ४१० करोड रुपये की अश पूँजी तथा ६० करोड रुपये का ऋण दिया है। इस प्रकार इस योजना मे सरकार द्वारा ५०० करोड रुपये की रकम लगायी जा चुकी है।

मैसूर—इन स्टील कारखानो के अतिरिक्त मैसूर राज्य में भद्रावती नामी स्थान पर एक छोटा सा इस्पात कारखाना है जो मैसूर राज्य द्वारा चलाया जा रहा है। इसकी स्थापना बहुत पहले हुई थी किन्तु इसे कम्पनी का रूप अप्रैल, १९६२ मे दिया गया। इसकी कुल पूँजी लगभग २० करोड रुपये है। इसका उत्पादन १ लाख टन तक बढाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं।

लाभ-हानि—हिन्दुस्तान स्टील को अपने आरम्भ काल से ही हानि सहन करनी पडी है। अपने आरम्भ से ३१ मार्च, १९७० तक इसकी कुल हानि लगभग १२८ करोड रुपये तक पहुँच गयी है।

मैसूर के कारखाने को भी ३१ मार्च, १९७० तक ७ करोड़ रुपये से अधिक हानि हो चुकी है।

नये कारखाने—१७ अप्रैल, १९७० को प्रधान मन्त्री इन्दिरा गाँधी ने सालेम (तामिलनाडु), रोजपेट (मैसूर) तथा विशाखापत्तनम् (आन्ध्र प्रदेश) मे स्टील कारखाने लगाने की घोषणा की थी।' यह तीनों कारखाने भारतीय इञ्जीनियरो द्वारा लगाये जायेंगे। इनके बारे मे तकनीकी रिपोर्ट तैयार की जा रही हैं।

(२) खाद उद्योग
(Fertilizer Units)

१ जनवरी, १९६१ को सिन्द्री तथा नागल की खाद फैक्टरियो का कार्य सम्भालने के लिए भारतीय खाद निगम की स्थापना की गयी। इस निगम की सात इकाइयाँ हैं जो *अमोनियम सल्फेट, यूरिया, अमोनियम सल्फेट, नाइट्रेट मे से सब या* कुछ का उत्पादन करती हैं।

यह सात इकाइयाँ निम्नलिखित स्थानो पर हैं

सिन्द्री (बिहार), नागल (पजाब), ट्राम्बे (महाराष्ट्र), नाम रूप (असम),
गोरखपुर (उत्तर प्रदेश), कोरबा (मध्य प्रदेश) तथा दुर्गापुर (प० बगाल)

निगम की अधिकृत पूँजी ७५ करोड रुपये है किन्तु इसमे कुल पूँजी २०५ करोड लगी हुई है। निगम की प्राय सभी इकाइयाँ यूरिया का उत्पादन करती हैं। सिन्द्री, तथा दुर्गापुर अमोनियम सल्फेट भी बनाते हैं और ट्राम्बे तथा दुर्गापुर नाइट्रोजन भी उत्पादित करते है। इन सबका वार्षिक उत्पादन लगभग २० लाख टन तक पहुँच गया है। खाद निगम उन इकाइयो मे से है जिनको नियमित लाभ मिल रहा है। १९६९ ७० मे इसे *लगभग १ २० करोड रुपये का लाभ प्राप्त हुआ।*

(३) तेल उद्योग
(Oil Industry)

तेल उद्योग से सम्बन्धित दो महत्त्वपूर्ण सस्थाएँ हैं। एक तेल तथा प्राकृतिक गैस आयोग (Oil and Natural Gas Commission) तथा दूसरी भारतीय तेल निगम (Indian Oil Corporation) है। तेल तथा गैस आयोग की स्थापना १९५६ मे हुई थी। इसका काम देश के विभिन्न भागो मे तेल तथा गैस की खोज करना है। इसमे २०३ करोड रुपये की पूँजी लगी हुई है।

आयोग ने अकलेश्वर, कलोल, नवगाँव (गुजरात) तथा नहारकटिया (असम) में तेल खोज निकाला है। इस तेल का शोधन करने के लिए लोक क्षेत्र मे नूनमाटी (१९६२), बरौनी (१९६५), *कोयली, कोचीन (१९६६), मद्रास तथा* हल्दिया मे तेल शोधशालाएँ स्थापित की गयी हैं। इन तेल साफ करने के कारखानों की कुल क्षमता १०० लाख टन वार्षिक है।

तेल तथा गैस आयोग उन इनी गिनी सस्थाओं में से है जिन्हें लोक क्षेत्र मे होते हुए भी लाभ हो रहा है। १९६९-७० मे इस आयोग ने लगभग १२ करोड रुपये का लाभ कमाया।

भारतीय तेल निगम की स्थापना १९५९ में की गयी थी। इसमें लगभग १३२ करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई है। तेल निगम का काम तेल प्राप्त कर देश भर में उसकी उचित मूल्य पर बिक्री करना है। इस कार्य के लिए उसके देश भर में पूर्ति केन्द्र काम कर रहे हैं। तेल निगम को भी १९६९-७० में लगभग २२ करोड़ रुपये का लाभ प्राप्त हुआ।

(४) बिजली का भारी सामान
(Heavy Electricals)

बिजली का सामान बनाने के लिए भारी मशीनों का निर्माण करना आवश्यक होता है। अगस्त, १९५६ में इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भोपाल में एक कारखाना स्थापित किया गया जिसका नाम हैवी इलेक्ट्रिकल्स लि० रखा गया। इस कम्पनी का काम हरिद्वार (उत्तर प्रदेश), रामचन्द्रपुरम् (आन्ध्र प्रदेश), तिरुवेरुम्बर (मद्रास) तथा भोपाल (मध्य प्रदेश) की परियोजनाओं को पूरा करना था। १७ नवम्बर, १९६४ को इनमें से पहली तीन को मिला दिया गया और उनका नाम भारत हैवी इलेक्ट्रिकल्स लि० (*Bharat Heavy Electricals*) रख दिया गया।

भोपाल की इकाई हैवी इलेक्ट्रिकल्स के नाम से अलग बनी रह गयी है।

इन दोनों इकाइयों द्वारा बिजली का भारी सामान तथा मशीनें आदि बनायी जाती हैं। इनमें कुल मिलाकर लगभग ३०० करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई है।

यह दोनों ही इकाइयाँ हानि में चल रही हैं। १९६९-७० में ही इनको ९ करोड़ रुपये से अधिक हानि उठानी पड़ी।

(५) इंजीनियरी उद्योग
(*Engineering Industry*)

औद्योगिक विकास के लिए छोटी और बड़ी मशीनें तथा औज़ार बनाने के कारखाने स्थापित करना बहुत आवश्यक है। बड़ी मशीनें छोटी मशीनें बनाने के काम आती हैं और उन मशीनों को चालू रखने के लिए औज़ार बनाना बहुत आवश्यक है।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ३१ दिसम्बर, १९५८ को भारी इंजीनियरी निगम (Heavy Engineering Corporation) राँची में स्थापित किया गया। इस निगम की तीन इकाइयाँ हैं

(i) भारी मशीनें बनाने की इकाई जो प्रति वर्ष १ लाख टन से अधिक वजन की भारी मशीनें निर्माण करेगी।

(ii) पुर्जे ढालने की इकाई जिसकी वार्षिक क्षमता लगभग २ लाख टन होगी।

(iii) भारी मशीनी औज़ार इकाई जिसकी वार्षिक क्षमता १०,००० टन होगी।

इनमें से पहली इकाई सोवियत संघ की सहायता से स्थापित की गयी है। दूसरी तथा तीसरी इकाइयों की स्थापना चेकोस्लोवाकिया की सहायता से हुई है।

इस निगम मे ३१ मार्च, १९७१ को भारत सरकार की कुल लगभग २७४ करोड रुपये की पूँजी लगी हुई थी।

इजीनियरी निगम भी प्राय हानि पर ही चलता रहा है। आरम्भ से ३१ मार्च, १९७१ तक इसकी कुल हानि का अनुमान लगभग ५९ करोड रुपये लगाया गया।

दूसरी सस्था हिन्दुस्तान मशीन टूल्स लि० (Hindustan Machine Tools Ltd) बगलौर मे है। यह घडियाँ तथा मशीनो के अन्य औजार बनाती है। इसकी शाखाएँ पिजौर (पजाब) तथा अजमेर मे हैं। इसकी स्थापना १९५३ मे हुई थी। इसमे सरकार की लगभग २९ करोड रुपये की पूँजी लगी हुई है।

इन सस्थाओ के अतिरिक्त त्रिवेणी स्ट्रक्चरल्स लि० तथा एजीनियरिंग प्राडक्टस लि० हैं। पहला सस्थान नैनी मे है। इसमे सरकार की लगभग ६ करोड रुपये की पूँजी लगी हुई है। यह सस्था स्टोरेज टैंक, ट्रासमिशन टावर, इस्पात के पुल, क्रेन तथा मकानो के लिए अन्य भारी सामान तैयार करती है।

इजीनियरिंग प्राडक्ट्स की स्थापना अप्रैल, १९७० मे हुई थी। यह इस्पात कारखानो, खानो, खाद फैक्टरियो आदि के लिए साज सामान तथा उपकरणो की व्यवस्था के लिए स्थापित की गयी है।

(६) कोयला विकास
(Coal Development)

कोयले के विकास के लिए दो महत्त्वपूर्ण निगम बनाये गये हैं। पहला राष्ट्रीय कोयला विकास निगम (National Coal Development Corporation Ltd) है जिसकी स्थापना १९५६ मे राँची मे की गयी। निगम सरकार द्वारा सचालित कोयला खानो का प्रबन्ध सम्भालता है। इस निगम के अन्तर्गत २४ कोयला खानें हैं जिनसे प्रति वर्ष लगभग १'५ करोड टन कोयला निकाला जाता है। निगम चार स्थानो पर कोयला धोने की इकाइयाँ चला रहा है जिनमे प्रतिवर्ष लगभग २० लाख टन कोयला धोया जाता है।

कोयला निगम मे लगभग १८५ करोड रुपये की पूँजी लगी हुई है। इसमें १९६९ ७० मे १ करोड रुपये से कुछ अधिक का लाभ हुआ।

दूसरा निगम नीवेली लिगनाइट कार्पोरेशन है जिसकी पूँजी लगभग १७० करोड रुपये है। यह लिगनाइट कोयले के खनन तथा विकास के लिए उत्तरदायी है। नीवेली निगम मे १९६९-७० मे लगभग ४.४ करोड रुपये की हानि हुई। गत वर्षों मे भी इसमे हानि होती रही है।

(७) जहाजी व्यवसाय
(Shipping Industry)

भारत मे जहाज बनाने का एक कारखाना है जिसकी स्थापना विशाखापत्तनम् मे १९४० मे की गयी थी। इसे सिंधिया कम्पनी ने स्थापित किया था, किन्तु १९५२

मे इसे भारत सरकार द्वारा खरीद लिया गया। इसका प्रबन्ध चलाने के लिए हिन्दुस्तान शिपयार्ड लि० की स्थापना की गयी। यह प्रति वर्ष चार जहाज निर्माण करता है। हिन्दुस्तान शिपयार्ड लि० मे १० करोड रुपये की पूँजी लगी हुई है। यह सस्थान लाभ मे चल रहा है।

दूसरा शिपयार्ड कोचीन मे बनाया जा रहा है जिसमे जापान से सहायता मिल रही है।

अन्य—इन औद्योगिक इकाइयो के अतिरिक्त खनिज विकास, नमक, टैलीफोन, दवाएँ तथा अन्तुनाशक पदार्थों के लिए औद्योगिक इकाइयाँ स्थापित की गयी हैं।

लोक क्षेत्र के उद्योगों मे लाभ-हानि

साधारण रूप मे लोगो की यह मान्यता है कि सरकारी उद्योग लाभ कमाने के लिए नहीं होते, जनता की सेवा के लिए स्थापित किये जाते हैं। यह बात न तो सैद्धान्तिक रूप मे सही है न व्यवहार मे उचित मानी जा सकती है। लोक क्षेत्र के उद्योगो को उचित मात्रा में लाभ कमाना ही चाहिए ताकि उनसे सरकार की कुल आय मे वृद्धि हो सके। इस आय की रकम से सरकार नयी औद्योगिक इकाइयाँ स्थापित कर सकती है या पुरानी इकाइयो का विस्तार कर सकती है।

भारत के उद्योग—भारत मे लोक क्षेत्र मे ३१ मार्च, १९७० को ९१ इकाइयाँ थी जिन पर ४,३०१ करोड रुपये की पूँजी लगी हुई थी (इनमे रेलें सम्मिलित नहीं हैं), इनमे से १९६९ ७० मे ३९ इकाइयों ने लगभग ७१ करोड रुपये का लाभ कमाया जबकि ५२ इकाइयो को ६४ करोड रुपये की हानि हुई। इस प्रकार ४,३०० करोड रुपये पर कुल ७ करोड रुपये का शुद्ध लाभ हुआ जो ० १७ प्रतिशत मात्र है।

जिन इकाइयो मे विशेष लाभ है उनके नाम तेल निगम, तेल तथा गैस आयोग, राज्य व्यापार निगम, भारत इलेक्ट्रोनिक्स, एयर इंडिया, टैलीफोन, खाद्य निगम, राष्ट्रीय कोयला निगम आदि हैं। विशेष हानि उठाने वाले उद्योगो के नाम हैवी इंजीनियरिंग कारपोरेशन, हैवी इलैक्ट्रिकल्स, नीवेली लिगनाइट निगम, तथा अन्य निगम हैं। इनमे से अनेक निगम ऐसे हैं जिनपर अभी पूरी शक्ति से काम होना आरम्भ नहीं हुआ है।

हानि के कारण और उपाय

लोक क्षेत्र के उद्योगो या अन्य सस्थानो मे जो हानि हो रही है या सामान्य दर से बहुत कम लाभ हो रहा है, उसे ठीक करने के लिए निम्नलिखित काम किये जाने चाहिए :

(१) उत्पादन शक्ति—इनकी उत्पादन शक्ति प्राय पूरी तरह काम मे नही ली जाती। इसे पूरी तरह काम मे लेना चाहिए ताकि इनके उत्पादन मे वृद्धि हो सके। अधिक उत्पादन होने से इन उद्योगो के लाभ की दर उचित स्तर पर आ जायेगी।

(२) सत्ता का विकेन्द्रीकरण—लोक क्षेत्र के उद्योगो मे प्राय निर्णय लेने मे देर होती है क्योकि निर्णय लेने का अधिकार किसी एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के हाथ मे होता है। यह व्यक्ति नौकरशाही की परम्पराओ मे पले हुए होते है। अत इन्हे छोटी से छोटी बात का निर्णय लेने मे देर होती है जिससे अनेक बार उद्योगो को बहुत हानि उठानी पड़ती है।

(३) प्रबन्ध व्यवस्था—लोक क्षत्र के उद्योगो मे प्राय केन्द्रीय प्रशासनिक सेवा (I A S) या राज्य प्रशासनिक सेवा के व्यक्तियों का अध्यक्ष, सामान्य व्यवस्थापक, महाप्रबन्धक आदि नियुक्त किया जाता है। इन व्यक्तियो को उद्योगो के सचालन का कोई अनुभव नही होता। यह व्यक्ति एक दो वर्ष मे कुछ अनुभव प्राप्त करते है तब तक इनकी बदली किसी दूसरे स्थान पर कर दी जाती है। इस प्रकार इन सस्थानो के प्रबन्धक जल्दी-जल्दी बदलते हैं। यह सवथा अनुचित नीति है। उचित तो यह है कि औद्योगिक सस्थानो के लिए प्रबन्धकों का एक अलग समूह बनाया जाना चाहिए जिसके प्रत्येक व्यक्ति को उचित प्रशिक्षण देकर उद्योगो के सचालन के योग्य बनाया जाना चाहिए। इन व्यक्तियो को औद्योगिक सेवा के लिए ही निश्चित कर दिया जाना चाहिए ताकि इनकी बार बार बदली नहीं करनी पड़े। इससे प्रबन्ध व्यवस्था मे सुधार होगा, उत्पादन मे वृद्धि होगी, लागत कम होगी और इन औद्योगिक इकाइयो को लाभ होने लगेगा।

(४) श्रम नीति—लोक क्षेत्र के उद्योगो के लिए एक सही और दृढ श्रम नीति अपनायी जानी चाहिए जिससे इन उद्योगो म शान्ति भी बनी रहे और इनमे उत्पादन मे हानि होने का भय न रहे। इसके लिए श्रमिको म स्वामित्व की भावना उत्पन्न करना बहुत आवश्यक है। वर्तमान मे लोक क्षेत्र मे काम करने वाले व्यक्ति अत्यन्त लापरवाही से काम करते हैं क्योकि उनकी सेवा की शर्तें ऐसी हैं कि उनमे हानि होने पर उन्हे कोई सजा नही मिलती तथा अधिक लाभ होने पर कोई पारितोषिक नही मिलता। इन उद्योगो मे ऐसी परम्पराएँ डालनी चाहिए कि अच्छा काम करने वाले को पारितोषिक मिल सके तथा घटिया काम करने वालो को दडित किया जा सके।

इसके लिए अच्छे काम की न्यायसगत परिभाषा अपनानी आवश्यक है।

(५) नयी प्राविधियाँ—अनेक सरकारी उद्योगो मे अब भी उत्पादन, लागत, बजट आदि के बारे मे पुराने तरीके और पुरानी परम्पराएँ ही अपनायी जाती है। यह किसी भी दृष्टि से उचित स्थिति नहीं कही जा सकती। इन उद्योगो मे नवीनतम तकनीक तथा श्रेष्ठतम प्राविधियाँ अपनायी जानी चाहिए और पुराने घिसे पिटे तरीकों मे सुधार किया जाना चाहिए।

(६) मूल्याकन—लोक क्षेत्र के उद्योगो मे जनता की रकम लगती है। उस रकम का श्रेष्ठतम प्रयोग हो इसके लिए इन इकाइयो के समय समय पर मूल्याकन

की व्यवस्था की जानी चाहिए। इन मूल्याकनो की रिपोर्ट प्रकाशित की जानी चाहिए और इन्हें इन उद्योगो के कर्मचारियो की जानकारी मे भी लाना चाहिए।

लोक उद्योगो की कार्य क्षमता या सेवा स्तर के बारे मे समय-समय पर जनता का मत जानने की चेष्टा की जानी चाहिए और जनता के मत की जानकारी कर्मचारियो को भी दी जानी चाहिए ताकि कर्मचारियो को अपने बारे मे जनता की राय का पता लग सके। इससे इन उद्योगो के प्रबन्ध मे कुछ कुशलता आने की सम्भावना हो सकती है।

(७) **सार्वजनिक प्रतिष्ठा तथा जानकारी**—लोक क्षेत्र के उद्योग अनेक बार बहुत उपयोगी काम करते हैं किन्तु उनके उपयोगी काम की सही जानकारी जनता को नहीं मिलती। इससे लोक क्षेत्र के उद्योगो को जो सामाजिक प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए, वह नही मिल पाती। अत लोक क्षेत्र के उद्योगो की उपलब्धियों के विषय मे समय-समय पर पत्रिकाएं, पुस्तिकाएं या विज्ञापन प्रकाशित किये जाने चाहिए ताकि उनके बारे म गलत धारणाएं दूर हो सकें और उनका सही स्वरूप समाज के सामने आ सके।

प्रशासनिक सुधार आयोग के सुझाव
(Recommendations of the Administrative Reform Commission)

लोक क्षेत्र के उद्योगो को लाभदायक बनाने की दृष्टि से प्रशासनिक आयोग द्वारा निम्नलिखित सुझाव दिये गये हैं

(१) **क्षेत्रीय निगम**—आयोग का मत है कि सारी औद्योगिक क्रियाओं को कुछ वर्गों मे बाँट कर कुछ निगम बना दिये जाने चाहिए जो एक निश्चित क्षेत्र की सब औद्योगिक इकाइयों की देख-रेख कर सकें। उदाहरण के लिए इस्पात के सभी सरकारी कारखानो को एक प्रबन्ध म ले लेना चाहिए, तेल साफ करने वाली इकाइयो का प्रबन्ध एक निगम को सौंप देना चाहिए। इससे प्रबन्ध व्यवस्था कुशल हो सकेगी और लागत म कमी आ जायेगी।

(२) **प्रबन्ध व्यवस्था**—आयोग ने प्रत्येक उद्योग से सम्बन्धित जानकारों को निदेशक मडल या प्रबन्ध मडल के सदस्य नियुक्त करने का सुझाव दिया है। इससे उचित समय पर उचित निर्णय लिए जा सकेंगे और कुशलता मे वृद्धि हो सकेगी।

(३) **लोक उपक्रम सस्थान**—तीसरा सुझाव यह दिया गया है कि लोक क्षेत्रीय उद्योगो के लिए जो सस्थान (Bureau of Public Enterprises) है उसके कार्य क्षेत्र को बढ़ाया जाना चाहिए। उसे केवल कुछ प्रकाशन निकालकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। उसके द्वारा इन उद्योगो की विभिन्न समस्याओ का विश्लेषण किया जाना चाहिए और नीति निर्धारण में मार्ग दर्शन किया जाना चाहिए।

(४) **आन्तरिक अंकेक्षण**—आयोग ने इन उद्योगों के वित्तीय प्रबन्ध को अधिक कुशल बनाये जाने का सुझाव दिया है। इसके लिए आन्तरिक अंकेक्षण प्रणाली मे सुधार का सुझाव दिया गया है।

(५) नियुक्ति प्रणाली—प्रशासनिक सुधार आयोग का मत है कि इन उद्योगो की विशेषज्ञो तथा अधिकारियों की नियुक्ति की प्रणाली उचित नही है। सभी व्यक्तियो को सरकारी सेवाओ मे से लेने के कारण इनका प्रशासन नौकरशाही के शिकजे मे जकड गया है। इसे मुक्त करने के लिए खुले बाजार से अनुभवी तथा क्रियाशील व्यक्तियो का चयन किया जाना चाहिए जो क्रान्तिकारी नीतियो को अपना सकें।

(६) अकेक्षक मण्डलों का गठन—प्रशासनिक सुधार आयोग ने लोक क्षेत्र के उद्योगो के हिसाब किताब की नियमित तथा उचित जाँच के लिए चार या पाँच अकेक्षक मण्डलो के गठन का सुझाव दिया है। यह अकेक्षक मण्डल नियन्त्रक तथा महा-अकेक्षक के निर्देश मे ही काम करेंगे।

इस प्रकार प्रशासनिक सुधार आयोग के सुझाव इन उद्योगो के प्रशासनिक, वित्तीय तथा जाँच सम्बन्धी कार्यों को कुशल तथा श्रेष्ठ बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान कर सकते हैं। सरकार को इन दिशाओ मे तत्काल उचित परिवर्तन तथा सुधार करने का प्रयत्न करना चाहिए।

अभ्यास प्रश्न

१ लोक क्षेत्रीय उद्योगो के क्या उद्देश्य हो सकते हैं? क्या उनका लक्ष्य समाजवाद की स्थापना करना होना है?
२ भारत मे लोक क्षेत्रीय सस्थानो के सगठन और प्रबन्ध व्यवस्था का विश्लेषण कीजिए।
३ भारत मे लोक क्षेत्रीय उपक्रमो के विशेष तत्त्वो की व्याख्या कीजिए।
४ भारत मे राज्य द्वारा किन महत्त्वपूर्ण क्षेत्रो मे औद्योगिक इकाइयाँ स्थापित की गयी हैं? इन क्षेत्रो का देश की अर्थ व्यवस्था मे क्या महत्त्व है?
५ भारत मे इस्पात, तेल तथा खाद उद्योगो की लोक क्षेत्रीय इकाइयो पर टिप्पणी लिखिए।
६ भारत मे लोक क्षेत्रीय उद्योगो के दो महत्त्वपूर्ण वर्गों का ब्यौरा लिखिए तथा उनका महत्त्व स्पष्ट कीजिए।
७ भारत मे लोक क्षेत्र के उद्योगो मे हानि के क्या कारण हैं? उन्हें दूर करने के लिए क्या उपाय किये जाने चाहिए?
■ प्रशासनिक सुधार आयोग द्वारा लोक क्षेत्र के उपक्रमो म सुधार करने के लिए जो सुझाव दिये हैं उनकी आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

१३

लोक क्षेत्र मे बैंकिंग

(BANKING IN THE PUBLIC SECTOR)

बैंक तथा अन्य उद्योगों मे भेद

बैंकिंग एक सेवा व्यवसाय है। इसमे व्यक्तिगत सम्पर्क का अत्यधिक महत्त्व होता है। क्योकि ग्राहक बैंकर के निरन्तर सम्पर्क मे आता है और उसके व्यवहार से प्रभावित होता है। अन्य उद्योगो मे विज्ञापन और विक्रय कला का अधिक महत्त्व होता है जबकि बैंक की श्रेष्ठ सेवाएँ ही उसका सबसे बडा विज्ञापन होती हैं। दायित्व की दृष्टि से भी बैंको की जिम्मेदारी बहुत अधिक होती है क्योकि वह अन्य व्यक्तियो के धन मे लेन-देन करते हैं। उस धन की सुरक्षा तथा श्रेष्ठतम प्रयोग—दोना बातो का ध्यान रखा जाना आवश्यक है।

बैंकिंग तथा अन्य उद्योगो के भेद निम्नलिखित बातो से स्पष्ट हो सकते हैं

(१) **व्यापार वस्तु-मुद्रा**—बैंको की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि बैंक मुद्रा मे लेन देन करते हैं। अन्य उद्योगो मे विभिन्न प्रकार की वस्तुओ का उत्पादन होता है और उन वस्तुओ को बेचने की व्यवस्था की जाती है। बैंक मुद्रा मे ही व्यापार करते हैं। कुछ व्यक्तियों की मान्यता है कि "बैंक मुद्रा का क्रय-विक्रय करते हैं।" इसका अर्थ यह है कि बैंक पूँजी उधार देते हैं और पूँजी जमा करते हैं। इस पूँजी के बदले ब्याज लिया दिया जाता है।

बैंक की इस विशेषता के कारण सरकार के लिए दो काम करने आवश्यक हो जाते हैं :

(i) ब्याज दरों को नियन्त्रित रखना, तथा

(ii) उधार की क्रियाओ का नियमन करना।

(२) **राष्ट्रीय बचतों के सरक्षक**—बैंको की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह समाज के विभिन्न वर्गों द्वारा जमा की गयी छोटी-छोटी रकमो को जमा करने वालो को आवश्यकता पडते ही यह रकमे लौटा देते हैं। इस प्रकार जमा की गयी रकमो को भी उधार देकर एक ओर तो वह व्यापार तथा उद्योग के विकास मे सहायक होते हैं, दूसरी ओर अपने लिए लाभ कमाते हैं।

इस विशेषता का एक उल्लेखनीय पहलू यह है कि बैंक दूसरों के धन से व्यापार करते हैं और उससे लाभ कमाते हैं। उदाहरण के लिए भारत के सभी बैंकों की अश पूंजी लगभग ५० करोड रुपये है जबकि बैंको मे जमा रकम ५,००० करोड रुपये से भी अधिक है। इस दृष्टि से बैंको के कुल साधनो मे अधिकाश भाग जमा करने वाले ग्राहको का ही होता है। किन्तु बैंको की नीति निर्धारण मे रकम जमा करने वालो का कोई हाथ नही होता। अत बैंको के असली मालिक (जिनके ५००० करोड रुपये जमा हैं) कुछ नही कर सकते जबकि थोडी सी रकम लगाने वाले अशधारी (५० करोड रुपये के मालिक) बैंको के मालिक माने जाते हैं और बैंको की नीति इनके द्वारा चुने गये निदेशको द्वारा निर्धारित होती है। यदि यह व्यक्ति बैंको के धन का दुरुपयोग करें तो इनकी तो ५० करोड रुपये की ही पूंजी डूबेगी, जमा करने वालो की ५,००० करोड रुपये की रकम डूब जायेगी। अत जमा करने वालो के हितों की रक्षा करने के लिए बैंकों की ऋण नीति या पूंजी लगाने सम्बन्धी नीति पर सरकार का पूरा नियन्त्रण होना चाहिए।

अन्य उद्योगो मे गलत नीति अपनाने से पूंजी लगाने वाले अशधारियो को ही हानि होती है, सामान्य व्यक्तियों को नही। अत बैंको मे अन्य उद्योगो की बजाय सरकारी हस्तक्षेप अधिक आवश्यक है।

(३) साख निर्माण—सामान्य उद्योगो की एक विशेषता यह होती है कि वह किसी न किसी वस्तु का उत्पादन या निर्माण करते हैं। बैंको द्वारा किसी वस्तु का निर्माण नही किया जाता। वह जमा रकम के आधार पर साख का निर्माण करते हैं। यह एक आश्चर्यजनक किन्तु सही तथ्य है कि किसी बैंक के पास १०० रुपया जमा होने पर वह इससे चार, पाँच या अधिक गुनी रकम उधार दे सकता है।

इस प्रकार बैंको की उधार देने की शक्ति बहुत व्यापक होती है। अत यदि उचित नियन्त्रण नही किया जाय तो साख का प्रसार बहुत तेजी से होने लगता है और वस्तुओ के मूल्यो मे वृद्धि होने का भय रहता है। इस दृष्टि से भी बैंको की नीति मे सरकार का उचित हस्तक्षेप बहुत आवश्यक होता है।

(४) शाखाएँ—बैंक तथा अन्य उद्योगों मे एक बडा भेद यह है कि बैंक देश विदेश मे जगह-जगह अपनी शाखाएँ खोलते हैं जबकि औद्योगिक इकाइयो को अपनी शाखाएँ खोलने की कोई आवश्यकता नही होती। बैंको का शाखा विस्तार कभी-कभी भयकर प्रतिस्पर्द्धा का रूप ग्रहण कर सकता है जिससे देश को हानि हो सकती है। अत शाखाओ का उचित नियमन करने के लिए भी सरकार का हस्तक्षेप बहुत आवश्यक है।

(५) व्यक्तिगत सेवा—उद्योगो में प्राय उद्योगपति या प्रबन्धक वास्तविक ग्राहको के सम्पर्क म नही आते। उनका माल थोक विक्रेताओ को बेचा जाता है, थोक विक्रेता फुटकर व्यापारियो को बेचते हैं और फुटकर व्यापारी ग्राहको को बेचते है। बैंकों मे साथ लेन देन बिलकुल प्रत्यक्ष होता है जिसमे वह ग्राहक के सीधे

सम्पर्क मे आते हैं। अत बैंकों को नयी नयी सेवाएं आरम्भ करनी पड़ती हैं, पुरानी सेवाओ में सुधार करना पड़ता है तथा ग्राहको की इच्छा, स्वभाव आदि का ध्यान रखना पडता है।

इस विशेषता के सन्दर्भ मे सरकार का केवल यह काम होता है कि वह बैंकों को नयी सेवाएँ प्रचलित करने मे सहायता करे तथा उनके लिए उचित वातावरण तैयार करने मे नैतिक या आर्थिक सहयोग प्रदान करे।

(६) सूचना के स्रोत—बैंक उद्योगों के लिए आवश्यकता के समय पूँजी की व्यवस्था करते हैं और उनके लिए विदेशों मे भी भुगतान कर देते हैं। बैंको की विदेशो मे शाखाएँ होती हैं जिनके माध्यम से वह विभिन्न देशो के व्यापारियो तथा उद्योगपतियो के बारे मे सही सूचना सग्रह कर अपने देश के व्यापारियो को दे सकते हैं। विदेशो मे व्यापार की प्रगति तथा वस्तुओं की माँग के विषय मे भी बैंको का योगदान महत्त्वपूर्ण हो सकता है।

इस प्रकार बैंकिंग एक ऐसा उद्योग है जो उद्योगो को अनेक प्रकार की सहायता और सेवा प्रदान करता है। अत इसका उचित दिशाओ मे नियमन होना बहुत आवश्यक है।

क्या बैंकों को सरकारी स्वामित्व मे ले लेना चाहिए ?

बैंकिंग की अलग विशेषताओं के कारण ही भारत म कुछ व्यक्तियो का मत रहा है कि बैंको को सरकारी अधिकार मे ही ले लेना चाहिए। बैंको को सरकारी स्वामित्व मे लेने की क्रिया को राष्ट्रीयकरण कहा जाता है। यदि बैंको की नीतियों का सरकार द्वारा नियन्त्रण हो तो इस क्रिया को सामाजिक नियन्त्रण कहते हैं। इन दोनो ही नीतियो का अत्यधिक महत्त्व है अत इन दोनो के बारे मे विस्तार से विचार किया जाना आवश्यक है।

राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे तर्क

भारत मे बैंको के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे निम्नलिखित तर्क दिये जाते रहे हैं

(१) अव्यवस्था—भारतीय निजी बैंकिंग का इतिहास अव्यवस्था, अनौचित्य, कुप्रबन्ध एव धन के दुरुपयोग का इतिहास है। देश के अनेक बैंक पूँजीपतियो के प्रभाव क्षेत्र मे हैं और यह पूँजीपति इन बैंको का धन अपने व्यक्तिगत स्वार्थ साधन के लिए काम मे लाते हैं। इन बैंकों के सचालको के प्रभाव के कारण बैंको की बहुत-सी राशि सट्टे के लिए प्रयुक्त की जाती है। इन सब दोषो को कानून द्वारा समाप्त करना अत्यन्त कठिन है। अत बैंको का राष्ट्रीयकरण ही इनका एकमात्र उपाय है।

(२) जनहित—रिजर्व बैंक की स्थापना (१९३५) और भारतीय बैंकिंग विधान के लागू होने (१९४९) के पश्चात् भी देश मे बैंको के बन्द होने का क्रम रुका नही है। वर्तमान मे भी देश मे कुछ बैंक हानि पर चल रहे हैं। यह स्थिति निश्चय ही असन्तोषजनक एव असह्य है। गत वर्षों को बैंक असफलताओ ने रिजर्व

बैंक की असमता एवं लापरवाही को प्रकट कर दिया है। अतः जमाकर्ताओं के हितों की रक्षा के लिए बैंकों को सरकारी अधिकार में लिया जाना आवश्यक है।

(३) औद्योगिक विकास—देश में उचित मात्रा में वांछित क्षेत्रों में साख प्रसार करने का कार्य बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि अधिक साख प्रसारित होने पर देश में मूल्य-वृद्धि का भय उत्पन्न हो जाता है और साख की कमी से देश की औद्योगिक एवं व्यावसायिक प्रगति को धक्का लगता है। बहुधा रिजर्व बैंक द्वारा साख नियन्त्रण के लिए नये-नये साधन अपनाने पड़ते हैं और उनकी सफलता भी प्रायः संदिग्ध रहती है। इस दृष्टि से देश के व्यावसायिक हितानुसार साख प्रसारित करने की एकमात्र पद्धति यही है कि बैंक का राष्ट्रीयकरण कर लिया जाय।

(४) सरकारी नीति की सफलता—भारत में एक समाजवादी समाज की स्थापना का निश्चय किया गया है जिसमें किसी का शोषण न हो और कोई भूखा-नंगा न रहे। इस नीति की सफलता के लिए शोषण के सम्पूर्ण साधनों को सरकारी नियन्त्रण में लेना आवश्यक है। भारतीय बैंकों के पास अरबों रुपये की पूँजी है जिसका उपयोग राष्ट्रीय हितों में करने का एकमात्र तरीका यह है कि देश के पिछड़े हुए ग्रामीण क्षेत्रों में बैंक की अधिकाधिक शाखाएँ खोली जायें, बड़े-बड़े बैंकों के लिए यह कर सकना कठिन नहीं है क्योंकि वह बहुत बड़ी राशि लाभ के रूप में कमाते हैं और छोटे स्थानों पर शाखाएँ खोलने से उन्हें इस लाभ के कुछ भाग से वंचित रहना पड़ेगा। निजी बैंक किसी भी दशा में अपनी लाभ-राशि कम करने को तैयार नहीं है अतः देश के बैंकिंग विकास के लिए बैंकों का राष्ट्रीयकरण करना ही हितकर है। राष्ट्रीयकरण होने पर बैंक देश के कोने-कोने में फैल सकेंगे, देश की ग्रामीण जनता को (जिसकी आय गत वर्षों में बढ़ गयी है) अधिक बचत करने के लिए प्रोत्साहित कर सकेंगे तथा देश की सम्पूर्ण बचत पूँजी का प्रयोग अधिकाधिक राष्ट्रीय हित में हो सकेगा जिससे देश में समाजवादी समाज की स्थापना में सहयोग मिलेगा।

(५) योजनाओं में सहयोग—बैंकों के राष्ट्रीयकरण से देश की जनता को भारतीय बैंकिंग प्रणाली में अधिकाधिक विश्वास हो जायेगा जिससे बैंकों की जमा राशि में समुचित वृद्धि होने की सम्भावना है। इससे भारत सरकार को केवल काफी अधिक राशि राष्ट्रीय विकास में प्रयुक्त करने के लिए प्राप्त हो जायेगी बल्कि सरकार के हाथों एक ऐसी कामधेनु लग जायगी जिसके साधनों में निरन्तर वृद्धि होती रहेगी। इससे भारतीय योजनाओं की सफलता में अधिकाधिक सफलता मिल सकेगी।

(६) विदेशी व्यापार—भारत के विदेशी व्यापार के लिए अधिकांश वित्तीय व्यवस्था अभी तक विदेशी बैंकों के हाथ में है क्योंकि भारतीय बैंकों के साधन कम हैं और वह यथेष्ट मात्रा में विदेशी व्यापार के लिए ऋण नहीं दे सकते। बैंकों के राष्ट्रीयकरण से वह एक केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत आ जायेंगे जिससे उनके साधनों

मे आशातीत वृद्धि हो जायेगी और कुछ बैंक जिन्हें विदेशी विनिमय व्यवसाय करने की अनुमति दी जायेगी, यथेष्ट मात्रा में विदेशी व्यापार के लिए धन की व्यवस्था कर सकेंगे। इससे विदेशी बैंकों के विरुद्ध की गयी शिकायतों का भी अन्त हो जायेगा और भारतीयों को ही विदेशी व्यापार का सम्पूर्ण लाभ मिल सकेगा।

भारतीय विदेशी व्यापार मे एक अत्यन्त गम्भीर दोष यह है कि देश से निर्यात होने वाले माल से कम राशि के बीजक (Under invoicing) बनाये जाते हैं जिससे भारत को विदेशी विनिमय की अधिकृत आय कम होती है। जितनी कम राशि के बीजक बनाये जाते हैं वह प्राय निर्यातकर्ता के व्यक्तिगत खाते में अमरीका अथवा स्विटजरलैण्ड के बैंकों मे जमा होती रहती है और इसका प्रयोग स्वर्ण का तस्कर व्यापार अथवा अन्य अनैतिक अथवा अवैध कार्यों के लिए किया जाता है। बैंकों के राष्ट्रीयकरण से इस अनैतिक प्रथा के मार्ग मे अड़चन उत्पन्न हो जायेगी क्योंकि बैंकों को प्राय इस प्रकार की अवैध कार्यवाहियों का पता चले बिना नहीं रहता। सार्वजनिक क्षेत्र मे होने के कारण यह कम बीजक बनाने की प्रथा का अन्त करने मे सहायक हो सकेंगे और इस प्रकार देश की बहुमूल्य विदेशी विनिमय की चोरी बन्द हो जायेगी।

(७) महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों के लिए सुविधाजनक ऋण—भारतीय बैंकों पर यह आरोप लगाया गया है कि वह केवल बड़े-बड़े उद्योग तथा महत्त्वपूर्ण व्यावसायिक इकाइयों को ही रकम देते हैं, उन्होंने कृषि तथा लघु उद्योगो (जो देश की अर्थ-व्यवस्था मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं) को आर्थिक सहायता देने की दिशा मे कोई रुचि नहीं दिखलायी है। इन क्षेत्रो म ऋण देने मे जोखिम अधिक है अत यह कार्य केवल सरकारी बैंक ही कर सकते हैं। इसलिए कृषि तथा लघु उद्योगों के लिए पर्याप्त धन की व्यवस्था करने के लिए व्यापारिक बैंको का राष्ट्रीयकरण करना बहुत आवश्यक है।

(८) बैंकिंग सेवाओं का विस्तार—भारत मे अधिकाश जनता ग्रामो में रहती है और गत वर्षों म ग्रामीण क्षेत्रो मे बहुत रकम विनियोजित की गयी है अत उस रकम का एक भाग राष्ट्रीय बचतों के रूप मे प्राप्त करने के लिए ग्रामो मे बैंकों की शाखाएँ खोलना बहुत आवश्यक है। यह कार्य भी तत्काल लाभ देने वाला नहीं है अत इसमे निजी बैंक रुचि नहीं लेंगे, इसलिए ग्रामों मे बैंक सुविधाओं का विस्तार राष्ट्रीयकरण किये बिना नहीं हो सकता।

राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध तर्क

भारतीय बैंकों के राष्ट्रीयकरण के उपर्युक्त लाभ बहुत कुछ काल्पनिक ज्ञात होते हैं क्योंकि बैंकिंग व्यवसाय के दोषो के लिए राष्ट्रीयकरण रामबाण नहीं है। इसका अनुमान निम्नलिखित बातों से लगता है :

(१) रिजर्व बैंक द्वारा अधिकारों का प्रयोग—भारतीय बैंकिंग अधिनियम के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को भारतीय बैंकों के नियमन तथा नियन्त्रण के अत्यन्त

व्यापक अधिकार प्रदान किये गये हैं। यदि इन अधिकारों का प्रयोग तत्परता से किया जाय तो भी बैंकों मे व्याप्त दोष दूर हो सकते हैं।

(२) कुशलता मे कमी—राष्ट्रीयकरण से भारतीय बैंको मे काम करने का उत्साह समाप्त हो जायेगा, उनमे सरकारी तानाशाही उत्पन्न होने का भय रहेगा और कर्मचारियो में जो कुछ सेवा भाव है वह उनकी नौकरी अत्यधिक सुरक्षित हो जाने के कारण समाप्त हो जायेगा। सरकारी अकुशलता का एक प्रमाण जीवन बीमा निगम के विनियोगो से मिल सकता है जिसके द्वारा लाखों रुपये अवाछनीय अशो में विनियोजित किये गये और श्री फिरोज गाँधी द्वारा उन्हे प्रकाश मे लाये जाने पर एक विशेष अदालत मे श्री हरिदास मूंदड़ा पर मुकदमा चलाया गया और अन्तत भारत सरकार के वित्त सचिव (एच० एम० पटेल) तथा वित्त मन्त्री (श्री टी० टी० कृष्णमाचारी) को अपदस्थ होना पड़ा था। बैंको के राष्ट्रीयकरण से व्यवस्था का यह अतिरिक्त भार सरकार के मन्त्रालय पर आ पड़ेगा जिसे सम्भालना अत्यन्त कठिन होगा।

(३) लाभ काल्पनिक—राष्ट्रीयकरण द्वारा बैंकिंग व्यवस्था में जिन लाभो की कल्पना की गयी है वह भी भ्रामक प्रतीत होती है क्योंकि उनकी अनियमितताएँ उचित नियन्त्रण द्वारा दूर की जा सकती हैं। वस्तुत सरकारी अधिकार मे आ जाने के पश्चात् उनमे अधिक अकुशलता एव अनियमितता आने का भय रहेगा। भारतीय रिजर्व बैंक के थोड़ा-सा अधिक सतर्क होने पर सरलता से यह समस्या हल हो जायेगी।

(४) निक्षेप बीमा निगम—जमाकर्ताओ के हितो की रक्षा करने के लिए निक्षेप बीमा निगम (Deposit Insurance Corporation) की स्थापना हो चुकी है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक जमाकर्ता की १०,००० रुपये तक की जमा राशि बीमे द्वारा सुरक्षित है अर्थात् यदि किसी व्यक्ति के एक बैंक मे १०,००० रुपये तक जमा हैं तो बैंक क बन्द हो जाने पर निक्षेप बीमा निगम उस रकम को चुकाने की गारण्टी करता है। भारत मे एक सामान्य नागरिक १०,००० रुपये से अधिक रकम जमा करने की स्थिति में नहीं है अत जमाकर्ताओं के हित सुरक्षित करने के लिए बैंको का राष्ट्रीयकरण आवश्यक नहीं है।

(५) उदार ऋण नीति—जहाँ तक औद्योगिक विकास का प्रश्न है, गत वर्षों मे भारतीय बैंको की नीति उद्योगो को ऋण देने के प्रति यथेष्ट उदार हो गयी है। अन्तर केवल इतना है कि यदि सरकार ने बैंको की राशि का प्रयोग सरकारी उद्योगों के विकास के लिए आरम्भ कर दिया तो निजी क्षेत्र के उद्योगों को पूँजी प्राप्त करने में कठिनाई होगी और अन्तत उनके लिए सरकार को व्यवस्था करनी होगी इस दृष्टि से राष्ट्रीयकरण द्वारा औद्योगिक विकास मे कोई विशेष सहायता मिलने की सम्भावना प्रकट नही होती।

(६) शाखा-विस्तार—भारतीय निजी बैंको द्वारा ग्रामीण क्षेत्रो में शाखाएँ

न खोलने का आरोप सर्वथा सत्य होते हुए भी अनुचित प्रतीत होता है क्योंकि सरकार इस दिशा में सर्वथा पक्षपातपूर्ण नीति अपना रही है। स्टेट बैंक अथवा उसके सहायक बैंकों द्वारा जो शाखाएँ ग्रामीण क्षेत्रों मे खोली जाती हैं उन पर होने वाली हानि की पूर्ति एक विशेष कोष द्वारा की जाती रही है जबकि निजी बैंकों को इस प्रकार की सुविधा उपलब्ध नहीं है। इसके साथ ही स्टेट बैंक भारत के सभी बैंकों से अधिक लाभांश वितरित करता है। यह एक विचित्र विरोधाभास है कि इतना अधिक लाभ कमाने वाला बैंक जिसे सरकारी वरद् हस्त की छाया प्राप्त है, ग्रामीण शाखाओं की हानि-पूर्ति के लिए सहायता प्राप्त करता है। यह स्थिति निश्चित ही समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के अनुकूल नहीं जान पड़ती। अतः जिस कार्य को स्टेट बैंक करने के लिए तैयार नहीं है वह निजी बैंकों द्वारा न किया जाने पर उनके राष्ट्रीयकरण की बात करना न्याय का गला घोंटने के समान होगा।

(७) आर्थिक दृष्टिकोण से दोषपूर्ण—राष्ट्रीयकरण के विचार को यदि शुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से भी देखा जाय तो स्थिति बहुत पक्ष मे प्रतीत नहीं होती। भारतीय बैंकों के कुल लाभ (शुद्ध) ३५-३६ करोड रुपये के तुल्य होते हैं जिनमे से उन्हें १८ करोड रुपये कर रूप मे चुकाने पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त बोनस तथा विभिन्न कोषों मे डालने के पश्चात् लगभग ८-६ करोड रुपये की राशि लाभांश रूप मे वितरित करनी पडती है। इस प्रकार राष्ट्रीयकरण द्वारा सरकार को ८ करोड रुपये से भी कम वार्षिक लाभ प्राप्त होगा। परन्तु यह भी सही स्थिति नहीं है क्योंकि बैंकों की प्रदत्त पूंजी तथा कोष की मात्रा लगभग १०० करोड रुपय है। बैंको का राष्ट्रीयकरण करने पर इस राशि के ऋण-पत्र (Bonds) देने होंगे जिन पर प्रचलित दर से लगभग ५ प्रतिशत ब्याज देना होगा। इस प्रकार ब्याज का वार्षिक व्यय भी लगभग ५ करोड रुपये होगा। अत भारत सरकार की शुद्ध वार्षिक आय नगण्य होगी। इससे स्पष्ट है कि बैंकों के राष्ट्रीयकरण जैसा भारी कदम उठाना उचित प्रतीत नही होता। अत बैंकों को देश की अर्थ-व्यवस्था के लिए अधिक उपयोगी बनाने के लिए रिजर्व बैंक के अच्छे नियन्त्रण के अतिरिक्त अन्य मार्ग ही अपनाये जाने चाहिए।

(८) कृषि तथा लघु उद्योगों के लिए धन—बैंकों पर यह आरोप लगाना कि वह खेती के विकास या लघु उद्योगों की उन्नति के लिए ऋण नही देते, सही हो सकता है परन्तु यह एक सर्व-स्वीकृत तथ्य है कि कृषि के लिए ऋण देने का दायित्व सहकारी बैंकों का रहा है और बैंक उन सभी व्यावसायिक इकाइयों को ऋण देते रहे हैं जो उचित जमानत दे सकती हैं, चाहे वह लघु इकाई हो या बड़ी। अत व्यापारिक बैंकों को इन दोनों क्षेत्रों में निष्क्रिय करने के लिए दोषी ठहराना उचित नहीं है।

नीति का अभाव—वास्तव मे, राष्ट्रीयकरण कोई रामबाण औषधि नहीं है। बैंकों मे कमियाँ या दोष हो सकते हैं परन्तु वह कमियाँ या दोष बैंकों के राष्ट्रीयकरण

से दूर हो जायेगी, यह कहना केवल सैद्धान्तिक डींग हाँकना है। सुव्यवस्था और सुप्रबन्ध एवं धन का राष्ट्रीय हित में सदुपयोग सरकार की श्रेष्ठ नीतियों पर निर्भर करता है। भारत सरकार ने प्रथम तीन योजनाओं में तथा बाद के वर्षों में यह विचार भी नहीं किया कि आर्थिक विकास के लिए साख नियोजन का भी कोई महत्त्व है। अतः यह आरोप लगाना कि बैंकों ने अमुक क्षेत्र में पर्याप्त उधार की व्यवस्था नहीं की अथवा अमुक क्षेत्र में रकम नहीं लगायी, अनावश्यक एवं व्यर्थ है।

अतः सरकार के बढ़ते हुए विकास दायित्व, अभावपूर्ण प्रबन्ध कौशल तथा सचालन सम्बन्धी कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए यह कहना कठिन है कि बैंकों के राष्ट्रीयकरण से देश की अर्थ व्यवस्था में कोई क्रान्तिकारी सुधार हो सकेगा। वास्तव में, लोक क्षेत्र में सचालित औद्योगिक इकाइयाँ—जो बराबर हानि पर चल रही हैं—इस दिशा में सोचने के लिए बाध्य करती हैं कि सरकारी क्षेत्र को बढ़ाने की बजाय उसका दृढ़ीकरण किया जाना चाहिए। इसी दृष्टि से राष्ट्रीयकरण के स्थान पर समाजकरण या सामाजिक नियन्त्रण की योजना को स्वीकार किया गया है।

सामाजिक नियन्त्रण

भारतीय बैंकों के राष्ट्रीयकरण की चर्चा कांग्रेस दल की प्रायः प्रत्येक सभा में होती रही है। जब १९६७ के चुनावों से पूर्व कांग्रेस के घोषणा पत्र का आलेख तैयार किया गया तो बैंकों के राष्ट्रीयकरण की चर्चा फिर हुई किन्तु यह निर्णय किया गया कि बैंकों पर सामाजिक नियन्त्रण किया जाना चाहिए, राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता नहीं है। [1]

सामाजिक नियन्त्रण का अर्थ

बैंकों के सामाजिक नियन्त्रण का अर्थ है उनकी क्रियाओं पर समाज का नियन्त्रण। भारत में समाज की प्रतिनिधि सरकार है अर्थात् बैंकों पर सरकार का नियन्त्रण ही सामाजिक नियन्त्रण का प्रतीक है। राष्ट्रीयकरण में स्वामित्व, सचालन तथा नियन्त्रण—सभी सरकार के दायित्व होते हैं किन्तु सामाजिक नियन्त्रण में बैंकों की अर्थ नीति का निर्धारण सरकार करती है और उसका पालन बैंक स्वयं करते हैं। उस नीति का पालन ठीक प्रकार से हो रहा है या नहीं, इसका नियन्त्रण भी सरकार करती है।

सामाजिक नियन्त्रण क्यों—बैंकिंग उद्योग विशेष किस्म का उद्योग है। इसमें धन के लेन देन का व्यापार होता है और साख का निर्माण होता है। इसकी एक विशेषता यह है कि बैंकों में जिन व्यक्तियों की अधिकांश रकम जमा होती है उनका बैंकों की ऋण या विनियोग नीति निर्धारण करने में कोई हाथ नहीं होता। उदाहरणतः भारत के व्यापारिक अनुसूचित बैंकों में लगभग ५,००० करोड़ रुपये जमा हैं। यह रकम असख्य व्यक्तियों या सस्थाओं की जमा है। इसके साथ ही बैंकों की

अत पूँजी तथा कोष केवल १०० करोड़ रुपये के तुल्य है। किसी भी रजिस्टर्ड कम्पनी[1] के अंशधारी ही उसके मालिक होते हैं और उनके प्रतिनिधि ही बैंक की नीति निर्धारण तथा प्रबन्ध व्यवस्था के लिए उत्तरदायी होते हैं। इस दृष्टि से देखा जाय तो भारतीय बैंकों में १०० करोड़ रुपये की पूँजी के मालिक ५१०० करोड़ रुपये की पूँजी विनियोजन के अधिकारी हैं। जबकि ५००० करोड़ रुपये की पूँजी के मालिकों (जमाकर्ताओं) को बैंकों की नीति निर्धारण या पूँजी विनियोजन में कोई अधिकार नहीं है। अत उनके हित की रक्षा करने के लिए बैंकों की विनियोग तथा ऋण नीति पर सरकार का पूरा नियन्त्रण होना चाहिए ताकि सामान्य जनता की खून पसीने की कमाई—जो बैंकों में जमा कराई जाती है—का दुरुपयोग न हो सके।

यदि सामान्य रूप से देखा जाय तो बैंकों पर सामाजिक नियन्त्रण निम्नलिखित कारणों से आवश्यक प्रतीत होता है

(१) जमाकर्ताओं के हित की रक्षा—जैसाकि इससे पहले विचार किया जा चुका है व्यापारिक बैंकों के कार्यो साधन सामान्य जनता की जमाओं से प्राप्त होते हैं। और सामान्य जनता का बैंकों की ऋण और विनियोग नीति में कोई हाथ नहीं होता। अत उनकी रकम के सदुपयोग की क्या गारण्टी है? यदि कोई बैंक बन्द हो जाय तो जमाकर्ता केवल हाथ मलते रह जाते हैं। इसलिए सरकार का कर्तव्य है कि सामाजिक हित में बैंकों की नीतियों पर नियन्त्रण करे।

इस सम्बन्ध में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य उल्लेखनीय है। भारत में निक्षेप बीमा निगम द्वारा प्रत्येक बैंक में, 'प्रति व्यक्ति १०,००० रुपये तक की रकम का अनिवार्य बीमा है।' मध्यम वर्ग के जिन व्यक्तियों के पास १०,००० रुपये से अधिक रकम है वह दस-दस हजार रुपये कई बैंकों में जमा करवा कर निक्षेप बीमे का लाभ उठा सकते हैं। वैसे भी बैंकों में अधिकतर बड़ी जमा रकमें ऋणों के फलस्वरूप उत्पन्न होती हैं जिनके अधिकारी बड़े बड़े व्यापारी होते हैं। अत इन लोगों के हितों की रक्षा की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु बैंकों में जनता का विश्वास बनाए रखने के लिए उनको सम्पन्न एवं शक्तिशाली बनाये रखना सरकार का कर्तव्य है। ऐसा तभी सम्भव है जब उनकी विनियोग एवं ऋण नीति पर सरकारी नियन्त्रण हो।

(२) समाज का अधिकाधिक लाभ—बैंकों में समाज के असंख्य व्यक्तियों की पूँजी जमा होती है। अतः उस पूँजी का प्रयोग समाज के अधिकाधिक लाभ के लिए होना आवश्यक होता है। ऐसा करने के लिए बैंकों की नीति पर सामाजिक (अर्थात सरकारी) नियन्त्रण आवश्यक हो जाता है।

---

[1] बैंक भी रजिस्टर्ड कम्पनी ही होती है।

(३) साख का उचित सीमा तक विस्तार—व्यापारिक बैंकों की आय का मुख्य साधन ब्याज होता है जो वह ऋणों पर प्राप्त करते हैं। अतः अधिक आमदनी प्राप्त करने के लोभ में वह तीव्र गति से साख प्रसार कर सकते हैं जिससे फलस्वरूप देश में मूल्य स्तर में वृद्धि होने का भय रहता है। भारत में आर्थिक प्रगति के लिए अधिक साख की आवश्यकता है किन्तु वह एक निश्चित सीमा से अधिक नहीं होनी चाहिए। अतः चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के महान लक्ष्य "स्थायित्व के साथ विकास" (Growth with Stab lity) में सफलता के लिए बैंकों का सामाजिक नियन्त्रण बहुत आवश्यक है।

(४) साख का यथोचित वितरण—बैंकों द्वारा साख विस्तार ही खतरा नहीं है। अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जितनी भी रकम उधार दी जाय वह ठीक प्रकार से वितरित होनी चाहिए। इसके लिए निम्नलिखित मापदण्ड निर्धारित किये जा सकते हैं :

(i) उधार की रकम कुछ बड़े बड़े प्रभावशाली उद्योगपतियों को ही उधार नहीं दी जानी चाहिए।

(ii) बैंकों द्वारा उधार देते समय राष्ट्रीय हित का ध्यान रखना चाहिए। भारत में कृषि, लघु उद्योग तथा निर्यात क्षेत्र प्राथमिकता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माने गये हैं। अतः इन क्षेत्रों को पर्याप्त मात्रा में रकम उधार मिलनी चाहिए।

(iii) ऋण राजनीतिक, असामाजिक तथा कम महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों को नहीं दिये जाने चाहिए।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भी बैंकों का सामाजिक नियन्त्रण आवश्यक है।

सामाजिक नियन्त्रण योजना की विशेषताएँ

राष्ट्रीयकरण और सामाजिक नियन्त्रण के सम्बन्ध में काफी विवाद होने के बाद २१ दिसम्बर, १९६७ को भारतीय लोक सभा में एक विधेयक प्रस्तुत किया गया। इस विधेयक को विचार के लिए २६ मार्च, १९६८ को प्रवर समिति के सुपुर्द कर दिया गया। प्रवर समिति के पास विचारार्थ ७७४६ स्मरण पत्र, प्रतिवेदन तथा तार आये जिन पर विचार करने के पश्चात् समिति ने ७ मई, १९६८ को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी। यह रिपोर्ट विवाद एवं विचार के लिए ६ मई, १९६८ को लोक सभा में रखी गयी। अन्ततोगत्वा बहुत विचार-विमर्श के पश्चात् विधेयक पास कर दिया गया। १ फरवरी, १९६९ से सामाजिक नियन्त्रण योजना बैंकों पर लागू कर दी गयी। इस योजना की उल्लेखनीय विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

(१) बैंकिंग नीति—सामाजिक नियन्त्रण योजना के अन्तर्गत बैंकों से सम्बन्धित सभी कानूनों (रिजर्व बैंक अधिनियम, बैंकिंग नियमन अधिनियम आदि) में संशोधन कर दिये गये। एक संशोधन के अनुसार इन कानूनों में जहाँ भी "जमाकर्ताओं के हित में" शब्द थे उनके स्थान पर "बैंकिंग नीति के हित में" (In the

interest of banking policy) लिख दिये गये हैं। इस प्रकार भारत में राष्ट्रीय सरकार द्वारा पहली बार बैंकिंग नीति को महत्त्व दिया गया।

बैंकिंग नीति में पाँच बातें सम्मिलित की गयीं

(i) जमाकर्त्ताओं के हित सुरक्षित रहने चाहिए।

(ii) देश में मौद्रिक स्थायित्व बना रहना चाहिए।

(iii) आर्थिक विकास को बल मिलना चाहिए।

(iv) साधनों का वितरण प्राथमिक क्षेत्रों में यथोचित होना चाहिए।

(v) साधनों का श्रेष्ठ उपयोग होना चाहिए।

वास्तव में, बैंकिंग नीति में सामाजिक नियन्त्रण के उद्देश्यों को ही सक्षेप में दे दिया गया है। इस प्रकार सरकार ने समाज के व्यापक हित को ही सामाजिक नियन्त्रण का उद्देश्य माना है।

(२) साख नियोजन (Credit Planning)—यह एक आश्चर्यजनक सत्य है कि भारत की पहली तीन योजनाओं में कभी भी यह आवश्यक नहीं समझा गया कि आर्थिक नियोजन में साख नियोजन का भी कोई स्थान होना है। सरकार या रिजर्व बैंक ने तीनों में से किसी भी योजना काल में यह अनुमान नहीं लगाया कि देश के उत्पादक क्षेत्रों में से किस किस के लिए कितनी-कितनी उधार रकम की व्यवस्था करनी पड़ेगी। अत साख का वितरण प्राय मनमाने ढग से होता रहा। किन्तु सामाजिक नियन्त्रण योजना के अन्तर्गत भारत सरकार ने एक राष्ट्रीय साख परिषद् (National Credit Council) की नियुक्ति की। इस परिषद् का कार्य विभिन्न क्षेत्रों में साख की वार्षिक आवश्यकता का अनुमान लगाकर बैंकों के लिए मार्गदर्शक का काम करना है।

राष्ट्रीय साख परिषद् द्वारा कृषि, लघु उद्योग तथा निर्यात क्षेत्रों को प्राथमिकता क्षेत्र घोषित किया गया है। अत बैंकों द्वारा इन क्षेत्रों में अधिक रकम विनियोग करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं।

(३) आर्थिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण—भारतीय बैंकों पर एक आरोप यह लगाया जाता रहा है कि उनका सचालन बड़े-बड़े उद्योगपतियों के हाथ में है। इस अधिकार के बल पर ही कुछ उद्योगपति बैंकों की अधिकांश पूँजी अपनी औद्योगिक इकाइयों को दिलाने में सफल हो जाते थे। इसी से आर्थिक सत्ता का सकेन्द्रण होता जा रहा था। सामाजिक नियन्त्रण योजना में इस सकेन्द्रण को तोड़ने के निम्नलिखित उपाय किये गये हैं

(i) अध्यक्ष—बैंकों के अध्यक्ष केवल क्रियाशील बैंकर ही हो सकते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि जिन बैंकों में उद्योगपति अध्यक्ष थे उन्होंने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया है। इसके फलस्वरूप सभी बैंकों में बैंकर अध्यक्ष निर्वाचित कर लिए गये हैं। इससे उद्योगपतियों का प्रभाव कुछ कम हो गया है।

(ii) **सचालक मण्डल**—बैंकों के सचालक मण्डल मे भी प्राय बडे बडे उद्योगपतियो अथवा व्यवसायियो का ही बहुमत रहा करता था। सामाजिक नियन्त्रण योजना के अन्तर्गत प्रत्येक बैंक के सचालक मण्डल में निम्नलिखित क्षेत्रों के प्रतिनिधियों का निर्वाचन करना अनिवार्य कर दिया गया है

(क) कृषि क्षेत्र के जानकार, (ख) अर्थशास्त्री, (ग) लघु उद्योगो के प्रतिनिधि, (घ) वित्त विशेषज्ञ, (ङ) विधि विशेषज्ञ, (च) ग्रामीण बैंकिंग, तथा (छ) अन्य क्षेत्रों के विशेषज्ञ जो बैंकिंग कार्य सचालन मे सहायक हो।

इस प्रकार बैंकों के सचालक मण्डलों मे प्राय क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिये गये हैं और अनेक क्षेत्रों के प्रतिनिधियों को सम्मिलित करने के कारण अब उनमे एक दो व्यक्ति बहुत प्रभावशाली ढग से पूँजी लगाने मे मनमानी नही कर सकते।

(iii) **सचालक और उद्योग**—भारत मे आर्थिक सत्ता को विकेन्द्रित करने के लिए यह आवश्यक है कि सत्ताधारियों को सत्ता केन्द्रो से दूर ले जाया जाय। अत यह नियम बना दिया गया है कि बैंक का कोई भी सचालक किसी औद्योगिक कम्पनी मे १० प्रतिशत से अधिक अशों का अधिकारी नहीं हो सकता। यह कदम बडे बडे उद्योगपतियों को बैंको के सचालन केन्द्र से दूर ले जाने का प्रयत्न है।

– (iv) **सचालक और ऋण**—इससे पूर्व वर्णित सभी नियमो से अधिक क्रान्तिकारी नियम यह बनाया गया है कि ऐसे किसी भी फर्म या कम्पनी को बैंक से कोई ऋण नहीं दिया जा सकता जिसमे बैंक के किसी सचालक का सम्बन्ध या रुचि हो। इसका यह प्रभाव हुआ कि प्राय सभी बैंको के सचालक मण्डलो स उद्योगपतियों तथा बडे-बडे व्यावसायियो ने त्यागपत्र दे दिये हैं क्योंकि उनके सचालक बने रहने पर *उनसे सम्बन्धित औद्योगिक इकाइयो को ऋण नहीं दिये जा सकते,* इस सम्बन्ध विच्छेद के फलस्वरूप किसी भी बडी औद्योगिक इकाई को सिफारिश या प्रभाव के द्वारा मनमाने ढग से रकम प्राप्त करने से वचित कर दिया गया है।

(४) **बैंकों का अकेक्षण**—सामाजिक नियन्त्रण योजना लागू होने से पहले बैंको के अकेक्षक (auditors) अन्य कम्पनियो की भांति अशधारियों द्वारा ही नियुक्त किये जाते थे। इस व्यवस्था मे यह दोष था कि सचालक मण्डल के प्रभावशाली सदस्य मनमाने फर्मों को अकेक्षक नियुक्त करवा लेते थे और उनसे अच्छी रिपोर्ट प्राप्त कर लेते थे। यदि कोई अकेक्षक फर्म सचालक मण्डल की इच्छा के विरुद्ध रिपोर्ट देता तो अगली बार उसे हटा दिया जा सकता था। इस प्रकार अकेक्षण रिपोर्ट सही होने की कोई गारण्टी नही थी। सामाजिक नियन्त्रण योजना के अन्तर्गत अकेक्षकों की नियुक्ति, पुनर्नियुक्ति तथा मुक्ति रिजर्व बैंक की सहमति से हो सकेगी। अत अकेक्षक अब शुद्ध एव सही रिपोर्ट देने मे नहीं हिचकेंगे जिसके फलस्वरूप बैंको की क्रियाओं का सच्चा स्वरूप जनता के सामने आता रहेगा।

सामाजिक नियन्त्रण योजना मे रिजर्व बैंक को यह अधिकार भी दिया गया

है कि वह किसी भी बैंक का विशेष अवेक्षण करवा सकता है। इसमें—यदि कोई बैंक अनुचित कार्य करता है तो विशेष अवेक्षण से वह प्रकाश में आ जायेगा।

(५) रिजर्व बैंक को नये अधिकार—यदि सामाजिक नियन्त्रण के किसी नियम को कोई बैंक भंग करेगा तो रिजर्व बैंक द्वारा सम्बन्धित रकम (जिसकी गड़बड़ी की गयी है) से दुगुना दण्ड दिया जा सकता है।

(६) सरकारी स्वामित्व—उपर्युक्त सभी व्यवस्थाओं के अतिरिक्त एक व्यवस्था यह की गयी है कि जब भी सरकार उचित या आवश्यक समझेगी वह किसी भी बैंक को सरकारी स्वामित्व में ले सकेगी। यह धारा इतनी व्यापक है कि बैंकों पर अनुचित कार्य करने सम्बन्धी रोक लग गयी है। सरकार किसी भी बैंक को बिना कारण दिये अपने अधिकार में ले सकेगी, यह अधिकार बैंकों के अनुचित कार्यों पर नैतिक रुकावट का काम करेगा।

(७) कर्मचारियों की अनुशासनहीनता—भारत में बैंक कर्मचारियों के वेतन और भत्ते सबसे ऊँचे हैं और उनकी कार्यक्षमता प्रायः बहुत कम है। भारतीय बैंकों में अधिक वेतन और भत्ते होने पर भी अनुशासनहीनता अत्यधिक है। सामाजिक नियन्त्रण योजना के अन्तर्गत बैंक के कर्मचारियों द्वारा बैंक के अहाते में हिंसात्मक प्रदर्शन करने या कार्य में रुकावट डालने पर रोक लगायी गयी है। इस प्रकार के प्रदर्शन करने वालों को ६ मास की जेल अथवा १००० रुपये तक का दण्ड दिया जा सकता है। इस प्रकार जहाँ उद्योगपतियों की आर्थिक क्रियाओं को सीमित करने की चेष्टा की गयी है, वहाँ कर्मचारियों की अनैतिक अथवा अनुचित कार्यवाहियों को भी रोकने का प्रयत्न किया गया है ताकि जनता को कष्ट न हो।

आलोचना और निष्कर्ष—भारतीय बैंकों पर सामाजिक नियन्त्रण होना चाहिए इस बारे में विवाद करना वृथा है क्योंकि नियन्त्रण बिना सभी कार्य राष्ट्रहित में होना सन्देहास्पद हो रहेगा। अब यही देखना उचित है कि नियन्त्रण पर्याप्त हैं या नहीं अथवा आवश्यकता से अधिक तो नहीं हैं। इसका लेखा-जोखा करने के लिए मुख्य-मुख्य बातों पर विचार करना आवश्यक है।

औचित्य—सामाजिक नियन्त्रण योजना में बैंकिंग नीति, आर्थिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण, अवेक्षण तथा सरकार के अधिकारों सम्बन्धी विवेचन सभी बिन्दुओं के साथ ही कर दिया गया है। उनका औचित्य निश्चय ही स्वागत योग्य है किन्तु इसमें कुछ कठिनाइयाँ उत्पन्न होने की सम्भावना है :

(१) उद्योगपतियों को बैंकों के संचालक मण्डलों से दूर हटाने के फलस्वरूप बैंक औद्योगिक एवं व्यावसायिक क्षेत्र से दूर हट गये हैं। इससे बैंकों को व्यापार की साख सम्बन्धी आवश्यकता का अनुमान लगाने में कठिनाई हो गयी है, दूसरी ओर वह वर्षों के अनुभव से वंचित हो गये हैं। अर्थशास्त्री, विधि विशेषज्ञ तथा लेखापालों की सदस्यता से युक्त संचालक मण्डल सैद्धान्तिक रूप में सही निर्णय ले सकेंगे परन्तु उन निर्णयों का व्यावहारिक कसौटी पर खरा उतरना सन्देहजनक ही प्रतीत होता है।

इस सम्बन्ध मे उचित नीति यह होती कि साख देने सम्बन्धी स्पष्ट नियम बना दिये जाते और उन नियमो के अनुसार ही साख देने की व्यवस्था की जाती। अनुभवी व्यवसायियो को बैंक सचालन से बहुत दूर हटाना व्यावहारिक दृष्टि से हानिकारक सिद्ध होने की आशका है।

(ii) अकेक्षण—दूसरी कठिनाई यह कि प्रत्येक बार अकेक्षको की नियुक्ति मे रिजर्व बैंक की सहमति लेनी पडेगी। इसमे बहुत समय और शक्ति व्यर्थ नष्ट होने की आशका है। इस सम्बन्ध मे उचित काय यह है कि प्रादेशिक या क्षेत्रीय आधार पर अकेक्षको की अनुमोदित सूचियाँ प्रकाशित कर दी जाएँ। बैंक अपने प्रदेश या क्षेत्र की सूची मे से नम्बरवार अकेक्षक नियुक्त करते रहेगे। इससे अकेक्षण व्यवस्था सरल एव सुविधाजनक हो जायेगी और दबाव से मुक्ति का उद्देश्य भी सिद्ध हो जायेगा।

प्रशिक्षण—बैंको की सामाजिक नियन्त्रण योजना के अन्तर्गत ही रिजर्व बैंक एक राष्ट्रीय प्रशिक्षण सस्थान स्थापित कर रहा है। इस सम्बन्ध मे यह उचित होगा कि इस सस्थान की बहुत सी शाखाएँ देश भर मे स्थापित की जायें जहाँ बैंको के माध्यम एव निम्न श्रेणी के अधिकारियो को नियमित प्रशिक्षण दिया जा सके।

लोक क्षेत्र मे बैंको की स्थिति
[POSITION OF BANKS IN PUBLIC SECTOR]

भारत मे २२ बैंक ऐसे हैं जो सरकारी स्वामित्व मे हैं। इन बैंको को ही लोक क्षेत्र के बैंक कहा जाता है। यह बैंक तीन श्रणियो म बाँटे जा सकते है

(१) स्टेट बैंक आफ इडिया

(२) स्टेट बैंक के सात सहायक बैंक— इनके नाम निम्नलिखित है

(i) स्टेट बैंक आफ बीकानेर एण्ड जयपुर, (ii) स्टेट बैंक आफ हैदराबाद, (iii) स्टेट बैंक आफ इन्दौर, (iv) स्टेट बैंक आफ मैसूर, (v) स्टेट बैंक आफ पटियाला, (vi) स्टेट बैंक आफ सौराष्ट्र, तथा (vii) स्टेट बैंक आफ ट्रावनकोर।

(३) राष्ट्रीयकृत चौदह बैंक—जिनके नाम निम्नलिखित हैं

(i) सैंट्रल बैंक आफ इडिया, (ii) बैंक आफ इडिया, (iii) पजाब नेशनल बैंक, (iv) बैंक आफ बडोदा, (v) यूनाइटेड कमर्शियल बैंक, (vi) कनारा बैंक, (vii) यूनाइटेड बैंक आफ इडिया, (viii) देना बैंक (ix) सिंडीकेट बैंक, (x) यूनियन बैंक आफ इडिया (xi) इलाहाबाद बैंक, (xii) इडियन बैंक, (xiii) बैंक आफ महाराष्ट्र, (xiv) इडियन ओवरसीज बैंक।

स्टेट बैंक आफ इडिया

पूँजी तथा कोष—स्टेट बैंक आफ इडिया की स्थापना जुलाई १९५५ मे की गयी। इसके पहले इस बैंक का नाम इम्पीरियल बैंक आफ इडिया था जिसकी अश पूँजी रिजर्व बैंक आफ इडिया द्वारा खरीद ली गयी। बाद मे अश पूँजी का लगभग ८ प्रतिशत भाग पुराने इम्पीरियल बैंक के अशधारियो को बेच दिया गया।

इस प्रकार वर्तमान में स्टेट बैंक की ९२ प्रतिशत पूँजी रिजर्व बैंक आफ इंडिया के स्वामित्व में है।

स्टेट बैंक की वर्तमान पूँजी ५,६२,५००० रुपये है। इसकी कोष निधि लगभग १५ ६१ करोड़ रुपये है। इस प्रकार स्टेट बैंक के कुल निजी कोष लगभग २१ २४ करोड़ रुपय के तुल्य हैं।

प्रबन्ध– स्टेट बैंक का केन्द्रीय कार्यालय बम्बई में है। इसका प्रबन्ध एक केन्द्रीय सचालक मण्डल के हाथ में है। स्थापना के समय, स्टेट बैंक के केन्द्रीय सचालक मण्डल के सदस्यों की सख्या २० रखी गयी थी किन्तु १ दिसम्बर, १९६४ को सचालक मण्डल का गठन निम्नलिखित कर दिया गया

(i) एक अध्यक्ष तथा एक उपाध्यक्ष की नियुक्ति सचालक मण्डल की सिफारिश पर सरकार द्वारा की जाती है।

(ii) अधिक से अधिक दो प्रबन्ध सचालक (Managing Directors) सरकार की अनुमति से सचालक मण्डल द्वारा नियुक्त किये जाते हैं।

(iii) प्रत्येक स्थानीय मण्डल का सभापति केन्द्रीय सचालक मण्डल का पदेन सदस्य होता है। वर्तमान मे सात स्थानीय मण्डल हैं।

(iv) यदि रिजर्व बैंक को छोड़कर निजी अशधारियों के पास कुल निर्गमित पूँजी के दस प्रतिशत से कम अश हैं तो वह दो सचालकों की नियुक्ति (या चुनाव) कर सकेंगे। वर्तमान मे ८ प्रतिशत अशधारियों के पास हैं।

(v) रिजर्व बैंक की सलाह से भारत सरकार कम से कम दो और अधिक से अधिक छह सचालक नियुक्त कर सकती है। यह सचालक सहकारिता, वाणिज्य, उद्योग, व्यापार, बैंकिंग अथवा वित्त सम्बन्धी विशेषज्ञ होने चाहिए।

स्थानीय मण्डल—स्टेट बैंक का केन्द्रीय कार्यालय बम्बई में है जहाँ से केन्द्रीय सचालक मण्डल बैंक के कार्यों की देख-रेख करता है। इसके अतिरिक्त सात स्थानीय मण्डल हैं जो कलकत्ता, कानपुर, बम्बई, अहमदाबाद, नयी दिल्ली तथा हैदराबाद में है। स्थानीय मण्डलों का गठन निम्न प्रकार होता है :

(i) स्टेट बैंक के अध्यक्ष प्रत्येक स्थानीय सचालक मण्डल के पदेन अध्यक्ष होते हैं।

(ii) केन्द्रीय सचालक मण्डल के वह सदस्य जो सम्बन्धित स्थानीय मण्डल के क्षेत्र म निवास करते हैं।

(iii) रिजर्व बैंक की सलाह से प्रत्येक स्थानीय मण्डल मे छह सदस्य भारत सरकार द्वारा नियुक्त किय जाते हैं।

(iv) प्रत्येक मण्डल के क्षेत्र मे निवास करने वाले अशधारी अपना एक प्रतिनिधि चुन सकते हैं, किन्तु २५ प्रतिशत से कम अश होने पर प्रतिनिधि चुनने का अधिकार नहीं दिया जाता।

(v) स्थानीय मण्डल का कोषाध्यक्ष तथा सचिव पदेन सदस्य होता है।

(vi) स्थानीय मण्डल के सदस्यो मे से एक को अध्यक्ष की सलाह से रिजर्व बैंक का गवर्नर सभापति नियुक्त करता है।

स्टेट बैंक के उद्देश्य तथा पूर्ति

स्टेट बैंक की स्थापना ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति के सुझाव पर की गयी थी। इसके उद्देश्य एव उनकी प्राप्ति का ब्यौरा निम्नलिखित है

(१) **बैंकिंग विकास तथा ग्रामो मे शाखाएँ**—स्टेट बैंक की स्थापना के समय यह निर्धारित किया गया था कि वह पहले पाँच वर्ष मे कम से कम ४०० नयी शाखाएँ खोलेगा। इन शाखाओ म से अधिकतर शाखाएँ ग्रामीण क्षेत्रो मे खोलने का आदेश दिया गया था। स्टेट बैंक ने इस लक्ष्य की पूर्ति एक मास पहले ही कर ली।

पहला लक्ष्य पूरा करने के बाद भी स्टेट बैंक अपनी शाखाओ की सख्या मे नियमित वृद्धि करता जा रहा है। परिणामस्वरूप १९७० के अत म स्टेट बैंक की कुल शाखाओ की सख्या बढकर २,१२२ हो गयी। सहायक बैंको की शाखाओ की सख्या १,१४९ थी। इस प्रकार स्टेट बैंक परिवार की कुल शाखाएँ ३,२७१ थी। इनमे से ८० प्रतिशत शाखाएँ ग्रामीण तथा अर्द्ध नागरिक क्षेत्रो म हैं। इस प्रकार स्टेट बैंक का शाखा विस्तार मुख्यत ग्रामो में अधिक हुआ है।

(२) **सुदृढ़ एव शक्तिशाली बैंक**—स्टेट बैंक का दूसरा उद्देश्य भारत में एक शक्तिशाली बैंकिंग सगठन की स्थापना करना था। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए बैंक ऑफ बीकानेर, बैंक ऑफ जयपुर, बैंक ऑफ हैदराबाद, बैंक ऑफ इन्दौर बैंक ऑफ मैसूर, बैंक ऑफ पटियाला, बैंक आफ सौराष्ट्र तथा बैंक ऑफ ट्रावनकोर को अपना सहायक बना लिया।[1]

इस प्रकार स्टेट बैंक परिवार एक शक्तिशाली सगठन बन गया है जिसकी कुल जमाए लगभग १,५६० करोड रुपये, ऋण १३३० करोड रुपये तथा सरकारी प्रतिभूतियो मे विनियोग ४१० करोड रुपये तक पहुँच गये हैं। इस प्रकार स्टेट बैंक परिवार के साधन देश की पूरी बैंकिंग प्रणाली के लगभग २८ प्रतिशत हैं। अत स्टेट बैंक एक शक्तिशाली, साधन सम्पन्न सगठन बन गया है।

(३) **ग्रामीण साख**—स्टेट बैंक की स्थापना का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रो म सरल तथा उदार ऋण देना था ताकि भारत के ग्रामीण क्षेत्रो का तेजी से विकास हो सके। स्टेट बैंक खेती के लिए उदारतापूर्वक ऋण दे रहा है। ३१ दिसम्बर १९७० को स्टेट बैंक परिवार द्वारा २८ लाख से अधिक खातो म लगभग १५८ करोड रुपये के ऋण दिये हुए थ।

---

१ इन बैंको के नाम के पहले स्टेट शब्द जोड दिया गया।
१९६३ म स्टट बैंक ऑफ बीकानेर तथा स्टट बैंक ऑफ जयपुर को मिला कर स्टेट बैंक आफ बीकानेर एण्ड जयपुर की स्थापना की गयी।

ग्रामीण क्षेत्रों में लघु उद्योगों को ऋण देना बहुत महत्त्वपूर्ण है। स्टेट बैंक द्वारा लघु उद्योगों को अत्यन्त उदारतापूर्वक ऋण दिये जा रहे हैं। ३१ दिसम्बर, १९७० तक स्टेट बैंक परिवार द्वारा ७०,००० से अधिक खातों में लगभग १६६ करोड रुपये के ऋण दिये हुए थे।

स्टेट बैंक सहकारी संस्थाओं को भी ऋण देता है ताकि यह संस्थाएँ किसानों तथा छोटे कारीगरों और छोटे व्यापारियों को ऋण दे सकें। ३१ दिसम्बर, १९७१ तक स्टेट बैंक द्वारा लगभग ३१०० सहकारी संस्थाओं को १७० करोड रुपये के ऋण दिये हुए थे।

इस प्रकार स्टेट बैंक का भारतीय अर्थ-व्यवस्था में योगदान तेजी से बढ़ता जा रहा है जो इस बैंक के लक्ष्यों की सफलता का प्रतीक है।

सहायक बैंक—स्टेट बैंक के सात सहायक बैंकों के उद्देश्य वही हैं जो स्टेट बैंक के हैं। वास्तव में इन बैंकों के लिए विकास योजनाएँ स्टेट बैंक द्वारा ही बनायी जाती हैं और यह बैंक स्टेट बैंक के निर्देशन में ही काम करते हैं।

पूँजी तथा कोष—सहायक बैंकों की पूँजी तथा कोष ३१ दिसम्बर, १९७० को लगभग ६ करोड रुपये थी। दस वर्षों में इसमें लगभग २ करोड रुपये की वृद्धि हुई है।

प्रबन्ध—प्रत्येक सहायक बैंक का प्रबन्ध एक निदेशक मण्डल के द्वारा किया जाता है। स्टेट बैंक का अध्यक्ष ही प्रत्येक सहायक बैंक का पदेन अध्यक्ष होता है। अध्यक्ष के अतिरिक्त निदेशक मण्डल में ५ सदस्य स्टेट बैंक, १ सदस्य रिजर्व बैंक तथा १ सदस्य केन्द्रीय सरकार, द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। शेष दो सदस्य निजी अंशधारियों द्वारा चुने जाते हैं। इस प्रकार स्टेट बैंक के सहायक बैंकों में १० व्यक्तियों का निदेशक मण्डल होता है।

सहायक बैंक सभी प्रकार के लेन-देन के लिए स्टेट बैंक के प्रतिनिधि होते हैं।

प्रगति—सहायक बैंक स्टेट बैंक परिवार के सदस्य १९६०-६१ में बने। दस वर्ष के काल में उन बैंकों ने ७६६ नयी शाखाएँ खोली हैं और ३१ दिसम्बर, १९७० को उनकी शाखाओं की संख्या १,१४६ तक पहुँच गयी है।

३१ दिसम्बर, १९७० को सहायक बैंकों की जमाएँ ३८७ करोड रुपये से कुछ अधिक थी और ऋणों की राशि ३०३ करोड रुपये के तुल्य थी। इसी तिथि को सहायक बैंकों द्वारा खेती के लिए ३६ करोड रुपया, लघु उद्योगों के लिए ४५ करोड रुपया तथा सहकारी संस्थाओं के लिए २७ करोड रुपया उधार दिया हुआ था।

सहकारी बैंक स्टेट बैंक की छत्रछाया और मार्गदर्शन में काम करते हुए भी स्वतन्त्र हैं। यह एक बड़े परिवार के शक्तिशाली घटक हैं और देश के आर्थिक विकास में उल्लेखनीय योगदान कर रहे हैं।

राष्ट्रीयकृत बैंक

१६ जुलाई, १९६९ को भारत के चौदह निजी बैंको का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया। इन बैंको के नाम निम्नलिखित है

(i) सेंट्रल बैंक ऑफ इंडिया, (ii) बैंक ऑफ इंडिया, (iii) पजाब नेशनल बैंक, (iv) बैंक ऑफ बडौदा, (v) यूनाइटेड कमर्शियल बैंक, (vi) कनारा बैंक, (vii) यूनाइटेड बैंक ऑफ इंडिया, (viii) देना बैंक, (ix) सिंडीकेट बैंक, (x) यूनियन बैंक ऑफ इंडिया, (xi) इलाहाबाद बैंक, (xii) इंडियन बैंक, (xiii) बैंक ऑफ महाराष्ट्र, (xiv) इंडियन ओवरसीज बैंक।

इन बैंको मे से प्रत्येक की जमाएँ ५० करोड रुपये से अधिक थी।

पूँजी तथा कोष—चौदह राष्ट्रीयकृत बैंकों की पूँजी और कोष मिलाकर ६७ २० करोड रुपये थी। सरकार ने सारी पूँजी स्वय खरीद ली और इसके बदले ८७ ५ करोड रुपये क्षति पूर्ति देने का निश्चय किया।

प्रबन्ध व्यवस्था—प्रत्येक राष्ट्रीयकृत बैंक का एक परिरक्षक (Custodian) नियुक्त कर दिया गया है। यह परिरक्षक ही बैंक का अध्यक्ष या मुख्य अधिकारी है।

प्रत्येक बैंक के पुराने सचालक मण्डल को भग कर दिया गया और नये सचालक मण्डल नियुक्त किये गये जिनमे अधिकतर सरकारी अधिकारियो या राजनीतिज्ञो को नियुक्त किया गया है।

इन बैंको के अन्य अधिकारियो तथा कर्मचारियो को नयी स्थिति मे भी काम करने दिया गया तथा इन्हे भारतीय दड विधान के नवें अध्याय के अनुसार सरकारी कर्मचारी मान लिया गया।

उद्देश्य और सफलताएँ—भारत मे चौदह निजी बैंको का राष्ट्रीयकरण जिन उद्देश्यो को लेकर किया गया उनकी सफलताएँ निम्नलिखित हैं

(१) सत्ता के सकेन्द्रण का अत—चौदह बैंको के राष्ट्रीयकरण का पहला उद्देश्य यह था कि इन बैंको मे अधिकार रखने से कुछ इने गिने पूँजीपतियो के हाथ मे आर्थिक सत्ता का सकेन्द्रण हो रहा है, इसका अत होना चाहिए। बैंको के सचालक मण्डलो मे से पूँजीपतियो के हट जाने से इस उद्देश्य की पूर्ति हो गयी है, किन्तु सत्ता का सकेन्द्रण पूँजीपतियो के हाथ से निकल कर राजनीतिज्ञो तथा सरकारी अधिकारियो के हाथ मे चला गया है। यह स्थिति भी अच्छी नही कही जा सकती क्योंकि सत्ता का सकेन्द्रण किसी भी वर्ग के हाथ मे जाना लोक-कल्याण मे बाधक होता है।

(२) ग्रामीण बैंकिग का विकास—बैंको के राष्ट्रीयकरण का एक उद्देश्य यह था कि सरकारी स्वामित्व मे आने के पश्चात् बैंक ग्रामो मे अधिक से अधिक शाखाएँ खोलेंगे जिससे नये क्षेत्रो मे तेजी से बैंकिग का विकास होगा। इससे बैंको की जमा रकम मे भी वृद्धि होगी।

चौदह बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् बैंकों की शाखाओं में तेजी से विस्तार का एक अभूतपूर्व वातावरण बना है। जून १९६९ से अप्रेल, १९७१ तक भारत में कुल ३४१९ नयी शाखाएँ खोली गयी हैं जिसका अर्थ यह है कि राष्ट्रीयकरण के बाद प्रति मास १५५ नयी बैंकिंग शाखाएँ खुली हैं। इस सफलता का अनुमान तुलनात्मक अङ्कों से लगाना अधिक उचित होगा। राष्ट्रीयकरण से पहले नौ वर्षों में भारतीय बैंकों की ३,२५८ नयी शाखाएँ खोली गयीं जिनकी वार्षिक औसत केवल ३६२ होती है। इस प्रकार राष्ट्रीयकरण के पश्चात् बैंकों के शाखा विस्तार की गति अत्यधिक तीव्र हुई है।

किन्तु शाखा विस्तार से भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि जून, १९६९ और अप्रेल, १९७१ के बीच जो ३,४१९ नयी शाखाएँ खोली गयी उनमें से २,२३५ शाखाएँ ग्रामीण केन्द्रों में, ९३३ शाखाएँ अर्द्ध-नागरिक केन्द्रों में तथा शेष २५१ नगरों में खोली गयी हैं। इस प्रकार नयी शाखाओं में से लगभग ६५ प्रतिशत ग्रामों में और २८ प्रतिशत कस्बों में स्थापित की गयी हैं। इससे स्पष्ट है कि ग्रामों में शाखा विस्तार के लक्ष्य में काफी अधिक सफलता मिली है।

तीसरी महत्वपूर्ण बात है कि शाखा विस्तार का मुख्य उद्देश्य ग्रामों में बैंकिंग की सुविधा देकर ग्रामीणों की बचत संग्रह करना होना है। इस लक्ष्य में नयी शाखाओं को बहुत कम सफलता मिली है। रिजर्व बैंक ने जो आँकड़े प्रकाशित किए हैं उनके अनुसार सितम्बर, १९७० तक नयी शाखाओं (जिनकी संख्या उस तिथि तक २,८७८ थी) को केवल ७९ करोड़ रुपये की जमाएँ मिल सकी हैं। इस प्रकार प्रति शाखा औसत जमाएँ लगभग २.७ लाख रुपये हैं। यह राशि साधारण ही कही जा सकती है, अच्छी नहीं।

(३) कृषि के लिए धन—भारतीय बैंकों पर प्रायः यह आरोप लगाया जाता रहा है कि वह खेती के विकास के लिए धन नहीं देते। चौदह बैंकों के राष्ट्रीयकरण करने का एक उद्देश्य यह भी रहा है कि वह खेती के विकास के लिए अधिक उधार दे सकेंगे।

राष्ट्रीयकृत बैंकों ने खेती के लिए ऋण देने में जो कार्य किया है वह भी सराहनीय कहा जा सकता है। इसका अनुमान इस तथ्य से लग सकता है कि दिसम्बर, १९७० तक राष्ट्रीयकृत बैंकों द्वारा खेती के लिए उधार दी गयी रकम की राशि १९७ करोड़ रुपये थी। इस राशि में स्टेट बैंक द्वारा दी गई रकम सम्मिलित नहीं है।

बैंकों द्वारा खेती के विकास के लिए जो ऋण दिये जा रहे हैं उनकी वसूली का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है क्योंकि सहकारी बैंकों द्वारा खेती के विकास के लिए जो ऋण दिये गये हैं उनकी नियमित वसूली करना बहुत कठिन हो गया है।

(४) लघु उद्योगों को सहायता—भारतीय अर्थ-व्यवस्था में लघु उद्योगों का अत्यधिक महत्व है क्योंकि वह कम पूँजी से अधिक व्यक्तियों को रोजगार दिलाने में

समर्थ होते हैं। इसी दृष्टि से राष्ट्रीयकृत बैंकों से यह आशा की गयी कि लघु उद्योगों को अधिक मात्रा मे उदारतापूर्वक ऋण दे सकेंगे। राष्ट्रीयकृत बैंक जुलाई, १९६९ से पहले भी साख-गारन्टी योजना के अन्तर्गत ऋण दे रहे थे किन्तु राष्ट्रीयकरण के बाद इन ऋणो की रकम मे बहुत अधिक वृद्धि हुई है। १९७० के अन्त मे राष्ट्रीयकृत बैंकों द्वारा लघु उद्योगो को दिये गये ऋणो की रकम २६५ करोड रुपये तक बढ गयी थी। यह प्रगति निश्चय ही सफलता की प्रतीक है।

(५) सामान्य व्यक्ति की सहायता—राष्ट्रीयकरण का एक उद्देश्य यह था कि चौदह बैंको द्वारा आर्थिक दृष्टि से दुर्बल नागरिकों, छोटे व्यापारियो, रिक्शा, ताँगा चलाने वाले व्यक्तियो तथा अन्य साधारण स्थिति के नागरिकों को उत्पादक कार्यों के लिए उचित ब्याज पर उधार दिया जा सकेगा। राष्ट्रीयकृत बैंकों ने इस दिशा मे तेजी से कार्य किया है। १९७० के अन्त मे विभिन्न वर्गों के सामान्य व्यक्तियो को दिये गये ऋणो की रकम १०० करोड रुपये से अधिक हो गई है। इन वर्गों मे रिक्शा, टैम्पो आदि चलाने वाले तथा छोटे व्यापारी सम्मिलित है।

(६) कुशल तथा विस्तृत सेवा—राष्ट्रीयकृत बैंकों का एक उद्देश्य भारत के विभिन्न भागो मे रहने वाले ग्राहकों को रकम जमा करने, उधार देने, भुगतान करने आदि के सिलसिले मे श्रेष्ठतम सेवाएँ प्रदान करना है। इस दिशा मे बैंकों ने नयी-नयी योजनाएँ प्रकाशित की हैं और जमा करने तथा उधार देने की श्रेष्ठ योजनाएँ लागू की हैं किन्तु यह सामान्य शिकायत है कि बैंकों की सेवा के स्तर मे गिरावट आ गयी है। इस स्थिति को उचित नही कहा जा सकता।

राष्ट्रीयकृत बैंकों की समस्याएँ तथा समाधान

चौदह राष्ट्रीयकृत बैंको मे अनेक समस्याएँ उत्पन्न होने लगी है जिनमे मुख्य निम्नलिखित हैं

(१) राजनीतिज्ञों का प्रभाव—लोक क्षेत्र की एक भारी कमजोरी यह है कि उसमे राजनीतिज्ञो और सरकारी अधिकारियो का प्रभुत्व बढ जाता है। यह दोनो वर्ग जहाँ भी मिल जाते हैं वहाँ प्राय भ्रष्टाचार, घूसखोरी तथा ढिलाई आ जाती है। राष्ट्रीयकृत बैंकों मे सत्ताधारी दल के राजनीतिज्ञो का हस्तक्षेप बढता जा रहा है जिससे ऋण देने तथा शाखा विस्तार मे पक्षपात तथा अनुचित कार्य होने लगे है। सरकार को चाहिए कि बैंको की नीति तथा कार्यप्रणाली मे राजनीतिज्ञों का हस्तक्षेप नहीं होने दे।

(२) नौकरशाही के दोष—राजनीतिज्ञो के कलुषित हस्तक्षेप के साथ-साथ राष्ट्रीयकृत बैंको मे सरकारी अधिकारियो का प्रभाव भी बढ गया है। जिस सस्था मे भी कोई सरकारी अधिकारी उच्च पद पर या प्रबन्धक मण्डल में नियुक्त कर दिया जाता है उसमे लाल फीताशाही और कागजी कार्यवाही बढ जाती है। राष्ट्रीयकृत बैंको मे बढती हुई अकुशलता तथा अनुचित नीतियाँ नौकरशाही तथा राजनीतिज्ञो की मिली-जुली भगत का ही परिणाम है।

(३) भ्रष्टाचार—अनेक बैंकों में कुछ ऐसे वर्ग उत्पन्न हो गये हैं जो ऋण दिलवाने का काम करते हैं, ऋणों की गारन्टी करते हैं या ऋण सम्बन्धी कागजी कार्यवाही पूरी कर देते हैं तथा एक निश्चित दर पर कमीशन या फीस ले लेते हैं। इस प्रकार राष्ट्रीयकृत बैंकों का लाभ जनता को प्राप्त कराने वाला एक भ्रष्ट वर्ग उत्पन्न हो गया है जो नियमित धन्धे के रूप में ऋण दिलाने या ट्रैक्टर, पम्पिंग सैट आदि की उपलब्धि कराने में सहायक होता है।

इस भ्रष्टाचार को रोकने के लिए ऋण देने की क्रियाओं को सरल बनाना चाहिए, कागजी कार्यवाही तथा औपचारिकताओं को कम करना चाहिए और बैंकिंग सुविधाओं का अधिक से अधिक प्रचार करना चाहिए।

(४) क्षेत्रीय संकीर्णता—कुछ राज्यों में यह माँग आनी आरम्भ हो गयी है कि उनके क्षेत्र में स्थापित हुए बैंकों की रकमें उनके क्षेत्र के विकास में लगायी जानी चाहिए। तथा उन बैंकों के प्रबन्धक मण्डल में राज्य सरकार का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। इस प्रकार की प्रादेशिक संकीर्णता से देश का आर्थिक सन्तुलन और अधिक बिगड़ जायेगा और योजनाओं के लक्ष्य पूरे करने में कठिनाई होगी।

भारत सरकार को प्रादेशिक संकीर्णता के आधार पर कोई निर्णय नहीं लेना चाहिए क्योंकि ऐसा करना देश की भावनात्मक एकता के भी विपरीत होगा।

(५) सेवा स्तर में गिरावट—राष्ट्रीयकृत बैंकों के सेवा स्तर में गिरावट आने की शिकायतें भी निरन्तर बढ़ रही हैं। सरकार द्वारा सेवाओं का स्तर बनाये रखने तथा उसमें सुधार करने के लिए निरन्तर प्रयत्न किये जाने चाहिए।

(६) बढ़ता हुआ व्यय और कम लाभ—बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पश्चात किसी न किसी बैंक में कर्मचारियों या अधिकारियों का आन्दोलन निरन्तर होता रहा है। यह आन्दोलन वेतन में वृद्धि या सेवा शर्तों में सुधार के लिए हो रहे हैं। गत वर्षों में मूल्यों में निरन्तर वृद्धि हुई है अतः वेतन वृद्धि की माँग को अनुचित नहीं कहा जा सकता। अतः बैंकों के व्यय में निरन्तर वृद्धि हो रही है। एक ओर तो बैंकों की अधिकांश नयी शाखाएँ लाभदायक नहीं हैं, दूसरी ओर कर्मचारियों के पारिश्रमिक में दो बार वृद्धि की जा चुकी है। इसीलिए १९७० में भारत सरकार को इन चौदह बैंकों से शुद्ध लाभ के रूप में लगभग ४ करोड़ रुपये की प्राप्ति हुई है। सरकार के द्वारा ८७.५ करोड़ रुपये की क्षति-पूर्ति दी गयी है। इस प्रकार बैंकों से सरकार को प्रतिशत लाभांश भी प्राप्त नहीं हुआ है।

भारत सरकार को सर्व व्यय करने की दिशा में निम्नलिखित काम करने चाहिए:

(i) चौदह बैंकों को मिलाकर कुल तीन या चार बैंक स्थापित कर देने चाहिए। इनमें प्रबन्ध व्यवस्था का व्यय कम हो सकेगा।

(ii) अधि-समय भत्ता (overtime allowance) समाप्त किया जाना चाहिए। इसके बदले में कर्मचारियों को कुछ वेतन वृद्धि की जा सकती है। अधि-

समय भत्ता बन्द करने के साथ ही प्रत्येक बैंक कर्मचारी को अपनी खिडकी पर किए गये व्यवसाय के लिए पूर्णत उत्तरदायी ठहराया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में बैंको की शाखाओं का A, B या C में वर्गीकरण किया जा सकता है और अधिक वेतन पाने वाले वरिष्ठ व्यक्तियो को A या B शाखा में भेजा जा सकता है। शाखाओं का वर्गीकरण काम के भार के अनुसार किया जाना चाहिए।

(iii) बडे बडे नगरो मे जहाँ एक ही सडक या मोहल्ले मे कई कई बैंको की शाखाएँ हैं उनमे से कुछ को बन्द कर देना चाहिए। इस प्रकार शाखाओ की अनुचित सख्या को कुछ कम किया जा सकता है।

(iv) बैंको की नियुक्ति प्रणाली मे भी सुधार करने की आवश्यकता है ताकि श्रेष्ठतम व्यक्तियो को ही बैंकिंग सेवाओ में नियुक्त किया जा सके।

भविष्य—भारत मे चौदह बैंको का राष्ट्रीयकरण देश में समाजवाद लाने की दृष्टि से उठाया गया कदम है। नयी प्रवृत्तियों के अनुसार १९७१ के अन्त तक बैंको की शाखाओं की सख्या १३,००० तक पहुँच जाने की आशा है। खेती तथा लघु उद्योगो के वास्ते ऋण भी तेजी से दिये जा रहे हैं। इस गतिशीलता की प्राप्ति के लिए ही बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया था। किन्तु तेजी से शाखाओ और सुविधाओं का विस्तार हो रहा है, लगभग उसी तेजी से कुशलता मे गिरावट आ रही है। इस प्रवृत्ति को बहुत सख्ती से रोकने की आवश्यकता है अन्यथा राष्ट्रीयकरण का यथोचित लाभ नही मिल सकेगा और उत्पादन तथा विकास के विभिन्न क्षेत्र सन्तुलित रूप मे उन्नति नही कर सकेंगे। अत इस प्रवृत्ति को समय रहते ही नियन्त्रित करना बहुत आवश्यक है।

अभ्यास प्रश्न

१ बैंकिंग व्यवसाय किस प्रकार अन्य व्यवसायों के भिन्न है? इस व्यवसाय को लोक क्षेत्र में रखना क्यों आवश्यक है?

२ बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष और विपक्ष का विवेचन कीजिए। क्या राष्ट्रीयकरण किये बिना बैंकिंग सेवाएँ देश हित के अनुकूल नहीं बनायी जा सकतीं?

३ भारत मे बैंको का राष्ट्रीयकरण करने मे क्या उद्देश्य थे? इन उद्देश्यो मे कहाँ तक सफलता मिली है।

४. सामाजिक नियन्त्रण और राष्ट्रीयकरण में क्या अन्तर है? क्या बैंकों पर सामाजिक नियन्त्रण देश की आर्थिक नीतियों की सफलता मे सहायक नहीं हुआ?

५ स्टेट बैंक के उद्देश्य और उसकी सफलताओं पर प्रकाश डालिए।

६ भारत में लोक क्षेत्रीय बैंकिंग की समस्याओ का विवेचन कीजिए तथा उनके समाधान के लिए सुझाव दीजिए।

७ भारत में "लोक क्षेत्रीय बैंक" पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए।

१४

लोक क्षेत्र का आर्थिक विकास में योग

(ROLE OF PUBLIC SECTOR IN ECONOMIC DEVELOPMENT)

भारत में लोक क्षेत्र द्वारा आर्थिक विकास में अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान किया गया है। इसका अनुमान निम्नलिखित तथ्यों से लग सकता है :

(१) साज सज्जा का विकास—आर्थिक विकास के लिए सबसे महत्वपूर्ण सुविधा सड़कें, रेलें, नहरें, जल पूर्ति, बिजली आदि की होती है जिनके बिना उद्योगों की उन्नति सम्भव नहीं है। व्यापार का विकास भी नहीं हो सकता।

योजना काल में लगभग ६००० किलोमीटर लम्बी नयी रेल लाइनें डाली गयी हैं तथा लगभग इतनी ही लम्बी लाइनों को दोहरा किया गया है। इन योजनाओं पर लगभग ४००० करोड़ रुपया व्यय किया गया है। चतुर्थ योजना में रेलों के विकास के लिए १५२५ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गयी है।

सड़कों की लम्बाई—भी इसी अवधि में लगभग ४ लाख किलोमीटर से बढ़ कर १० लाख किलोमीटर हो गयी है। इसमें लगभग एक तिहाई पक्की सड़कें हैं।

१९५०-५१ में कुल २·२६ करोड़ हेक्टर भूमि में सिंचाई की सुविधा थी जो बढ़कर लगभग ४ करोड़ हेक्टर हो गयी है। इस सुविधा के कारण ही पंजाब, हरियाणा तथा अन्य भागों में ही हरित क्रान्ति सम्भव हो सकी है।

बिजली की पूर्ति में भी बहुत तेजी से वृद्धि हो सकी है। १९५१ में केवल ६०० करोड़ किलोवाट घण्टे बिजली उत्पन्न की जाती थी जिसकी मात्रा बढ़कर लगभग ५२०० करोड़ किलोवाट घण्टे हो गयी है। देश के लगभग ७५००० ग्राम बिजली के प्रकाश से जगमगा उठे हैं। बिजली की पूर्ति में वृद्धि होने से भी सिंचाई के साधनों तथा औद्योगिक विकास में बहुत सहायता मिली है।

(२) कृषि—लोक क्षेत्र द्वारा कृषि साधनों के विकास के लिए अत्यधिक प्रयत्न किये गये हैं। १९५१-५२ में देश में कुल २७००० टन रासायनिक खाद उत्पादन की जाता थी जिसकी मात्रा १९६९-७० में लगभग १० लाख टन हो गयी। इसी प्रकार ट्रैक्टरों का उपयोग ही योजना काल में आरम्भ किया गया। सिंचाई की सुविधाओं का विस्तार किया (जिसका ब्योरा ऊपर आ गया है)। अनाज का उत्पादन ५ करोड़ टन से बढ़कर १० करोड़ टन हो गया है तथा पटसन, कपास एवं अन्य वस्तुओं के उत्पादन में भी आशातीत वृद्धि हुई है। इस सारी सफलता के पीछे लोक क्षेत्र का विशेष सहयोग रहा है।

वास्तव में लोक क्षेत्र के प्रोत्साहन तथा सक्रिय सहयोग बिना कृषि के किसी भी क्षेत्र का विकास सम्भव नहीं था।

(३) उद्योग—लोक क्षेत्र का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान उद्योगों के क्षेत्र में है जिसमें इसकी ४३०० करोड़ रुपये से अधिक की पूँजी नियोजित हुई है। उद्योगों के क्षेत्र में अनेकानेक नये उद्योगों की स्थापना और विस्तार किया गया है। पिछले एक अध्याय में उनका विस्तृत ब्यौरा दिया जा चुका है। यहाँ केवल इतना लिखना पर्याप्त है कि लोक क्षेत्र के द्वारा ही इस्पात, भारी इन्जीनियरी, रसायन, बिजली के सामान, रेल के डिब्बे तथा इंजन बनाने, खाद, जन्तुनाशक पदार्थ, खनिज तेल आदि अनेक उद्योगों की स्थापना की गयी है। इन उद्योगों से उत्पन्न माल की सहायता से निजी क्षेत्र में अनेक प्रकार की छोटी-बड़ी इकाइयाँ स्थापित की गयी हैं जिनसे देश में औद्योगिक विकास का वातावरण तैयार हो गया है।

(४) बैंकिंग—लोक क्षेत्र के २२ व्यापारिक बैंकों ने कृषि, लघु उद्योग, निर्यात तथा व्यापार के विकास के लिए उदारतापूर्वक ऋण देने आरम्भ कर दिये हैं। १९७० के अन्त में इन बैंकों द्वारा खेती के विकास के लिए लगभग ३५५ करोड़ रुपये तथा लघु उद्योगों के लिए लगभग ४६० करोड़ रुपये की रकमें उधार दी हुई थीं। इस आर्थिक सहायता से खेती के विकास तथा लघु उद्योगों के विस्तार में बहुत महत्त्वपूर्ण सहायता मिली है।

(५) वित्तीय संस्थाएँ—लोक क्षेत्र द्वारा निम्नलिखित वित्तीय संस्थाएँ स्थापित की गयी हैं :

(i) कृषि पुनर्वित्त निगम
(ii) भारतीय औद्योगिक विकास निगम
(iii) भारतीय औद्योगिक विकास बैंक
(iv) राज्य वित्त निगम (सब राज्यों में एक एक)

इन संस्थाओं द्वारा कृषि तथा उद्योगों के लिए मध्यम तथा दीर्घकालीन सहायता देकर इन क्षेत्रों में नयी-नयी योजनाओं को कार्यान्वित करने में सहायता की है।

(६) विकास का वातावरण—लोक क्षेत्र के प्रयत्नों से देश में अनेक प्रयोगशालाएँ तथा तकनीकी संस्थानों की स्थापना हुई है। कृषि अनुसन्धान परिषद्, औद्योगिक विकास निगम, कोयला विकास निगम, लगभग ५० नये विश्वविद्यालय, ९ कृषि विश्वविद्यालय, अनेक कालिज तथा शिक्षण संस्थाएँ लोक क्षेत्र के प्रोत्साहन से ही स्थापित हो सकी हैं। चिकित्सा तथा स्वास्थ्य का स्तर बहुत ऊँचा उठा है। इन सब सुविधाओं की वृद्धि से देश में विकास के प्रति जागरूकता बढ़ी है। यह स्वयं में ही एक उपलब्धि कही जा सकती है।

अभ्यास प्रश्न

१ लोक क्षेत्र का भारत के आर्थिक विकास में क्या योगदान रहा है ? स्पष्ट विवेचन कीजिए।